संसारी प्राणियों की अभिलाषा – संसार में हम सब जितने भी जीव हैं सबकी एक ही अभिलाषा है कि दु:ख दूर हों और सुख, शान्ति प्राप्त हो। जितने भी प्रयत्न करता है प्रत्येक जीव, उसका प्रयोजन यही है कि दु:ख न रहे और सुख शान्ति हो। चाहे इस प्रयत्न में वे अपनी ही बरबादी का काम करलें अथवा अपनी आबादी का काम करलें, पर प्रयोजन एक ही है कि दु:ख दूर हों और सुख, शान्ति प्राप्त हो। यह अभिलाषा क्यों हुई? उसका कारण ही एक यही है कि ये सब जीव दु:ख में पड़े हुए हैं। यदि ये दु:ख में न होते तो ऐसी अभिलाषा क्यों की जाती कि मेरे दु:ख दूर हों और सुख शान्ति प्राप्त हो। दु:ख है और उन दुखों को सभी कोई अनुभव कर रहे है, पर क्या दु:ख है? इस ही जीवन में बालक अपने बचपन का दु:ख अनुभव किया करते हैं| माँ ने डांट दिया, बाप ने डाँट दिया, कोई सत्कारसूचक वचन नहीं बोलता। ये बच्चे लोग अपने को बड़ा दु:खी अनुभव करते हैं। वैसे दूसरी दृष्टि से देखो तो ऐसा लगता है कि बच्चों को क्या क्लेश है? खेलते हैं, मौज करते हैं, खाना खाते हैं, कमाना नहीं पड़ता है, लेकिन दु:ख का सम्बन्ध बाहरी सुविधाओं से नहीं, किन्तु मन की कल्पना से है। प्रत्येक जीव में घटाते जाइये। बच्चे अपनी तरह की कल्पनायें करके दु:खी हो रहे हैं। बच्चे से बड़े हुए तो उनकी कल्पना का ढंग बदल गया, मगर दु:ख नहीं मिटा। बच्चे यह सोचा करते हैं कि यदि हम भी इन बड़ों की तरह से बड़े होते तो हम भी हुकुम चलाते, इन्हीं के ढंग से रहते, लेकिन जहाँ कुछ बड़े होते हैं तहाँ उनकी कल्पना का ढंग बदल जाता है, मगर दु:ख नहीं मिटता। यों जवानी में देखो तो अनेक दु:ख, बुढ़ापे में देखो तो अनेक दु:ख। यह बात तो इस जरा से जीवन भर की है। मगर हम आपका जो आत्मा है, जिसमें मैं का अनुभव किया करते हैं, जिसमें अपने अस्तित्व का अनुभव किया करते हैं वह करता क्या है? मैंने कभी सुख, शान्ति नहीं प्राप्त की। मैं हूँ। अगर मैं न होता तो बड़ा ही अच्छा था। फिर तो झगड़ा ही क्या? मेरा अस्तित्व है। मैं हूँ और मुझे शान्ति चाहिए। एक आत्मा के ही नाते मैं अमुक जाति, कुल, मजहब का हूँ, ऐसी इज्जत पोजीशन का हूँ आदि सब बातें भूल भालकर बस यही विचारना है कि मुझे तो अपने समस्त दु:ख दूर करना है।

आत्मदया करके सदा के लिए संसार संकटों से मुक्ति पाने का आशय बनाने का अनुरोध – मैं इस भव के इन समस्त दु:खों से परिचित तो हूँ लेकिन जो पशु पक्षी, कीड़ा मकोड़ा आदिक के दु:ख दिख रहे हैं उनकी तो बात सोचिये। आखिर वे भी तो हम आपकी जाति के ही जीव हैं। उनके भी तो चेतना है। जो बात हमारी है वही बात उन समस्त जीवों की है। जो बात इन समस्त जीवों की हो रही है वही बात हम आपको भी हो सकती है। जरा, इस बात पर तो कुछ ध्यान दीजिए।

इतना तो निश्चित है ना कि कोई दिन ऐसा आयगा कि यह शरीर छूट जाएगा, लोग इसे जला देंगे। उस शरीर को लोग घर में थोडी़ देर को भी न रखेंगे। और जो जीव इस शरीर को छोड़कर चला जायगा जरा उस अपने आप पर भी तो कुछ दया करनी चाहिए। उस मेरे का क्या हाल होगा? कहाँ होगा, किस अवस्था में होगा? आज तो ज्ञान पाया, बुद्धि पायी, कुछ भेदविज्ञान कर सकते हैं, संतोष कर सकते हैं। और इतना ही नहीं, संसार के समस्त दु:खों से छूटने का उपाय बना सकते

हैं। आज इतनी उत्तम स्थिति पायी है। और, इस देह के छूटने के बाद ये कीड़ा, मकोड़ा, पशु पक्षी वगैरह, जो दिख रहे हैं वैसे हो गए तो फिर कुछ न बनेगा। फिर तो दु:खों की परम्परा ही बनी रहेगी। तो कुछ अपने आप पर दया करके सोचना है, व्याख्यान नहीं सुनना है और न कुछ व्याख्यान देना है, न कहीं और कोई दुनिया में काम करना है। केवल अपने आपका एक ही मात्र काम पड़ा है कि वह कौन-सी विधि बने कि संसार के मेरे दु:ख खतम हों। केवल एक ही जीवन के दुखों से छूटने का मेरा प्रयोजन नहीं है, न उद्देश्य है। एक ही जीवन के दु:खों से छूटने का कुछ साधन बना लें, कुछ राष्ट्रीय सम्बंध बना लें अथवा कुछ ऐसी और सुविधायें बना लें उसमें हमारी दृष्टि नहीं है। दुनिया में जो होता हो सो हो, जो संकट बीतने हों बीतें, उनसे हमारे आत्मा की कोई बुराई नहीं है। आत्मा की बुराई तो इस बात में है कि ऐसा भीतर में भाव रहता है, कषाय रहती है, अश्रद्धा रहती है कि जिसके कारण जन्ममरण की परम्परा बढ़ती रहती है, चलती रहती है। हमें संसार के इन समस्त संकटों से दूर होना है और यही बात इन सब जीवों के लिए है। जो करेगा वह सुखी हो जायगा, जो न करेगा वह संसार में रुलता रहेगा।

संसरणसंकट से मुक्ति के लिए मुक्त किये जाने वाले निजतत्त्व की आराधना - संसरण-संकट से छूटने के लिए सर्वप्रथम यह संकल्प चाहिए कि मैं अभी तक जो कुछ समझा वह मैं नहीं हूँ। मैं एक गुप्त चेतन हूँ। जाति, कुल, मजहब आदि की बाहरी बातों को छोड़ना होगा और अन्दर में एक आत्मा के नाते से ही बात करना है। यह बात सभी के लिए है बल्कि यहाँ तक कि यदि कोई व्यक्ति जो मजहब में रंगा हुआ अपने को समझ रहा हो तो उसे तो धर्मपालन में बाधा आयगी, वह कर्तव्य से विजयी बने, वह अपनी करतूत से रागद्वेषों को जीतने वाला बने, उसमें तो यह हित पायगा, किन्तु एक अपने आत्मतत्त्व की दृष्टि छोड़कर देह को 'यह मैं आत्मा हूँ', ऐसा मान कर, फिर इस पद्धति से यदि यह भी मान जाय कि मैं जैन हूँ, मैं इस कुल का हूँ, मेरे यह भगवान हैं, बस ये सब बातें उलटी ही उलटी बनती जायेंगी। जैसे नीचे कोई बटलोही औंधी करके रखा दिया तो फिर ऊपरी सारी बटलोही उल्टी-उल्टी ही रखनी होंगी। इसी प्रकार यदि इस देह को 'यह ही मैं हूँ' ऐसा मान लिया तो फिर अपने को चाहे जैन माने, चाहे वैष्णव माने चाहे अन्य किसी भी रूप माने, वे सभी बातें उल्टी होती चली जायेंगी, क्योंकि भीतर में उसके देह का लगाव लगा हुआ है। शरीर में आपाबुद्धि करके फिर आगे की कल्पनायें जब चला रहा है तो उसे शान्ति न प्राप्त होगी। यदि यह इच्छा हुई हो कि मुझे तो संसार के संकटों से सदा के लिए छूटना है तो उसका उपाय बनाना चाहिए। मुझे न नाम चाहिए, न कुल का बड़प्पन चाहिए न अपने नाम का प्रचार चाहिए, न किसी पार्टी का प्रचार चाहिए। मैं तो एक आत्मा हूँ, चेतन हूँ, जन्ममरण के दु:खों से दबा हुआ हूँ। मेरे जन्ममरण की यह परम्परा छूटे और जिसके छूटने से भूख, प्यास इष्टवियोग आदि के क्लेश दूर हो जाते हैं, हमें तो वह उपाय बनाना है। यदि ऐसी वाञ्छा हुई हो तो ऐसा दिल साफ करके बैठें कि मेरा तो यह देह भी नहीं है। मैं तो एक समझने वाला ज्ञानवान पदार्थ हूँ। मेरा काई वैभव नहीं। मेरा तो धेलामात्र भी कहीं कुछ नहीं। मैं तो देह से निराला एक चेतन पदार्थ हूँ, मुझे तो मेरी

दया चाहिए। उसे संकटों से बचाना है। यदि भीतर में यह भाव बने तो समझो कि मनुष्यजीवन सफल है। अन्यथा पशु-पक्षियों के जीवन आयेंगे, उनकी ही तरह यह भी बनेगा।

संसार के क्लेश व उनसे छूटने की जीवों की अभिलाषा-भैया ! यह अभिलाषा सब जीवों में है कि मुझे दु:खों से छूटना है और सुख प्राप्त करना है। दु:खमय यह संसार है। मुझे तो इस दु:खमयी संसार से छूटना है। यह जीव अनादिकाल से ही दु:ख भोगता आया, किसी निश्चित दिन से नहीं। भला क्या कभी कोई ऐसा दिन था जिसके पहिले दिन न हुआ हो? भला, क्या कभी कोई ऐसा भी समय हुआ कि जिसके पीछे कोई समय न रहा हो? नहीं। तो यह समय अनादि काल से है और मेरी सत्ता अनादि काल से है। क्या मैं अपने बारे में जान सकता हूँ कि मैं किस दिन से बना हूँ? मेरी सत्ता कुछ न थी और मैं बन गया। कुछ न था से बन गया। नथिंग से बनता क्या है? मेरी सत्ता अनादि काल से है जब मैं अनादि काल से हूँ तो इस भव से पहले भी मैं कुछ था। क्या था? देख लो, जगत के जीव। इनमें से कुछ था। तो प्रयोजन यह है कि जगत के विभिन्न जीवों के जितने संकट हैं वे सब हम आपने भोगे। पृथ्वी भी जीव है। हम आप भी कभी पृथ्वी बने और खोदे तोडे गए। वहाँ भी दु:ख भोगा। पानी भी जीव है, वहाँ भी गर्म किया गया और अनेक दु:ख भोगे। आग भी जीव है। लोग उसे बुझा देते हैं। हवा भी जीव है। पेड़, पौधे भी जीव हैं। फूल पक्षियों को लोग तोड़ डालते हैं। वहाँ भी जीव ने दु:ख भोगा। लट्, च्यूँटी, भँवरा आदिक हुआ तो वहाँ के दु:ख भोगे। पशुओं के दु:ख की तो कहानी ही क्या कहें? आँखें रोज-रोज देखती हैं। लोग झोटों पर 50-60 मन बोझ लाद देते हैं। उसके कंधे सूझे हूए हैं फिर भी डंडे मार मारकर चलाते हैं। उनके कंधों से खून भी चूता रहता है फिर भी चलने में जरा भी कमी की तो पीटे जाते हैं। जब वे ही झोटे किसी काम लायक नहीं रहते तो लोग उन्हें कसायियों के हाथ बेच डालते हैं, उनकी हत्या कर दी जाती है। ये सब दु:ख हम आपने भी सहे। आज हम आप मनुष्य भव में आये हैं। कुछ पुण्य के उदय से सुख-साधन मिले हैं। तो यहाँ के इस वैभव में लालसा किए हुए हैं। यह मेरा धन, ये मेरे परिजन, यह मेरी इज्जत ऐसा लोग मानते हैं, पर यहाँ के ये लोग भी हैं क्या? ये सब भी हमारी ही तरह दु:खी और जन्म-मरण के प्रेरे हैं। ये सब भी स्वतंत्र सत् हैं। इनसे मुझे मिलता क्या है, इनका मैं कर भी क्या सकता हूँ, लेकिन इन पर पदार्थों के पीछे कल्पनायें करके लोग अपने दु:ख बढ़ा रहे हैं।

श्रेष्ठ नररत्न को पाकर हम लोगों का कर्तव्य—अहो ! श्रेष्ठ मानवजीवन को पाकर भी इस जीव ने मोह, कषाय, पापमय महानीच अधर्म का काम किया। कहाँ तो करने का काम यह था कि अपने ज्ञानानन्दस्वरूप को निरखते हुए तृप्त रहते। सबका अपना – अपना उदय है, सबकी अपनी अपनी बात है। किसी से रंचमात्र भी तो सम्बन्ध नहीं, ऐसा विचार करते। कहाँ तो यह काम था जिस काम से जो स्थिति बनती है उससे किसी दुनिया का उपकार हो। भगवान सकलपरमात्मा याने ऐसे भगवान जिनके अभी शरीर भी लगा हुआ है। तो सशरीर परमात्मा के निमित्त से कितने ही जीवों का उपकार होता है। बड़े-बड़े चक्री, नारायण, प्रतिनारायण आदिक हुए, उन्होंने अपना- अपना लाभ

लिया। इतना ऊँचा यह मनुष्यजीवन है। अगर अपने पर सच्चा दयाभाव आये तो समझिये कि मैं भी वह चेतन हूँ जैसे कि जगत के सभी जीव हैं। जो मेरा स्वरूप है वही सभी जीवों का स्वरूप है, केवल इस नाते से चलना होगा और अपने आपके स्वरूप का परिचय करना होगा तब सुख शान्ति का मार्ग मिलेगा। यदि यह विचार कर बैठे हों और कृतसंकल्प हुए हों कि हमारे दु:ख कैसे दूर हों और वास्तविक सुख, शान्ति कैसे मिले? इसके लिए इतनी बातों का निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। पहिली बात यह कि मैं कौन हूँ? मुझे अपने आपका ही पता न हो तो क्या करूँगा? दूसरी बात यह जाननी होगी कि मुझे छोड़कर बाकी जो दुनिया है यह है क्या, क्योंकि जगत में हमारा फँसाव लगा है। हम सबके बीच रहते, बोलते-चालते हैं। तो यह सब है क्या? तीसरी बात हमें यह जाननी होगी कि मेरा इस जगत से सम्बन्ध है क्या? इसके बाद फिर यह सोचिये कि कौन किसको कैसे क्या करता है? यह सत्य बात क्या है, ये सुख-दु:ख क्या हैं, ये कहाँ से आते हैं, इतनी बातों का निर्णय करना होगा। अब जरा संकल्प करके चलें। जो श्रद्धा से भरे हैं, जो संकल्प से भरपूर हैं, अब कुछ इन बातों पर विचार करना है कि जिससे आप दु:खों से छूटें और सुख शान्ति करें।

संसार की दु:खमयता, सारहीनता व अज्ञानोद्भवता के विचार से शान्तिमार्ग का लाभ – आज यह निर्णय करके जावें कि यह संसार दु:खमय है, यह मनुष्यभव बहुत ही श्रेष्ठ भव है। इसमें हम ऐसा उपाय बना सकते कि संसार के दु:ख सदा के लिए मिट जायें। हमको यही उपाय करना है कि हमें सुख मिले और दु:ख दूर हो, सच्चा मार्ग मिले। और सच्चा मार्ग पाने के लिए ऐसा उपाय बनायें कि मुझे किसी भी प्रकार का आग्रह नहीं। मेरा यह आग्रह नहीं कि यह देह मैं हूँ। फिर कुल का, सम्प्रदाय का, मजहब का, रिश्तेदारी, व्यवहार अथवा सम्बन्ध का नाम का, इज्जत-पोजीशन का, ये जितने भी सम्बन्ध हैं ये सब एक अज्ञान की जड़ पर टिके हुए हैं। अज्ञान की जडें हटायें, और एक अपने आपको मैं एक चेतन हूँ, जीव हूँ, मुझे अपने को सुख-शान्ति में ले जाना है इन सब बातों का विचार करके सुख शान्ति को लिया जायेगा तो एक सुख-शान्ति का मार्ग मिलेगा और इस जीवन का सच्चा लाभ पा लेगा। यह बात करली तो समझो कि आपने सब कुछ कर लिया, और एक यही न कर सके तो आप लोक के नाते से कुछ भी कर डालें, पर समझिये कि कुछ नहीं किया। एक धर्म के नाम पर ऐसा लगता है कि मैं दुनियाँ का उपकार करता हूँ राष्ट्र का हित करता हूँ, देश को यों उठाऊँगा, लेकिन ये सब करना उतना ही आवश्यक है जितना कि जीवन के लिए भोजन आवश्यक है। इसके आगे और आवश्यकता नहीं हैं। कहीं राष्ट्र, देश आदि आपका नहीं है, राष्ट्र और देश की तो बात क्या, यह देह भी तो आपका नहीं हैं। यह मानवजीवन मिलना बड़ा दुर्लभ हैं। हाँ देश में, राष्ट्र में एक जीने के नाते से ये सभी बातें चाहिए। ये सब जीने के साधन हैं, न कि परिग्रह। तो सभी प्रकार के आग्रहों को छोड़कर एक आत्मा के नाते से बात सुनो और उसके ही नाते से चिन्तन कीजिए। उसका करना ही एक अच्छा कार्य होगा।

सांसारिक सुखों की आकुलता व्याप्ति होने से हेयता – इस जीव ने अपने आप में यह निर्णय किया है कि मुझ पर बड़े दुखों की विडम्बनायें हैं और यह संसार भी विडम्बनाओं से भरपूर है। लोग दुखों से भय करके अन्तर में यह जिज्ञासा करते हैं कि आखिर सुखी होने का उपाय क्या है? दु:ख न चाहिए सुख चाहिए। तब सुख पाने का उपाय क्या है? ऐसा यह जिज्ञासु कई जगह पूछताछ करता है। आखिर एक ज्ञानी पुरुष के पास भी यह पूछ बैठा कि सुख पाने का उपाय क्या है? वहाँ से यह उतर मिला सुख पाने का उपाय मत पूछ। इतनी बात सुनकर वह यह सोचता है कुछ समय कि सुख पाने का उपाय न पूछूँ तो फिर क्या पूछूँ? क्या दुख पाने का उपाय पूछूँ? समाधान मिलता है कि न सुख पाने का उपाय पूछ और न दु:ख पाने का। ये सुख-दु:ख दोनों ही आकुलता से भरे हुए हैं। संसार के सुख और दु:ख दोनों ही आकुलता से भरे हुए हैं, इस रहस्य को जानें अब और निर्णय करें। कल के दिन उन दु:खों के सम्बन्ध में कहा गया कि संसार में दु:ख भरे पडें हुए हैं और उन दुखों से यह जीव घबराकर उनसे छूटना चाहता है, तथा सुख की अभिलाषा करता है। आज कह रहे हैं कि यहाँ सुख भी हेय है।

सांसारिक सुख के वर्णन के प्रसंग में स्पर्शनज सुख की आलोचना –सुख क्या चीज है? पाँच इन्द्रिय और मन के छहों जहाँ राजी हों उसे सुख कहते हैं। इन्द्रिय और मन किसी विषय में राजी हों उसे सुख कहते हैं। जैसे एक स्पर्शन इन्द्रिय का विषय है। ठंड के दिनों में गर्म स्पर्श चाहिए, गर्मी के दिनों में शीत स्पर्श चाहिए। जैसे प्यास बूझने का साधन पानी है। पानी अगर गर्म पीवे तो प्यास बुझती है, ठंडा पीवे तो भी प्यास बुझती है। गर्म पानी पीना लोगों को रुचिकर नहीं है इस कारण गर्म पानी न पीकर ठंडा पानी पीते हैं। यों ठंडा, गर्म, रूखा, चिकना आदिक स्पर्श सुहाता है और उस स्पर्श में यह जीव मौज मानता है। स्पर्शन इन्द्रिय द्‌वारा यह जीव सुख की अभिलाषा करता है लेकिन इन सभी सुखों में आकुलता भरी पड़ी है। उसका प्रमाण यह है कि आकुलता न होती तो यह इन सुखों की चाह क्यों करता? जैसे फोड़ा-फुंसी के लिए मलहम पट्टी। जिसके फोड़ा फुंसी निकली हो उसके मलहम पट्टी की जाती है। जिसके न निकली हो वह मलहम पट्टी क्यों करेगा? इसी तरह समझाया कि जिसको आकुलता नहीं उत्पन्न होती वह इन सुखों की चाह ही क्यों करेगा? ये सुख नहीं हैं, ये तो आकुलता की उत्पत्ति का एक साधन हैं, और काल्पनिक साधन हैं।

सांसारिक सुखों में रसना, घ्राण, चक्षु व कर्णइन्द्रिय के विषयसुखों की आलोचना – रसना इन्द्रिय की चाह में यह नाना प्रकार के रसों को चाहता है। भोजन का सुख यह भी एक क्षणिक सुख है। रोज-रोज भोजन करते हैं और अनेक लोग तो दिन में 5- 6 बार भी भोजन करतें हैं लेकिन भोजन कर-करके कोई शान्त नहीं होता। रोज रोज वही भूख। जैसा भोजन कल किया था वैसा ही भोजन आज भी करेगा और उसी में सुख मानेगा। पर आकुलता जैसी कल थी वैसी ही आज करेगा और उसमें व्यर्थ का सुख मानता है। ये सब सुख दुख से ही भरे हैं। इन सुखों को भूख के सम्बन्ध में भी भोगने वाले की विधि देखिये कि आकुलता भरी पड़ी है। खाने वाला शान्ति से नहीं खाता, उसके कल्पनायें दौड़ती हैं। वह मौज लूटना चाहता है। आकुलता भरी पड़ी है। घ्राणेन्द्रिय का

सुख देखिये – अच्छी सुगंधित बत्ती सूंघ लिया, इसकी क्या आवश्यकता? आवश्यकता है, इच्छा जगी है। आकुलता दूर करने का उपाय उसने यह सोचा है, पर आकुलता दूर करने का उपाय इन सांसारिक सुखों में लगना नहीं है किन्तु भेदविज्ञान करके यह जानना कि मैं जो आत्मा हूँ सो जीव हूँ। मैं खुद ज्ञान और आनन्द से भरपूर हूँ। मुझमें ज्ञान और आनन्दस्वभाव भरा है। ज्ञान और आनन्दस्वभाव से रचा हुआ हूँ। ज्ञान और आनन्द के सिवाय मेरा स्वरूप ही नहीं है। ऐसा जानकर बाह्य समागमों की इच्छा दूर हो और अपने आपके स्वरूप में उसका लगाव हो तो इसे शान्ति मिल सकेगी। बाहरी पदार्थो में लग करके कभी शान्ति किसी को न मिली, न मिल सकेगी। तो ये इन्द्रियजन्य सुख कोई सुख नहीं हैं जिनकी ये संसारी जीव इच्छा किया करते हैं। जैसे आँखों से देखने का सुख। जिस किसी भी चीज को समझ लिया कि यह सुखमयी है उस रूप को देखने की चाह करता है और देखता रहता है, मगर रूप देखने से यदि सुख हो तो यह रूप निरन्तर देखता ही रहे फिर यह आँखें बन्द क्यों करता है? उस रूप को देख करके और पर में क्यों लगता? तो इन इन्द्रियों के सुखों में शान्ति नहीं हैं। कर्णेन्द्रिय का विषय देखिये – कुछ रागभरी बातें सुन ली, उसमें भी क्या आनन्द भरा पड़ा है? उसमें कोई तथ्य की बात नहीं है, लेकिन रागभरी बातें लोग सुनना चाहते है।

सांसारिक सुखों में मनोविषयभोग सम्बन्धी सुखों की आलोचना - मन का विषय तो बड़ा अटपट है। इन इन्द्रिय के विषयों की तो सीमा है। ये दूसरे के विषय में न छिड़ेंगे। आँख नाक का काम नहीं करना चाहती, लेकिन इस मन की तो सीमा नहीं। न जाने क्या-क्या सोचता है, क्या-क्या इच्छायें करता है? यह मन प्रत्येक इन्द्रिय के साथ भी जुटा हुआ है। प्रत्येक इन्द्रिय के साथ सुख चाहता है। और ऐसी दृष्टि से देखो तो यह मन शब्द संस्कृत में नपुंसक लिंग है। जिसका अर्थ यही है कि यह मन खुद नहीं भोगता। ये इन्द्रियाँ भोगती हैं। ऐसा यह मन है कि जिसके विषय की कोई सीमा नहीं है। अब बतलाओ जिन्दगी से जी रहे, गरीब लोग भी जीते हैं और अमीर का भी है जीवन। धनी भी जीता है। हजार हों तो उसमें भी गुजारा होता है। हजार हो तो लाख की और लाख हों तो करोड़ की, करोड़ हों तो और आगे की चाह करता है। प्रतिष्ठा और इज्जत में, जो आज मिली है वह उसमें आगे की चाहता है। उससे कम हो तो दुःखी रहता है। उससे आगे की इच्छा करके दुःखी रहता है। तो मन के विषय की भी कोई सीमा नहीं है। यह भी एक अटपट चीज है। तो इन सुखों में देखिये कि आकुलता भरी पड़ी हुई है। इसमें शान्ति का नाम नहीं है।

सांसारिक क्लेशों का कारण व अपना करतब – संसार में क्लेश क्यों हैं? इसके ही सब उदाहरण हैं कि यह सुख कि आशा किया करता है। सुख की आशा छोड़ दे तो आज क्लेश मिट जाये। सुख की आशा छोड दे, दुःख तो यह चाहता ही नहीं हैं और यह जाने कि मैं देह से भी निराला हूँ, परिजन से न्यारा हूँ, मैं जो विचार करता हूँ उन विचारों से भी न्यारा हूँ। देह को छोड़कर जाऊँगा तो अकेला ही जाऊँगा ▯। मेरा इन समागमों से क्या सम्बन्ध है? एक हिम्मत बताये और इन समागमों से अपना चित्त मोड़े तो वह सुखी हो सकता है। पर इन समागमों में जितना लगे उतना

ही दु:ख के स्थान आयेंगे, दु:ख उठाना पड़ेगा। यह संसार संकटों से भरा है कितने ही संकट ऐसे हैं जो दिखने में अच्छे लगते हैं मगर भीतर में संकट पड़ा हैं। किसी कवि ने तो स्पष्ट बताया है कि सुख से दु:ख में अच्छा है। यह शान्ति की अपेक्षा बात कह रहे हैं। आत्मकल्याण चाहने वाले लोग तो दु:ख का स्वागत करते हैं सुख का नहीं। दु:ख में प्रभु का स्मरण रहता है। दु:ख में अपने आत्मा की सुध रहती है। दु:ख में आत्मकल्याण की वाञ्छा रहती है, पर सांसारिक सुखों को भोगते समय एक ऐसा मदिरापान जैसा नशा रहता है कि आत्महित की बात चित्त में नहीं आती। प्रभु की भक्ति चित्त में नहीं जगती। वह तो सोचता है कि मुझे सुख मिले। कभी कोई कह दे कि भाई धर्म करो तो वह कहता हैं कि धर्म क्या करें, धर्म का फल तो मिल चुका। खूब मौज है। मगर संसार के इन दिखावटी साधनों का क्या करें? ये पर हैं और मिट जाने वाले हैं, इनमें आत्मा का आनन्द नहीं है।

धर्मवात्सल्य बिना संसारविडम्बना - एक कथानक है कि एक राजा रानी थे। तो रानी धर्म में चित्त रखती थी और राजा धर्म से विमुख था। तब रानी ने बहुत–बहुत समझाया कि हे राजन् ! धर्म में चित्त दो। जीव का धर्म ही एक शरण है। धर्म के सिवाय जीव का कोई साथी नहीं। जगत् के ये समागम बिछुड़ेंगे, कोई साथ न देगा। तो राजा का यही उत्तर था कि धर्म का फल तो हमें मिल चुका। अब हमको धर्म करने की क्या जरूरत है? बहुत – बहुत समझाया। एक अच्छे दिन किसी प्रसंग में रानी बोली कि राजन् ! यदि धर्म न करोगे तो तुम मरकर ऊँट बनोगे। कुछ दिन बाद बाद हुआ भी ऐसा ही वह राजा मरकर एक बादशाह के घर ऊँट बना और ऐसा हुआ कि वह रानी भी मरकर उसी बादशाह के घर लड़की बनी। जब लड़की विवाह योग्य हो गई तो उसकी शादी हुई। बहुत कुछ दहेज में दिया गया। उस लड़की की माँ ने यह सोचकर कि ऊँट बहुत सुन्दर, है उसे भी दहेज में दे दिया। बराती लोग सोचने लगे कि ऊँट तो बडा़ ही सुन्दर है, इस पर क्या लादना चाहिए? तो यह निर्णय लिया गया कि जो इस लड़की के कपडे हैं, सामान हैं वह लदे। सो लड़की का सारा सामान लाद दिया। रास्ते में ऊँट को जातिस्मरण हुआ कि हमारे ऊपर तो हमारी ही पूर्वभव की स्त्री के कपड़े लदे हैं। अब इस दु:ख के मारे वह चले नहीं। तो हाँकने वाले डंडे मारें। आखिर वह ऊँट बैठ गया और डंडे सहता गया। इतने में ही उस लड़की को भी जातिस्मरण हो गया। वह जान गई कि यह ऊँट पूर्व भव में मेरा पति था। तब उस लड़की ने उस हाँकने वाले से कहा कि इसे तुम मारो मत। हम इसको समझा देंगे तब चलेगा। तो वह लड़की ऊँट के कान में कहती है कि देखो ! पूर्व भव में हमने तुम्हें बहुत समझाया था कि धर्म करो, धर्म न करोगे तो ऊँट बनोगे। सो देखो तुम्हें ऊँट बनना पड़ा। अब इस समय हम तो यह नहीं कह सकते कि यह पूर्वभव के हमारे पति हैं, इन्हें मत मारो, नहीं तो लोग हमारी हँसी करेंगे। अब तो भलाई इसी में है कि तुम चले चलो, नहीं तो तुम्हारी पिटाई मिट नहीं सकती। और देखो – तुमने व्यर्थ में अपना दुर्लभ मानवजीवन खो दिया था। अब वह मानवजीवन का फल मिट नहीं सकता है। बस उस लड़की की बातों को ऊँट समझ गया और ठीक –ठीक चलने लगा। तो प्रयोजन यह है कि धर्म का शरण लिये बिना आत्मा का भला हो ही नहीं सकता।

आत्मा के एकत्व का अनुभव –भैया ! खूब अच्छी तरह विचार कर लो कि मेरे आत्मा का कोई दूसरा साथी है क्या? कोई साथी नहीं है। मरण के बाद तो कोई साथी होते ही नहीं, पर इस जीवन में भी कोई साथी नहीं है। भला बतालाओ कि कभी कोई रोग हो गया, ज्वर पीड़ा हो गई, अथवा सिरदर्द हो गया या कोई चिन्ता है तो उसको भोगने वाला कोई दूसरा हो सकेगा क्या? भले ही कुछ कारणवश प्रेम भरे वचन बोल दिया, किन्तु जो जिसकी परिणति होती है उसको वह ही अनुभवता है। कोई किसी के सुख अथवा दु:ख अथवा धर्म में साथी नहीं होता। एक कथानक प्रसिद्ध है कि कोई एक नवयुवक राजा साधु हो गए थे। वह जंगल में तपश्चरण कर रहे थे। उस जंगल में से एक राजा गुजरा और देखा कि इस भयानक जंगल में देखो कैसा कोई सुन्दर नवयुवक बैठा हुआ दु:ख सह रहा है? उसे दया आयी और पास में बैठ गया। जब उस साधु ने आँखें खोली तो राजा कहता हैं कि आप यहाँ अकेले बैठे हैं, खाने का प्रबंध नहीं हैं, आप के पास कोई दूसरा साथी भी नहीं हैं फिर आप यहाँ अकेले क्यों पड़े हैं? आपका नाम क्या है? तो वह साधु कहता हैं कि मेरा नाम अनाथी मुनी है। राजा का चित्त भर आया और बोला – महाराज ! अब आप आज से अनाथी नहीं रहे। मैं आपका नाथ बनता हूँ। आप मेरे घर चलिए। तो राजा ने सोचा कि शायद यह सोचते होंगे कि हमें बहका तो नहीं रहे तो राजा बोला कि आप जरा भी संकोच न करें। मैं 500 गाँवों का राजा हूँ, मेरे पास बड़ा मौज है, बड़ा वैभव हैं, बड़ा आराम है। आप मेरे यहाँ आराम से रहेंगे। आप रचंमात्र भी चिन्ता न करें। तो वह मुनि बोलता है - राजन् ऐसा तो पहिलें मैं भी था। तुम्हारे यहाँ जाकर मैं क्या करूँगा? राजा बोला – क्या आप भी पहले हमारी ही तरह राजा थे? हाँ, मैं भी 500 गाँवों का राजा था। फिर आप अपने को अनाथी क्यों कहते हैं। तो मुनि बोले कि सुनो ! जब मैं राजा था तब एक बार मेरे सिर में बड़ा भयानक दर्द हुआ। उस दर्द को मिटाने के लिए बहुत से डाक्टर वैद्य हकीम आदि आये। सभी ने खूब इलाज किया। परिजनो ने भी बड़े प्रेम की टीका करी, पर मेरे उस सिरदर्द को कोई रंचमात्र भी न बाँट सका। तब से मुझे यह ज्ञान जगा कि ओह मैं तो अनाथ हूँ। यहाँ मेरा कोई रक्षक नहीं, मेरा दु:ख रंचमात्र भी कोई भोगने वाला नहीं। बस सब राजपाट छोड़कर यहाँ जंगल में बैठा हूँ और सबसे निराला जो एक ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व है उसकी सुधि मैंने ली। राजा चरणों में गिरकर बोला – धन्य है आपको, और आपका यही मार्ग अच्छा है। तो इस कथानक में बताने की बात केवल इतनी है कि कोई हमारे सुख दु:ख में साथी नहीं है।

आत्मा के एकत्व के उपयोग पर शान्तिविकास की निर्भरता–सारी बातें हमें अकेले ही भोगने पड़ती हैं। जन्म हो तो, मरण हो तो, सुख हो तो, दु:ख हो तो, सभी बातें खुद को ही भोगना पड़ती हैं। कदाचित् दो बच्चे एक साथ ही पैदा हों तो भी एक साथ जन्मे न कहलायेंगे। एक अपनी आयु से जन्मा। दूसरा अपनी आयु से जन्मा। न किसी के साथ जन्म हैं, न मरण, न सुख, दु:ख। सभी अपने-अपने जन्म-मरण सुख-दु:ख आदिक को भोगते हैं। यह संसार जिसका स्थान इतना बड़ा विशाल हैं जिसका वर्णन करने में समझो कि अनन्त है, जिसकी कोई आखिरी नहीं है। इतनी बड़ी

दुनिया में जैसे आज यहाँ उत्पन्न हुए हैं तो इतने बड़े इस संसार में दु:ख कोई नहीं चाहता। सभी सुख चाहते हैं। मगर सुख भी चाह करने की चीज नहीं है। सुख-दु:ख से परे जो आनन्दभाव है वह केवल आत्मा में ही मिलता है दूसरी चीज के सम्बन्ध से नहीं मिलता, दूसरे से रागद्वेष से नहीं मिलता। केवल अपने आपका अकेलापन जितना बढ़ता जायगा, अपने उपयोग में अपने आपका जैसा अकेलापन समाता जायेगा वैसा आनन्द उत्पन्न हो जायेगा। कुछ इससे भी अंदाज कर लीजिए। जब कभी कोई बड़ा दु:खी होता हैं तो बहुत दिनों तक दु:खी होने के बाद आखिर उसे शान्ति कब मिलती हैं? जब वही चित्त में यह निर्णय करने लगता हैं कि मैं तो अकेला हूँ। जितना – जितना अपने अकेलेपन का भाव बढ़ता है उतना ही आनन्द बढ़ता है और जितना समागमों की ओर लगाव बढ़ता है उतना ही क्लेश बढ़ता है। संसार में न सुख पाने की चीज है, न दु:ख। तो न सुख पाने के उपाय में लगना है, न दु:ख पाने के उपायों में लगना है। लगना है आनन्द पाने के उपायों में। तो आज की बातों में यह ध्यान में रखना है कि न तो संसार में दु:ख चाहने की चीज है न सुख, किन्तु आत्मा का अकेलापन जब इसकी समझ में आयगा तो वह आनन्द पाने की चीज है। अब वह आनन्द क्या चीज हैं, उसके सम्बंध में कल बताया जायगा।

विषयपारतन्त्र्य के बिना शान्तिमार्ग के प्रकाश की सहजवृत्ति – प्रंसग पाकर एक बात कुछ विशेष कहना है कि एक भाई साहब ने ऐसी बात रखी कि ऐसा बता दीजिए कि कल किस विषय पर प्रवचन होगा ? तो भाई ! मैं यह कभी भी न बता सकूंगा कि कल मैं किस विषय पर बोलूंगा। बोलने की बात तो मैं कह सकूंगा, पर यह न कह सकूँगा कि कल मैं किस विषय पर बोलूँगा, क्योंकि यह पुस्तक पास में है, थोड़ा परिचय दिया जा सकता है लेकिन यह बात नहीं बतायी जा सकती है। विषय कुछ भी बताने के बाद हमारा बोलना प्राकृतिक न हो पायेगा। उसमें हमें बनावट करनी पड़ेगी, उसका हमें ख्याल रखना होगा और बनावट के बोल निकलेंगे, वह हमारी प्रकृति के अनुकूल नहीं है। विषय केवल एक ही है, सदा के लिए हमारी आकुलता कैसे मिटे, अशान्ति कैसे दूर हो ? अब कोई अन्य विषय बताकर बोलने में हम अपने भावों में प्रसन्न नहीं हो सकते और उसे हम संतोषजनक बता नहीं सकते। इसलिए विषय एक है केवल कि हमें शान्ति चाहिए। हमारे संसार के ये दु:ख मिटें, मुक्ति कैसे प्राप्त हो? भाई ! हमारा विषय सदा के लिए यही हैं। अब वह विषय किसी अन्य पद्धति से आयगा, कभी अन्य पद्धति से। तो विषय बता करके बोलना हमसे अच्छा न बन सकेगा और न हम अपने मनोभाव ही अच्छी प्रकार व्यक्त कर सकेगे।

सत्य सहज आनन्द के लाभ की प्रतिज्ञा–सुख शान्ति के अभिलाषी प्ररूष ने अब तक यह निर्णय किया है कि जगत में जो सुख और दु:ख होते हैं वे दोनों ही बेकार हैं। जैसे दु:ख में आकुलता भरी है। वैसे ही सुख में भी आकुलता भरी है सुख सदा नहीं रहता, दु:ख भी सदा नहीं रहता। बल्कि दु :ख सदा न रहे यह तो इष्ट है, पर सुख सदा न रहे यह अनिष्ट है दुख में प्रभु की सुध रहती है और सांसारिक सुख में प्रभु की सुध भी नहीं रहती। निष्कर्ष यह है कि सुख और दु:ख दोनों ही अहित हैं। इस कारण जैसे कोई दु:ख का उपाय नहीं चाहता इसी तरह सुख का भी उपाय न

चाहना चाहिए। इतनी बात सुनकर किसी जिज्ञासु के चित्त में यह शंका हो सकती है कि सुख भी यदि बुरा है तो फिर शास्त्रों में जो भगवान के अनन्त सुख की महिमा बतायी है वह फिर क्यों बताया ? तो उत्तर में संक्षेप में इतना समझना चाहिए कि जिन ऋषि आचार्यों ने भगवान के गुणों का वर्णन करते समय सुख शब्द से भी कहा हो, भगवान के अनन्त सुख है, तो यह उन आचार्यों ने इन मोहीजनों पर दया करके लिखा हैं। शब्द का जो अर्थ है उसकी दृष्टि से यह बात ठीक नहीं बैठती हैं कि भगवान को कहा जाय कि वे सुखी नहीं हैं किन्तु आनन्दमय हैं। सुख शब्द का अर्थ है – जो इन्द्रिय को सुहावना लगे। भगवान के जब तक शरीर भी रहता हैं तब तक इन्द्रिय का कोई उपयोग नहीं। भगवान के इन्द्रिय सुख नहीं है, वहाँ पर भी अतीन्द्रिय सुख है, आत्मा से उत्पन्न हुआ आनन्द हैं। और शरीर से मुक्त हो जाते हैं फिर उनको कभी शरीर न मिलेगा। वे निकल परमात्मा हो जाते हैं। भगवान के इन्द्रियसुख का साधन नहीं हैं। भगवान को अनन्तसुखी कहना यह यद्यपि आचार्य को भीतर से इष्ट न था। वे जानते थे कि सुख शब्द का अर्थ है वास्तविकता और आनन्द का अर्थ है आत्मीय विशुद्ध आनन्द, लेकिन इन मोही जीवों को सुख शब्द से बड़ा संस्कार लगा हुआ है। वे सुख को बड़ा महत्व देते हैं। उनको समझाने की आवश्यकता हैं तो उनकी ही भाषा में आचार्यों ने बोल दिया कि भगवान अनन्त सुखी हैं। यदि शुद्ध परिभाषा से बोला जाय तो यह बोला जायगा कि भगवान के अनन्त आनन्द हैं। और फिर शास्त्रों में आनन्द शब्द का भी बहुत वर्णन हैं। भगवान शाश्वत आनन्दमय हैं, सच्चिदानन्दमय हैं, ज्ञानानन्दस्वरूप हैं, उनके अविचल आनन्द है। आनन्द शब्द का ही बहुत- बहुत प्रयोग किया गया हैं और उसके लिए शब्द दिया है परमानन्द, सहजानन्द, निजानन्द, चिदानन्द, आत्मीयानन्द आदिक। अनेक बार इनका वर्णन में प्रयोग भी हुआ हैं। तो भगवान के सुख नहीं हैं। किन्तु आनन्द है।

सुख दु:ख और आनन्द की स्थिति की प्रज्ञता का लाभ – आनन्द, सुख और दु:ख इन तीनों में जो अन्तर समझ लेगा वह अपने पर दया करके अपना बड़ा भारी काम कर लेगा। सुख और दु:ख इनमें व्यग्र रहता है यह मनुष्य। सुख में भी आकुलता भोगता है और दु:ख में भी आकुलता भोगता है। एक आत्मा की दृष्टि छोड़कर बाह्य पदार्थों में दृष्टि रखकर जो भी मनुष्य हो, चाहे कोई महा गरीब हो, चाहे कोई राजा महाराजा चक्रवर्ती हो, यहाँ तक कि चाहे कोई गृहस्थावस्था का तीर्थंकर ही क्यों न हो, यदि उसकी बाह्य में यह दृष्टि है तो समझिये कि उस बाहरी लगाव से वह क्लेश मान रहा है। तो अपने बारे में यह निश्चय रखना चाहिए कि मेरा हित इस सांसारिक सुख से नहीं है। सुख की सुविधायें, सुख के साधन, सुख के लिए देह से भी प्रीति रखना आदिक ये सब बेकार हैं। आत्मीय आनन्द पाने के उपाय में लगना चाहिए। सर्वप्रथम इन तीन बातों का अन्तर समझ लेना बहुत जरूरी है। सुख और दु:ख दोनों अहित रूप हैं। और इतनी ही बात नहीं, सुख अहित है और सुख का साधन जो बाहरी चीज़ें हैं वे भी अहितरूप हैं, और सुख का निमित्त जो पुण्यकर्म का उदय है वह भी अहितरूप है और पुण्यकर्म जिस शुभ भाव से बनता है (परोपकार,

करूणा आदिक से) वह शुभ भाव भी जीव के हितरूप नहीं हैं, अहितरूप है। जीव का हित तो केवल ज्ञाता दृष्टा रहनें में हैं, यही आनन्द की स्थिति है।

अपने आप में अपने सर्वस्व का निरीक्षण- भैया ! बहुत सावधानीपूर्वक अपने आप में अपना सर्वस्व निरखिये। प्रथम तो यहाँ मुझे कोई पहिचानने वाला ही नहीं। यह सब भ्रम है कि मुझे ये लोग पहिचानते हैं। इनको मैं जानता हूँ। मैं जो एक स्वतंत्र सत् हूँ, ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ उसको पहिचानने वाला यहाँ कोई नहीं है। और यदि कोई पहिचानने वाला हो तो वह अपने ज्ञान में आ गया, उसका क्या व्यक्तित्व रहा उसकी दृष्टि में, क्योंकि मैं आत्मा हूँ तो सहज ज्ञानस्वरूप किसी कि पहिचान में आ गया तो उसके लिए तो सब समान हैं, सब एक हैं। यह ज्ञान ही स्वरूप है। मैं अलग से क्या रहा? कोई व्यक्ति अलग से क्या रहा? ज्ञाता से ज्ञान से मैं कुछ अलग रहता नहीं। जो ज्ञानी नहीं है वह मुझे पहिचानता नहीं है। जब मुझे कोई यहाँ पहिचानने वाला तक भी नहीं है तो फिर किस लिए इतने विकल्प? किसलिए इतने परिग्रह-संचय की लालसा? किसलिए इतनी नामवरी की चाह? ये सब बातें बेकार हैं। (ये सब मायास्वरूप हैं, पर्यायरूप हैं, विनाशीक हैं, कर्मों के प्रेरे हुए हैं।) आज यहाँ उत्पन्न हो गए हैं, तो इतने मात्र से मेरा क्या सम्बन्ध बना? बहुत बड़े भवितव्य की बात है उनकी जिनको अपने आत्मा के स्वरूप का परिचय हो गया। जिनके कारण घर रहने वाले बच्चे, स्त्री आदिक सबको इस निगाह से तक रहा है कि जैसे जगत के अन्य सब जीव हैं वैसे ही ये घर के भी जीव हैं। जैसे जगत के अन्य नगरों के देशों के पड़ोसियों के जीव कर्मों से बद्ध हैं वैसे ही ये हमारे घर के चार जीव भी कर्म से बद्ध हैं। जैसे जगत के अन्य सभी जीव अपने अपने कर्मोदय से ही सुखी अथवा दुःखी होते रहते हैं वैसे ही ये मेरे घर में रहने वाले चार जीव भी अपने ही कर्मोदय से सुखी अथवा दुःखी होते रहते हैं। जैसे जगत के अन्य जीव अकेले ही जन्मते व मरण करते हैं ऐसे ही ये हमारे घर के जीव भी अकेले ही जन्मे हैं व अकेले ही मरण करके चले जायेंगे। जैसे जगत के अन्य जीवों से मेरा कुछ हित नहीं हो रहा वैसे ही मेरे घर के इन चार जीवों से भी मेरा कुछ हित न होगा।

मेरा हितू एवं शरण - मेरा हित करने में समर्थ केवल मैं ही हूँ, जब मैं ज्ञानज्योति में आऊँगा। दूसरा अन्य कोई मेरा शरण नहीं है और जो ज्ञानज्योतिर्मय है ऐसे सशरीर भगवान अथवा अशरीर भगवान, इनका ध्यान हमारा शरण है। जैसे हम आप चित्त में धन, वैभव, कुटुम्ब, परिजन आदि को बसाये रहते हैं तो उनको चित्त में बसाये रहने से कुछ भी अपना हित नहीं होता। इनके बजाय यदि भगवान के स्वरूप को चित्त में बसाये होते तो उससे एक शान्ति का मार्ग प्राप्त होता, अपना उद्धार होता। तो आप सोच लीजिए कि चित्त में बसाये रखने योग्य ये परिजन, मित्रजन, कुटुम्बीजन आदि हैं या भगवान का स्वरूप? जिन्दगी के दिन तो व्यतीत हो जायेंगे। जीवन हुआ, किसी दिन जन्म लिया, युवक हुए और बूढ़े हो गए। पर कुछ ही दिनों में वह समय भी निकट आने वाला है जब कि यह जीवन भी न रहेगा। यह देह भी छूट जायगी। यह देह जला दीया जायगा। तो इस देह को छोड़कर जाने वाले इस आत्मा का कोई यहाँ साथी रह सकेगा क्या?

अब भी साथी नहीं हैं, आगे क्या साथी होगा? यह सब जान कर चित्त में यह बात जरूर लाना चाहिए कि जिस प्रकार बन सके अपना कल्याण करें। आत्मकल्याण से बढ़कर अन्य कोई भी महत्त्वशाली बात नहीं है। मैं हूँ, जीव हूँ ना कुछ। जो भी पदार्थ होता है वह किसी ना किसी रूप में व्यक्त रहा ही करता है। तो मेरी व्यक्ति कषाय के रूप में रहे, इससे लाभ नहीं, मोह रागद्वेषादिक रूप रहे इससे भी लाभ नहीं, किन्तु मेरी व्यक्ति मेरे स्वरूप के प्रकाश में रहे तो इससे लाभ है, ऐसा जानकर हमें इस आत्मीय आनन्द पाने के उपाय के परिचय में चलना चाहिए।

आनन्द पाने के उपाय परिचय – यहाँ तक साधक ने यह निर्णय किया है कि सांसारिक सुख न तो हितरूप हैं और न दु:ख ही हितरूप हैं, किन्तु आत्मीय आनन्द ही हितरूप है। इस निर्णय के बाद यह प्रबल जिज्ञासा उठना स्वाभाविक है कि तब फिर इस आनन्द को पाने का उपाय क्या है? देखिये – शुद्ध सहज शाश्वत निर्बाध पवित्र स्वाभाविक आनन्द पाने के लिए दो बातों का परिज्ञान करना अत्यन्त आवश्यक है। पहिली बात तो यह है कि जिसको आनन्द चाहिए वह है क्या? किसको आनन्द चाहिए? मुझको चाहिए? ऐसा उत्तर तो झट आ जाता हैं पर जिस मुझको चाहिए वह मैं हूँ क्या, इसका समाधान नहीं कर पाता। जिसको आनन्द चाहिए वह प्रथम तो यह निर्णय करे कि वह मैं हूँ क्या जिसे आनन्द चाहिए। किसी भिखारी को यदि आप कुछ देना चाहते हैं तो उसका परिचय तो पहिले कर ही लेते हैं कि किसको भीख देना है? मुझे अपने आप को आनन्द देना है तो पहिले उसका परिचय तो करूँ जिसको आनन्द देना है अन्यथा तो केवल बात बात ही बन जायेगी, उसका आधार न विदित हो पायगा कि हमें करना क्या हैं? जैसे कभी सहारनपुर में यह घटना घटी कि किसी पुरुष के पास कोई खोटी चवन्नी थी, वह चलती न थी। उसको उसे चलाना था। सो किसी हलवाई की दुकान में गया। वहाँ वह चवन्नी चल गई। उससे उसे सामान भी मिला और कुछ पैसे भी वापस मिले। तो जब वह वापिस लौटा तो मारे खुशी के वह चिल्लाने लगा कि चल गई, चल गई। उसका मतलब तो यही था कि मेरी चवन्नी चल गई, पर वह समय था साम्प्रदायिक झगड़ों का। सो सुनने वाले लोगों ने सोचा कि लड़ाई चल गई, सो सभी दुकानदार अपनी – अपनी दुकानों में ताला लगाकर घर भाग गए। देखिये बात तो क्या थी कि चवन्नी चल गई पर लोगों ने क्या समझ लिया कि लड़ाई चल गई। तो जैसे मूल का पता न रहे तो बात बहुत बढ़ जाय, यों ही समझिये कि यहाँ बात बहुत बढ़ गई और आधार का कुछ पता नहीं। लोग कह उठते कि मुझे सुख चाहिए, पर उन्हें यही पता नहीं कि वस्तुत: किसको सुख चाहिए, सुख किसे चाहिए, आनन्द किसे चाहिए? इसका पता ही नहीं। जब तक मैं अपना पता न कर लूँ तब तक सुख का कोई मार्ग नहीं मिल सकता। इसलिए आनन्द पाने के उपाय की अगर खोज में हैं तो प्रथम यह आवश्यक होगा कि मैं उसे जान जाऊँ जिसे कि आनन्द पाना है। दूसरी बात यह जाननी होगी कि जो चाहिए वह भी क्या हैं? कोई ऐसा बेवकूफ न होगा कि जिसे जो चीज चाहिए उसी का पता न हो। जो चीज चाहिए उसका पता सभी को रहता है। हमको अगर आनन्द चाहिए तो उस आनन्द का भी तो पता होना चाहिए कि वह आनन्द है क्या? जिसे आनन्द चाहिए वह है क्या

और जो आनन्द चाहिये वह है क्या? इन दो बातों का ज्ञान करना आवश्यक है। इसी आधार पर आनन्द पाने के उपाय की बात चल सकती है।

आत्मस्वरूप परिचय का उपक्रम – जब हमें आनन्द पाने के लिये आनन्द व आत्मा के स्वरूप की समझ के लिए चलना है तो प्रथम समझिये कि आत्मा का स्वरूप क्या हैं, मैं क्या हूँ? इसका सीधा उत्तर तो यही है कि मैं वह हूँ जो सदा रहता है। मेरा वह स्वरूप है जो मुझ से कभी छूटता नहीं है। जो मेरा है वह मुझ से कभी अलग होता नहीं। जो मेरा नहीं है वह मुझ से अलग हो जाता है। मैं वह हूँ जो सदा रहता हूँ। यदि अपने बारे मैं यह सोचने लगूं कि मैं तो लुट जाने वाला हूँ, मर जाने वाला हूँ, तो ऐसा मैं कोई पसंद करेगा क्या? कोई ना पसंद करेगा। जो पदार्थ सत् है, है। किसी भी रूप में हो, जो है उसका कभी नाश नहीं होता। मैं हूँ, सदा रहने वाला हूँ और हूँ चैतन्यस्वरूप। मेरा स्वरूप जो मुझ से कभी अलग न हो वही स्वरूप है। देह अलग हो जाय, कषाय अलग हो जाए, विचार वितर्क अलग हो जावें, धन वैभव की तो बात क्या कहें वे तो प्रकट अलग हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं है, किन्तु मेरा स्वरूप है एक चैतन्य जानन, देखन। सो गया कोई पुरुष उसको लोग कहते हैं कि यह कुछ समझ नहीं पा रहा, पर ऐसा बात नहीं हैं। वह अपने अंतरंग में कुछ समझता चला जा रहा है। 5- 6 घंटे को किसी को तेज नींद आ गयी तो उस सोती हुई अवस्था में लोग तो समझते हैं कि अब यह सो रहा है, इसे कुछ भी ज्ञान नहीं है पर ऐसी बात नहीं है। उसमें ज्ञान निरन्तर चल रहा है। सोने वाला चाहे पूछे कि मैं इस समय तो कुछ जान ही नहीं रहा था, सोता रहा, पर ऐसी बात नहीं है। सोने में भी वह निरन्तर जानता ही रहता है। कम से कम इतना तो जानता है कि 6 घंटा सोया। तो आनन्दपूर्वक सोने का उसने अनुभव तो किया। वह जानता ही रहता है। कभी – कभी स्वप्न के रूप में दिखता है वह और है क्या? वह ज्ञान का ही तो एक व्यक्त रूप है। स्वप्न में देखा कि मैं अमुक काम कर रहा हूँ, मैंने बड़ा ही गुण-भरा काम किया। किया तो कुछ भी न था मगर स्वप्न ऐसा दिख गया तो वहाँ बात थी क्या कि ज्ञान उस समय चल रहा था। तो यह ज्ञान इस चैतन्यस्वरूप से कभी अलग नहीं होता। वह ज्ञान मेरा स्वरूप है जिसके कारण यह आत्मा देखता और जानता है। अब आप समझ लीजिए कि जो अपने स्वरूप के चिन्तन में लगता हैं, जो केवल अपने काम से ही मतलब रखता हैं उसे कभी आकुलता नहीं होती।

मात्र जानन-देखन की वृत्ति में लाभ–लोक में जो चतुर पुरुष होते हैं वे यही निर्णय किए हुए है कि मुझे दूसरे से क्या करना है? मुझे तो एक अपने काम से ही मतलब है। जरा परमार्थ से सोचो कि मुझे क्या करना है और से? एक अपने काम से ही काम रहे। मेरा काम है जानन, देखन। बस देख लिया जान लिया, इतने तक ही कोई रहेगा तो वहाँ किसी प्रकार का दु:ख नहीं। जो इतने से अधिक बढ़ा बस वहाँ ही विपत्तियाँ हैं। एक साधु के पास कोई सेठ आया तो साधु ने सेठ से कहा कि तुम भगवान के दर्शन का नियम कर लो। तो सेठ बोला कि महाराज यह बात हमसे तो न बन पायेगी क्योंकि मंदिर हमारे घर से बड़ी दूर पड़ता है। तो साधु बोला-अच्छा यह बताओ कि

तुम्हारे घर के ठीक सामने क्या है? एक कुम्हार का मकान। वहाँ घर से निकलने पर तुम्हें सबसे पहिले क्या दिखता है? एक झोंटा। बस उस झोंटा का चाँद ही देखकर प्रतिदिन देखकर तुम भोजन किया करना। अच्छी बात है। तो घर के सामने झोंटा के चाँद को देखकर वह सेठ रोज भोजन करे। साधु ने यह बात यों इसलिए कहा था कि जरा इसकी आदत तो बने, फिर आगे और बात करेंगे। एक दिन कुम्हार उस झोंटों को बहुत सबेरे खान पर मिट्टी लाने के लिए खेत पर ले गया। काफी दिन चढ़ आया। तो वह सेठ उस कुम्हार के घर गया और पूछा कि झोंटा आज कहाँ गया तो पता लगा कि अमुक जगह खान में है। वह उस खान के पास गया। जब वह सेठ उस खान के निकट पहुंचा तो उसी समय क्या घटना घटी कि उस कुम्हार को खान में कोई अशर्फियों से भरा हंड़ा मिला। खडे होकर यह देखने लगा कि किसी ने देख तो नहीं लिया। तो ज्यों ही कुम्हार खड़ा हुआ त्यों ही सेठ को उस झोंटे का चांद भी दिख गया और वह यह कह लौट पड़ा कि बस-बस देख लिया। उस सेठ का मतलब था कि मुझे जो कुछ देखना था सो देख लिया, पर कुम्हार ने समझा कि सेठ ने मुझे अशर्फियों का हंडा पाते देख लिया। सो कुम्हार बोला–अरे ! सेठ जी सुनो तो। तो सेठ बोला – बस-बस देख लिया। कुम्हार उस अशर्फियों के हंडे को सेठ के घर लाया और बोला के इन अशर्फियों में से कुछ हमें दे दो और कुछ आप ले लो। राजा से न बताना, नहीं तो ये सभी अशर्फियाँ छिन जायेंगी। तो सेठ अब सोचने लगा कि देखो – केवल एक झोंटे के चांद के दर्शन का नियम ले-लेने पर तो इतना धन मिला, यदि प्रभु के दर्शन का नियम ले लिया होता तो न जाने कितना धन मिलता? तो वास्तविक बात यह है कि प्रभु के सत्यस्वरूप का दर्शन हो जाय तो उससे हमें लाभ है। संसार के सर्व सकंट छूट जायें तो इससे बढ़कर लाभ की बात और हमारे लिए क्या हो सकती हैं? यदि आत्मा के सत्यस्वरूप का निर्णय कर लिया जाय तो विदित होगा कि आनन्द क्या है, आनन्द का सत्यस्वरूप क्या है?

आत्मस्वरूप और उसके परिचय का पौरुष – आत्मा का स्वरूप समयसार में कहा है कि जो रूप, रस, गंध, स्पर्शरहित है, किन्तु एक चैतन्यमात्र है, ज्ञानस्वरूप है, जिसका कोई आकार निर्दिष्ट नहीं है वह है आत्मा। आत्मा को समझने के लिए केवल एक ज्ञानस्वरूप का ही विचार करे कि जो ज्ञान ज्ञान हो सो आत्मा है। यों ज्ञानमात्र तत्त्व का ध्यान करें तो अन्य विकल्प छूटकर ज्ञान में केवल ज्ञानस्वरूप रह जाने के कारण जो सहज ही आनन्द का अनुभव होता है उस अनुभव में आत्मा को समझ लेने पर यह भाव बनता है कि अन्य सब बातें बेकार हैं। जीव का हित केवल इस अनुभूति में ही है। सम्यक्त्व होने पर जो बताया गया है कि सहज वैराग्य जगता है जीव को, संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति हो जाती है जीव की। उसका कारण तो यही है कि एक सम्यक्त्व का ऐसा अनुभव जगा है कि जिस अनुभव में उसे अन्य बातें नीरस जंचने लगती हैं। तो यों ज्ञान में ज्ञानामात्र निजस्वरूप अनुभव करने पर जीवों को आत्मा के स्वरूपका स्पष्ट भान होता है तो आनन्द का उपाय समझने के लिए दो बातें जो कही गई थीं– एक तो आत्मा का यथार्थस्वरूप समझ लेना और दूसरा आनन्द का भी स्वरूप समझ लेना, ये दोनों बातें अत्यन्त आवश्यक हैं। तो आत्मा का स्वरूप समझने की बात शब्दों द्वारा संक्षेप में यहाँ कही है लेकिन आत्मा शब्दों से

नहीं समझा जाता यह खुद को ही अपने में ज्ञानरूप पुरूषार्थ करना होगा और उस ज्ञानरूप पुरुषार्थ से, स्व-आचरण से अपना आत्मा विदित होगा। यह सब अपने आपके पुरूषार्थ पर निर्भर है। अन्यथा शब्दों द्वारा जो बताया गया है वह सब संकेत है, संक्षेप है। करना होगा खुद के ही स्वरूप का ज्ञान, ज्ञान में ज्ञानस्वरूप का ही ज्ञान तो उसे अनुभव हो जायेगा कि मैं आत्मा क्या हूँ? शब्दों द्वारा जो ऊपरी ज्ञान करके संतोष कर लेते हैं और भीतर में वास्तविक ज्ञान-पुरूषार्थ नहीं जगता उनको आत्मा का भान नहीं हो सकता। कोई-सा भी कार्य हो, जो एक प्रयोगात्मक है उस कार्य को तो करना ही होगा। जो कार्य प्रयोग द्वारा ही साध्य है उसके लाभ के लिये तो कार्य ही करना होगा, सीखना होगा। वह कार्य मात्र शाब्दिक ज्ञान द्वारा साध्य नहीं है।

प्रयोग बिना मात्र शब्दबोध से कार्यसिद्वि के लाभ का अभाव – शाब्दिक ज्ञान से ही संतोष मानने वालों की ऐसी श्रद्धा होती है, जैसे कि एक उदाहरण है कि एक स्कूल में छात्रों को तैरने की कला सिखाई जा रही थी। तो मास्टर साहब जो खुद भी तैरना नहीं जानते थे, वे पुस्तकों के आधार से सिखा रहे थे – देखो पानी में इस तरह से गिरा जाता है हाथ यों खींचे जाते हैं, पैर यों फटफटाये जाते हैं, यों अनेक बातें तैरने के सम्बंध में सिखा दी गई। कुल 5- 6 माह की कोर्स था। सिखाने के बाद जब उनकी परीक्षा लेने के लिए नदी पर लाये तो सभी लड़कों को एक लाइन से खड़ा कर दिया। कहा देखो – हम १, २, ३ कहेंगे। जब ३ कहें तो तुम सभी विद्यार्थी इस नदी में तैरकर अपनी तैरने की कला का प्रदर्शन करना। जब मास्टर ने १, २ कहकर ३ कहा तो सभी विद्यार्थी नदी में कूद पड़े। मगर वे तैर न सके। नदी में डूबने लगे। अरे ! तैर भी क्यों न सके? तैरने की कला सीखना यह तो एक प्रयोग द्वारा साध्य बात थी, शब्दों द्वारा तैरना कैसे सीख सकते थे। सो जब वे बालक डूबने लगे तो वहाँ के सभी नाविकों ने उन्हें बाहर निकाला और नाविकों ने मास्टर को बहुत डाँटा कि तुमने बडी़ बेवकूफी की। लड़कों को बिना तैरना सिखाये ही नदी में कुदा दिया। तो मास्टर बोला – अजी, हमने 6 माह तक इनको तैरने की कला का सारा कोर्स पढ़ा दिया। ये लोग तैरने की कला के विषय में इतना जानते हैं जितना कि तुम लोग भी नहीं जानते। नाविक लोग मास्टर की बेवकूफी पर हँसने लगे। तो जो प्रयोगसाध्य बात है वह शब्दों द्वारा नहीं सिखाई जा सकती। अभी हम सभी रोज – रोज घर में रोटियाँ बनते हुए देखते हैं। कैसे आटा गूँथा जाता है कैसे बेला जाता है, कैसे सेका जाता है? रोज–रोज देखते हैं, और पूछा जाए तो रोटी बनाने की विधि भी अच्छी प्रकार बतला देंगे, पर कह दिया जाए कि जरा रोटियाँ बनाओ तो कोई न बना पायेंगे। तो जो बात प्रयोग साध्य है वह बात शाब्दिक ज्ञान द्वारा साध्य नहीं है। इसी प्रकार आत्मा का अनुभव भी शाब्दिक ज्ञान द्वारा साध्य नहीं है किन्तु खुद ही अपने हृदय को साफ करके, जगत के पदार्थों को असार जानकर, उनसे उपेक्षाभाव करके अपने ज्ञानस्वरूप को लें तो अनुभव हो सकता है। तो आत्मा के स्वरूप को जानने की बात यों है।

आनन्द के स्वरूप की झाँकी के लिये उत्सुकता – अब दूसरी बात पर विचार करो कि मुझे चाहिए आनन्द। तो उस आनन्द का स्वरूप क्या है? आनन्द का स्वरूप है- सहज अनाकुलता। जहाँ रंच मात्र भी आकुलता नहीं और ऐसी ही निराकुलता की श्रद्धा स्वयं होती है। इसमें पर की अधीनता

नहीं है। केवल एक स्व के आलम्बन से यह एक सहज अनाकुलता का अनुभव होगा। उस सहज अनुभव का ही नाम आनन्द हैं। अनाकुलता होगी कब? जब अनाकुल सहजस्वभाव का ज्ञान हो। यह स्वरूप का आचरण, प्रतीति कब बनेगी? जब हमको यह ज्ञान हो कि मैं अविकार ज्ञानस्वभाव हूँ। जगत के जीवों ने अभी तक सुख की आशा से बहुतों को शरण बनाकर बहुतों से आशा रखी कि मुझे इनसे सुख-शान्ति मिले, लेकिन सबका आश्रय, सबका आलम्बन- ये सब धोखा देने के ही कारण बने। इनसे बरबादी हुई, जन्म मरण की परम्परा बढ़ी, पर शान्ति न मिली। इसने सबका शरण ग्रहण किया पर एक निज का शरण नहीं ग्रहण किया। इसकी दृष्टि में अन्य अनेक जन सुखदाता विदित रहे। ये भाई, मित्रजन, रिश्तेदार लोग मुझे सुख देंगे ऐसी दृष्टि तो रही, पर यह ध्यान कभी नहीं किया कि मैं स्वयं आनन्दस्वभाव हूँ और उस स्वयं का आनन्द ग्रहण करे तो आनन्द प्राप्त होगा अर्थात अपने अविकार स्वभाव का ज्ञान नहीं किया। अविकार स्वभाव यही हुआ कारण सहज परमतत्त्व इसका शरण नहीं लिया। इस ही कारण यह अब तक परदृष्टि रख करके संसार में रुलता रहा।

आनन्द की उपादेयता व सुख दु:ख दोनों की हेयरूपता :- अभी कुछ दिन पहिले यह प्रकरण था कि संसार में सुख दु:ख दोनों ही हेय तत्त्व हैं और इसके कारणभूत, साधनभूत, बाह्य उपायभूत जो इष्ट समागम हैं वे भी हेय हैं। इष्ट का समागम हो तो उसको जरूर दु:ख होगा। भोग भूमि में क्यों सुख बताया गया लौकिक दृष्टि से? वहाँ इष्टवियोग नहीं है। जुगलिया उत्पन्न होते हैं, वहीं दोनों स्त्री पुरूष बनते हैं ऐसी वहाँ की पद्धति है और उनके बच्चे जब उत्पन्न हो गए तब उनकी आयु का अन्त होने लगता है। वहाँ बच्चे गर्भ से बाहर निकले कि पिता को आई छींक और माता को आई जंभाई। तो दोनों गुजर जाते हैं। माता पिता ने बच्चों को नहीं देखा, बच्चों ने माता पिता को नहीं देखा। इसका मतलब यही है कि इष्ट-समागम नहीं हुआ। इष्ट-समागम नहीं हुआ तो बस उन्हें किस बात का दु:ख हो? जिनको इष्ट-समागम होता है उनको अवश्य ही कष्ट भोगना होता है। जो बाहरी पदार्थों के समागम को इष्ट समझते हैं उनको नियम से वियोग होगा। चाहे कोई कितना ही धनिक हो, कैसा ही बुद्धिमान हो पर जो बाहरी समागमों को अपना इष्ट समझेगा उसके दु:ख कोई मेट न सकेगा। उसकी अंतिम दशा यही होगी कि दु:खी होना पड़ेगा। तो यह इष्ट-समागम, जिनके लिए निरन्तर ध्यान बना रहता है वह तो बरबादी का ही साधन है। तो ये सांसरिक सुख जो दु:ख के कारण हैं वे भी हेय हैं, और सुख-दु:ख के निमित्तभूत जो कर्मोदय हैं, पुण्य पाप हैं वे भी हेय हैं, और पुण्य-पाप के कारण जो शुभ-अशुभ भाव हैं, विकार भाव हैं वे भी हेय हैं। तो निष्कर्ष यह निकला कि शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के विकारभाव होते हैं पर के आश्रय से। तो परावलम्बन यह भी हेय है। अर्थ यह निकला कि स्व का आश्रय ही उपादेय है। जब यह जीव अपने इस स्वतंत्र अविकार सहज ज्ञानस्वभाव का ज्ञाता होता हैं तो अपने ही स्वभाव का आश्रय करता हैं। स्वभाव का आश्रय करने से सहज अनाकुलता उत्पन्न होगी और आनन्द जगेगा। यही है आनन्द पाने का उपाय।

आनन्द के परिचय की विशेषता में आनन्द का लाभ – भैया ! जब यह आत्मा सहजस्वभाव का ज्ञाता हो गया तो ज्ञाता होने के साथ ही उसमें यह सहज कला आ जाती है कि अब उसको भोगों की इच्छा नहीं रहती। जब अविकारी ज्ञानस्वभाव का आश्रय करके एक विचित्र अनुपम स्वाधीन सहज आनन्द का अनुभव हो तो उसके सामने अन्य बातें असार जँचती हैं। तो उसको भोग, शरीर आदि की इच्छा न रहेगी। उसका तो सारा उपयोग परिवर्तित हो गया। जो उसका विकार की ओर उपयोग लगा हुआ था वह सब बदल गया। अब उसमें मायाचार नहीं रहा, भोगों की इच्छा नहीं रही। अपने आपके स्वभाव का उसे आश्रय हुआ और सहज अनाकुलता उसके आचरण में आयी। वहाँ जो अनुभव हुआ बस वही आनन्द है। इस आनन्द पाने का उपाय आनन्द का सही स्वरूप जानने से, उसका परिज्ञान करने से ही मिलेगा। इतनी बात सुनकर जिज्ञासु यह पूछता है कि सांसारिक सुख को आनन्द शब्द से क्यों नहीं कहा? तीन शब्द जो बाँटे हैं - सुख, दु:ख और आनन्द। तो सुख तो समझ में आता है कि यह हेय है उसको हम कुछ कुछ मान लेते हैं, क्योंकि इस सुख से पहिले भी विडम्बनायें हैं सुख के बाद भी विडम्बनायें हैं लेकिन इस सुख को आनन्द क्यों नहीं कहते हैं? आखिर भोजन करने वाले पुरूष भी तो कहते हैं कि आज भोजन करनें में बड़ा आनन्द आया। पंचेन्द्रिय के विषयों में रमकर यह जीव कभी-कभी आनन्द शब्द से कह उठता हैं। तो फिर इन सांसरिक सुखों को आनन्द नाम से क्यों नहीं कहा? समाधान में यों समझ लो कि नाम धरने से कुछ भी कह लो। जैसे बहुत से ग़रीबों का नाम लक्ष्मीपति रख दिया जाता हैं और बहुत से सेठों का नाम भी लटोरेमल, खचोरेमल आदि रख दिया जाता है। तो नाम धर लेने से कोई फर्क नहीं है। इन सांसारिक सुखों में आकुलता है और जो सहज आनन्द है उसमें निराकुलता है। वह सहजस्वभाव है। उसके ज्ञान में आकुलता नहीं है।

सांसारिक सुख की पराधीनतादि का प्रदर्शन – सांसारिक सुख पराधीन हैं। यहाँ कितनी ही परदृष्टियों का जमाव किया जाय तब कहीं सांसारिक सुख मिलता है। प्रथम तो इन्द्रियाँ ही पूर्ण मिलना दुर्लभ है। उसमें भी पराधीनता है। अगर जीभ में छाले हैं तो भोजन के स्वाद का आनन्द न मिलेगा। अगर कान बहिरे हैं तो रागरागनी के शब्द सुनने का आनन्द न मिलेगा, यों ही सभी इन्द्रियों की बात है। यों सर्वप्रथम सांसारिक सुख भोगने के लिए इन्द्रियों की बलवत्ता चाहिए। तो इन्द्रियों में बलतत्ता रहे यह भी अपने अधीन नहीं। इसके बाद फिर चाहिए बाह्य वस्तुओं का समागम। जो विषयभूत पदार्थ हैं वे चाहिए तो इसको आनन्द प्राप्त होगा। वे भी अपने अधीन सुयोग है तो हैं, मिल गए तो हो गए, पर उन पर अधिकार नहीं है कि वे हमें मिलेंगे ही। फिर इसके बाद उदय चाहिए अनुकूल। अगर उदय अनुकूल नहीं है तो इन्द्रियाँ भी बलवान हैं, बाह्य साधन हैं, फिर भी उन्हें नहीं भोग सकते। जैसे कोई रईस पुरुष रोगी हो गया तो उसके इन्द्रिय-सुख क्यों नहीं हो पाते कि उदय विपरीत है। इन्द्रियाँ भी हैं, बाह्य साधन भी हैं, सब कुछ होने पर भी चूँकि उदय विपरीत है इस कारण उसे न खाने-पीने का सुख मिलता और न अन्य ही सुख मिल पाते। तो उदय भी अनुकूल चाहिए। वह भी हमारे अधीन नहीं। तो कितनी पराधीनतायें हैं इन सांसारिक सुखों में? इतनी पराधीनता से भरे ये सांसारिक सुख हैं। इन सांसारिक सुखों में

पराधीनता की ही विडम्बना नहीं हैं किन्तु ये सुख विनाशीक हैं। कैसे ? प्रथम तो इनके विनाशीकता को मेटने का उपाय नहीं है क्योंकि कोई सा भी भोग भोग लिया जाय। भोग भोग के समय भी आकुलता है, भोगते ही वे सुख नष्ट हो जाते हैं। किसी भी इन्द्रिय का भोग हो, भोगने के बाद वह सुख खतम हो जाता है। जैसे भोजन किया तो सुख मान लेते हैं, पेट भर गया। भोजन करने के बाद वह सुख प्राप्त होता हैं वह भी मिट जाता है। तो किसी भी इन्द्रिय का सुख हो, भोगने के बाद वह सुख नहीं रहता, यह प्राकृतिक बात है, इसलिए वह सुख नियम से विनाशीक है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियाँ बिगड़ गई, साधन बिगड़ गए, यों भी वे सांसारिक सुख पराधीन हैं और वे विनाशीक हैं। कोई मोही पुरुष अगर इतने पर भी राजी हो जाए कि चलो रहने दो पराधीनता, हम इस पराधीनता की बात को सह लेंगे, पर मुझे तो इन सांसारिक सुखों में मौज मिलता है। मुझे तो ये सांसारिक सुख ही चाहिए, तो उसके लिए समझना होगा कि ये संसार के सुख पराधीन हैं, विनाशीक हैं, इतनी ही बात नहीं, किन्तु वे दुखपूर्ण भी हैं। जितने काल उन सुखों को भोगा जा रहा है उतने काल भी तो अनाकुलता नहीं है। उतने काल भी दु:ख भरा पड़ा हुआ है, परदृष्टि है यह तो एक निरन्तर का दु:ख है।

विषयवेदना की क्षणिक दवा – यह जीव जब अपने स्वभाव से डिग गया और किसी परपदार्थ में इसने अपना मन लगाया तो यह एक सबसे बड़ी भारी विडम्बना है। तो ये संसार के सुख निरन्तर दु:खपूर्ण हैं। प्रसिद्धियाँ कर रखी हैं कि दु:ख तो है मेरूपर्वत बराबर और सुख है राई बराबर, लेकिन वास्तविकता यह है कि इस संसार में राई बराबर भी सुख नहीं हैं। निरन्तर अशान्ति ही रहती है। पसीना आता है मनुष्य को तो उसे ज्वर है, रोग है, आकुलता है, अशान्ति है, वेदना है तभी तो पसीना लेना पड़ता हैं स्वस्थ पुरुष तो पसीना लेने की चाह नहीं करता है। यह वेदना वाला, ज्वरवाला पुरुष तो दो चार रजाई ओढ़कर पसीना लेना चाहता है। इसी तरह ये भोग तब भोगे जाते हैं जब कि भीतर में अशान्ति है, वेदना है। तो ये रोगों की दवा है भोग। औषधि और दवा में अन्तर है। औषधि वह है जो रोग को जड़ से समाप्त कर दे और दवा वह है जो रोगों को दबा दे। तो यह तो रोग की दवा है। जैसे दवा तो थोड़ी देर को रोग को दबा देती है रोग को मिटाती नहीं, इसी तरह ये इन्द्रिय-सुख भोगने से भोग के रोग मिटते नहीं किन्तु दब जाते हैं। भोग भोगकर भोगों की वेदना को नहीं मिटाया जा सकता है। ये भोग भोगे जाते हैं फिर भी इनकी वेदना मिटती नहीं, वेदना कुछ दब जाती हैं। तो ये सब सांसारिक_भोग विपत्ति के ही कारण हैं, ऐसे सांसारिक सुखों को आनन्द शब्द से कहना उचित नहीं है।

आनन्द के परीणमन के प्रंसग में – आनन्द का अर्थ है जो आत्मा में चारों ओर से समृद्धि उत्पन्न कर दे। जो इस आत्मा में आनन्द उत्पन्न कर दे उसका नाम आनन्द है। इन सांसारिक सुखों को आनन्द नहीं कह सकते, लेकिन यह बात न भूलना चाहिए कि अगर शुद्ध आनन्द मिले तो, सुख मिले तो, दु:ख मिले तो ये सब आनन्दशक्ति के ही परिणमन हैं। आत्मा चूँकि आनन्दस्वरूप है तो जो शक्ति है उस शक्ति का कोई परिणमन होना ही चाहिए। तो उस आनन्द शक्ति का विभाव

परिणमन है विकार सुख और दु:ख। और स्वाभाविक परिणाम है आनन्द। तो आनन्द गुण की सुख दु:ख विकृत पर्यायें हैं। किन्तु इन दु:ख सुखों को आनन्द शब्द से नहीं कह सकते। स्व का आलम्बन करने से, अविकार स्वभाव का, आत्मा का आलम्बन लेने से जो स्व में आनन्द जगता है उसको आनन्द कहते हैं। यों आनन्द और इन दो का स्वरूप जानने के बाद यह जीव आनन्द पाने का उपाय करता है।

तत्त्व के सत्य परिचय के लिये द्रव्य गुण पर्याय के परिचय की आवश्यकता - किसी भी समस्या को समझने के लिए तीन बातों का परिज्ञान करना आवश्यक हैं – पदार्थ, पदार्थ की अवस्था, पदार्थ की शक्ति। इन तीनों तत्त्वों को ठीक - ठीक समझे बिना न तो भेदविज्ञान हो सकता और न शान्ति का मार्ग मिल सकता। इन तीन बातों का ज्ञान करना अत्यन्त आवश्यक है। जैसे यहाँ किसी बड़े काम को करने में, जोड़ने में बड़ी तकलीफ भी सहन करते और बड़ा वैभव भी खर्च कर लेते हैं ऐसे ही शान्ति का मार्ग प्राप्त करने के लिए भी तन, मन, धन, वचन आदिक सर्व कुछ भी खर्च करना पड़े तो खर्च करना चाहिए। इतने बड़े लाभ की बात को प्राप्त करने के लिए अगर तन, मन, धन, वचन सर्व कुछ भी खर्च करना पड़े तो वह कौन सी बड़ी चीज है ? एक इस गुत्थी को सुलझा लेना चाहिए जिस गुत्थी के सुलझने के बाद आत्मा को अनन्तकाल तक एक अविनाशी आनन्द प्राप्त हो सकता है। इसी की बात यहाँ कही जा रही है। किसी भी चीज का ज्ञान करने के लिए तीन बातों का ज्ञान करना अत्यन्त आवश्यक है। चीज, चीज की हालत और हालत की शक्ति। चीज न हो तो हालत किसकी बने ? चीज अच्छी तरह से समझ ली जाए। चीज पदार्थ यदि न हो तो जीव की हालत कैसे बनेगी? जैसे कषाय करना, शान्ति रखना, ज्ञान रखना, आनन्द पाना, आदिक जो भी बातें बन रही हैं वे किसमें बन रही हैं? यदि काई पदार्थ न हो तो उसकी हालत भी नहीं होती। जैसे कुछ दार्शनिक कहते हैं कि इस आत्मा की कोई हालत नहीं होती। यह अपरिणामी है, इसकी कोई व्यक्त दिशा ही नहीं होती, और फिर भी जबरदस्ती कहा जा रहा है कि कोई अवस्था नहीं होती, कोई हालत नहीं बनती फिर भी कहते हैं कि जीव कोई चीज है। यदि चीज है तो उसकी कुछ हालत होगी, अवस्था बनेगी, परिणमन होगा। तो यह तीन बातें है – चीज का होना, चीज की हालत होना और चीज की शक्ति होना। जैसे ये दिखने वाले जो पदार्थ हैं इनमें जो रूप है, रंग है, वह तो उनकी हालत है, और जिसकी वह हालत है वह मुख्य चीज है, स्कंध है। चीज का होना और उसकी कोई ना कोई हालात रहना अत्यन्त आवश्यक है। और उस चीज की किस तरह की हालत बनेगी, स्थिती बनेगी, इसका कारण कोई शक्ति हैं। पदार्थ की जैसी शक्ति है, उस प्रकार की अवस्था बनती है। इन तीन बातों को किसी भी चीज के समझने में ध्यान रखना चाहिए – चीज का होना, चीज की हालत का होना और चीज में हालत बनने की शक्ति का रहना।

आत्मा के आनन्द धर्म का परिचय – अब आत्मा में आनन्द गुण की बात चल रही है, आनन्द परिणमन की बात चल रही है कि आत्मा में आनन्द होता है और उस आनन्द की शक्ति आत्मा में है। आत्मा का आनन्दस्वरूप है। आत्मा स्वयं ही आनन्दमय है। दु:ख किसी भी जीव को नहीं हैं, वह भी बनाना पड़ता है पर यह आनन्द तो अपने आप मिलता है। आनन्द बनाना नहीं पड़ता

है क्योंकि आनन्द जीव का स्वरूप हैं। तो इस प्रकरण में यह बात इतनी लम्बी चौड़ी इस विषय की चल रही है कि वह आनन्द आत्मा का गुण है या पर्याय? गुण के मायने शक्तिरूप, पर्याय के मायने हालत। जीव की हालत का नाम है आनन्द ? या जीव की शक्ति का नाम आनन्द है? इस सम्बन्ध में यह निर्णय रखना चाहिए की इस विषय में जो आनन्द का परिणमन होता है उसका भी नाम आनन्द रखा गया है और जीव में जो आनन्द पाने की शक्ति है उसका भी नाम आनन्द है, मगर इसे न भूलना चाहिए कि आनन्द-शक्ति का स्वरूप और है, आनन्दपरिणमन का स्वरूप और है। आत्मा के आनन्द-शक्ति की स्वाधीन परिणति है, उसका नाम आनन्द-पर्याय है, और वह आनन्द-पर्याय जिस शक्ति के कारण प्रकट होती है, उस शक्ति का नाम आनन्द-गुण है। अर्थात् जीव आनन्दमय है। उस अविकारी आनन्दस्वरूप निज तत्त्व की भावना की जाती है और इस भावना के फल में जीवों को सहज आनन्द प्राप्त होता है। उस समय जीव को स्वत: सहज अनाकुलता जगती है। उस अनाकुलता का नाम है आनन्द-पर्याय। हमें चाहिए आनन्द। तो आत्मा का स्वरूप तो समझना है कि हमें चाहिए क्या ? जो चाहिए वह ध्यान में ही न हो और चाहिए चाहिए ऐसी कोई बात कहता फिरे तो वह तो एक उन्मत्त चेष्टा है। हमें क्या चाहिये ? पहिले यह तो दिमाग में लायें। हमें आनन्द चाहिए तो वह आनन्द है क्या चीज ? उस आनन्द के स्वरूप की बात चल रही हैं। जो अनुकूल परिणमन है वह तो है आनन्द-पर्याय और आनन्द-परिणमन होने की जो जीव में शक्ति है वह आनन्द-गुण। जिस-जिस चीज में जो-जो बात प्रकट होती है, निर्णय करना चाहिए कि उस-उस बात के प्रकट होने की शक्ति इसमें है। न हो शक्ति तो बात समझे क्या ?जैसे कागज में फूलों जैसी गंध निकालने का गुण नहीं है तो उसमें वह गुण लाया कहाँ से जाए ? जिस पदार्थ में जैसी योग्यता है उसमें वैसा हो रहा है तो पदार्थ का होना, उसकी अवस्था बनना और उसमें शक्ति का होना, ये तीन बातें किसी पदार्थ की जानकारी के सम्बंध में सबसे पहिले जान लेनी चाहिए। जिन्हें अपने आत्मा का हित करना है उन्हें भी इन बातों को ध्यान में रखना चाहिए–जीव, जीव में आनन्दशक्ति और जीव में आनन्द-परिणमन। आनन्द के मायने शुद्ध परिणमन। सुख-दु:ख से परे निर्विकार अनाकुल परिणमन ज्ञानी जीव को ही प्राप्त हो सकता है। इस आनन्द-परिणमन की शक्ति का नाम आनन्दशक्ति है, और वह आनन्दशक्ति जीव में है। इसके समझते समय इस निष्कर्ष पर आना चाहिए कि अगर आनन्द पाना है तो इसके लिए किसी अन्य को उद्यम न करना होगा, करना होगा स्वयं को ही, परपदार्थों का आश्रय तजना होगा और स्वयं में अपने ज्ञानबल से विश्राम से रह जाना होगा।

आत्मा की आनन्दस्वरूपता – भैया ! आत्मा आनन्दस्वरूप है ही तो उसमें अपने आप आनन्द प्राप्त होगा। आत्मा की आनन्दमयता को जानकर ही अद्वैतवादियों ने बताया है कि 'आनन्दं ब्रह्मणं स्वरूपं'। बह्म का स्वरूप आनन्द है। यद्यपि यह बात सत्य है कि ब्रह्म का स्वरूप आनन्द है पर उनके ब्रह्म का स्वरूप कुछ और ही है। ब्रह्म को एकान्त करके उन्होंने माना है। किसी ने बताया हैं कि ब्रह्मरूप है एक शक्ति। यदि एकान्त करके कहा जाए कि वह शक्ति ही ब्रह्म का रूप है, उसके अन्य असाधारण विशेष चिह्न और नहीं है। जैसे परमाणु को कोई सत्त्व

कहे और रूप, रस, गंध, स्पर्श न स्वीकार करे तो सत्य न ठहरेगा, इसी तरह ब्रह्म का, जीव का स्वरूप कोई सत्य तो कहे किन्तु ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदिक न माने तो सत्य कैसे ठहर सकता है ? साधारण गुण और असाधारण गुण बने रहते हैं पदार्थ में तब पदार्थ की सत्ता बनती है। तो आत्मा आनन्दस्वरूप है। हम यदि परपदार्थों की आशा तज दें और आनन्द का, निज आत्मा का ध्यान करें, आत्मा में ही विश्राम करें, यहाँ ही ज्ञान स्थिर बनायें तो हमें आनन्द प्राप्त होगा, और ऐसा आनन्द प्राप्त होगा जो अग्नि की चिनगारी की तरह समस्त कर्म-ईंधन को भस्म कर देने में समर्थ होता है। वह आनन्द आत्मा की दशा है, और आत्मा की श्रद्धा करने से वह दशा प्राप्त होती है।

आत्मस्वरूप की स्वयं की बरबादी करने में अक्षमता - सर्वप्रथम इस आत्मा को समझना है। आत्मा आकुलतारहित-स्वरूप है। किसी भी पदार्थ का स्वरूप उस पदार्थ के बिगाड़ लिए नहीं है। मेरी सत्ता मेरे बनाये रखने के लिए है। आप कहीं यह शंका न कर दें कि देखो अग्नि का स्वरूप अग्नि मिटाने के लिए है। अग्नि जलती है, जलकर होता क्या है ?अग्नि मिट जाती है | तो भाई अग्नि कोई पदार्थ नहीं है। अग्नि एक परिणमन है। पदार्थ तो पुद्गल परमाणु है। परमाणु का स्वरूप परमाणु को मिटाने के लिए नहीं होता। जीव का स्वरूप जीव के मिटाने के लिए नहीं हो सकता। आकुलता तो जीव की बरबादी है, अनिष्ट है। आकुलता यदि जीव का स्वरूप होता तो आकुलता में जीव प्रसन्न रहता और शान्त रहता। पर ऐसा तो नहीं है जीव का स्वरूप जीव की बरबादी के लिए हो ही नहीं सकता। तो आकुलता जीव का स्वरूप नहीं है। अब यहाँ देखना चाहिए कि मेरा आत्मा आकुलता-रहित है।

बरबादी का हेतुभूत कषायों में आत्मस्वरूपता का अभाव – अब और आगे चलो – क्रोध, मान, माया, लोभादिक जो कषाय-तरंगें जीव में उठती हैं उनके कारण यह जीव अपने वश में नहीं रहता| ये तरंगें क्या जीव का स्वरूप हैं ? ये भी जीव का स्वरूप नहीं हैं। कषाय-तरंगें जिसकी हालत हैं वह तो है, पर कषाय-तरंगें जीव का स्वरूप नहीं हैं। जैसे हवा के चलने से समुद्र में लहरें उठती हैं। पूछा जाए कि लहरें क्या समुद्र का स्वरूप है? तो उत्तर मिलेगा कि लहरें समुद्र का स्वरूप नहीं हैं। यदि लहरें समुद्र का स्वरूप कहलातीं तो जिस काल में लहरें नहीं हैं उस काल में समुद्र मिट जाना चाहिए, क्योंकि तुम ने लहरों को मान लिया समुद्र का स्वरूप। तो ये लहरें समुद्र का स्वरूप नहीं हैं। यद्यपि लहरें जो उठती हैं वे जल की ही हैं, समुद्र की ही हैं लेकिन समुद्र का स्वरूप नहीं हैं। इसी तरह क्रोध, मान, माया, लोभादिक की जो लहरें उठती हैं, वे जीव में उठती हैं, जीव का परिणमन हैं लेकिन ये कषायें जीव का स्वरूप नहीं हैं। कषायें यदि जीव का स्वरूप होती तो कषायें मिटते ही जीव भी मिट जाना चाहिए, पर ऐसा तो नहीं होता। ये तो नैमित्तिक भाव हैं। जैसे कि समुद्र में लहरों का उठना नैमित्तिक है, हवा चलती है तब लहरें बनती हैं, हवा न चली तो लहरें खतम। इसी तरह जब तक परिणमन है तब तक जीव में कषायें हैं, जब परिणमन न रहा तो जीव की कषायें भी न रहीं। तो ये कषाय-तरंगें जीव का स्वरूप नहीं हैं। तो अपना स्वरूप कैसा है ? आकुलतारहित और निस्तरंग।

आनन्दस्वरूप निजतत्त्व को उपयोग में बसाने में आनन्दोपाय की उपलब्धि – यदि अपने ज्ञानस्वभाव को अपने उपयोग में स्थिर बनायें तो बस यही पुरूषार्थ आनन्द पाने का उपाय है। जीव जब-जब किसी कारण दु:खी होता है तो वह बाह्य पदार्थों के राग के कारण दु:खी होता है। किसी परपदार्थ के राग के होने के कारण जब वेदना उत्पन्न होती है तो यह जीव परपदार्थों का समागम जुटाता है, परपदार्थों में दिल लगाता है, परपदार्थों की आशा बनाता है, यह तो दु:ख पाने का ही उपाय है। आनन्द पाने का उपाय तो यह है कि पर पर ही है, विनाशीक है, अतएव इस पर का ध्यान करने से कोई लाभ नहीं। जो पदार्थ मेरे साथ रहेगा ही नहीं, मिट ही जाएगा, अलग हो ही जाएगा उस पदार्थ को चित्त में इतना बसाना, यह तो कोई विवेक की बात नहीं है। एक अपनी ऐसी हिम्मत बना ले कि जब ये परपदार्थ मेरे साथ रहेंगे ही नहीं, मेरे से बिलकुल अलग हैं तो फिर मैं किसी भी परपदार्थ को अपने उपयोग में न रखूँगा, ऐसा जिनका संकल्प बन जाता है, ऐसा जिनका पुरूषार्थ बन जाता है वे ही तो बड़े हैं, वे ही तो कल्याण करते हैं, ऐसा स्वरूप जिनके प्रकट हो जाता है उनको ही बड़ा कहते हैं। तो यह श्रद्धा रखनी होगी कि मेरा आनन्द, मेरा परिणमन, मेरा स्वरूप, निस्तरंग, आकुलतारहित निजस्वरूप का ध्यान करने में मिलेगा। अन्य बाहरी बातों में ध्यान देने में तो पराधीनता से परिश्रम की बात है पर निजस्वरूप का ध्यान तो एक स्वाधीन सहज क्रिया के द्वारा ही सम्भव है। लेकिन यह बात लग रही है कितनी कठिन ? क्या ये मोहीजन हमारा साथ देंगे ? क्या यह रागभाव हमारा साथ निभा देगा? क्या ये परिजन, मित्रजन आदिक हमारा साथ निभा देंगे? एक थोड़े दिनों का जीवन है और स्वप्न जैसी बात है, ये कोई साथ ना देंगे। सार, मंगल, वैभव सब कुछ एक अपने निजस्वभाव में उपयोग की स्थिरता है। अपने उपयोग को अपने ज्ञानस्वभाव में स्थिर करना और ज्ञान को ज्ञान में लगाये रहना यही आनन्द पाने का उपाय है। और इस ही आनन्द पाने के उद्यम में आत्मा का स्वरूप और आनन्द का स्वरूप- ये दोनों बातें बराबर ध्यान में रहनी चाहिए। अत: कहा गया है कि आनन्द पाने के लिए इन दोनों बातों का परिज्ञान करना अत्यन्त आवश्यक है। आनन्द का स्वरूप क्या है और जिसे आनन्द चाहिए उसका स्वरूप क्या है? इन दो बातों के निर्णय में आनन्द का उपाय मिलेगा।

आनन्दधाम निज अन्तस्तत्त्व के परिचय बिना बाह्य विषयों में प्रतिधावन का क्लेश – भैया ! अपने मूल का ही पता न हो तो आनन्द कहीं भी मिलना कठिन हो जायगा। आनन्द बाह्य पदार्थ की ओर भाग-दौड़ मचाने से न मिलेगा। जैसे किसी बालक को किसी ने बहका दिया कि अरे बालक तेरा कान कौवा ले गया। उस बालक ने उसी बात को सत्य मान ली। अब वह बालक एक कौवा के पीछे दौड़ लगाने लगा और रो-रोकर पुकारने लगा, अरे ! मेरा कान कौवा ले गया। किसी समझदार व्यक्ति ने समझाया कि अरे बालक ! कहाँ भागा जा रहा है? कहाँ तेरा कान कौवा ले गया? अरे ! जरा अपने कान को टटोलकर देख तो सही, तेरा कान तो तेरे ही पास है। जरा-सा टटोल कर देखा तो समझ गया, ओह ! मेरा कान तो मेरे ही पास है, अरे ! कहाँ मेरा कान कौवा लिए जा रहा? तो इसी तरह आनन्द पाने की आशा से इन मिथ्यादृष्टियों ने इन्हें बहका दिया कि अरे ! तेरा आनन्द घर में है,स्त्री-पुत्रादिक में है, धन-वैभव में है। अब उस आनन्द की प्राप्ति के

लिए बाह्य में दौड़ लगाता फिरता है पर आनन्द प्राप्त नहीं होता। उसे समझदार ऋषि-संतजन समझाते हैं कि अरे ! तेरा आनन्द तो तेरे ही पास है। जरा अपने अंतरंग को टटोलकर देख तो सही। जरा विश्राम से अपने आप में ठहरकर अपने अंतरंग में टटोलता है तो उसे पता पड़ता है- ओह मेरा आनन्द तो मेरे अन्दर ही भरा पड़ा है। मेरा आनन्द इन बाहरी पदार्थों में कहाँ है ? तो यह आत्मा आनन्दस्वरूप तो है ही, ज्ञानस्वरूप तो है ही। जब ऐसा उसकी समझ में आता है और वह इस ओर प्रयत्न करता है, पर पदार्थों का विकल्प छोड़कर अपने आत्मस्वरूप में उपयोग लगाने का उद्यम करता है तो उसे मालूम होता है कि ओह ! आनन्द तो मेरा स्वरूप ही है, मेरा आनन्द मुझ में ही है। तो आनन्द पाने के उपाय में इन दो बातों का निर्णय करना बहुत आवश्यक है कि मेरे आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है? और जो एक वास्तविक आनन्द है उस आनन्द का वास्तविक स्वरूप क्या है ? इन दो बातों को अपने आप में तकें और प्रसन्न होकर, निर्मल रहकर रहें तो हमारा कल्याण अवश्य होगा और हमें शान्ति व आनन्द प्राप्त होगा।

पर की उपेक्षा में आनन्द-लाभ-आनन्द के पाने के उपाय का चिन्तन चल रहा है। आनन्द इस ही पद्धति से प्राप्त हो सकता है कि आनन्दमय, निर्विकार, सहज शुद्ध, चित्स्वभाव को ज्ञान में लें और अनुभव करें कि मैं तो सहज ज्ञानमात्र हूँ। अन्य समस्त पर पदार्थों का विकल्प तोड़ दें तो इस विधि से सत्य आनन्द की प्राप्ति होती है। यह बात तभी बन सकती है जब कि निज को निज पर को पर जाने, मैं क्या हूँ यह समझ लिया जाय और पर क्या है यह जान लिया जाय? तो इस सत्य आनन्द पाने का उपाय प्राप्त कर सकते हैं। सत्य है अपने स्वभाव में उपयोग की स्थिरता तो मैं अपने स्वभाव में उपयोग की स्थिरता से रह सकूँ, इसका उपाय क्या है? यह एक प्रश्न सामने होता है। इसका निर्णय इसमें ही है की निज पदार्थ का और परपदार्थ का सर्वप्रथम भेदविज्ञान किया जाय। उस निज और पर को यथार्थ जान लेने से अपने आपकी अनाकुलता प्राप्त होगी और परम उदासीनता बनेगी।

बस जान लिया कि यह मैं ज्ञानमय प्रभु हूँ और इससे भिन्न हैं ये समस्त परपदार्थ। परपदार्थ से मुझ में कुछ आता नहीं। निज से परपदार्थ में कुछ जाता नहीं। यदि परपदार्थ से मुझ में कुछ आने लगे तो निज और परपदार्थ, ये भिन्न न रहें। जब निज न रहा और पर न रहा तो फिर जगत में रहा क्या? लेकिन यह सारा जगत बना हुआ है, समस्त परपदार्थ बने हुए हैं, आत्मतत्त्व बना हुआ है तो यह समस्त जगत, समस्त परपदार्थ जो दिखते हैं वही इसका प्रमाण है। पर से निज में कुछ नहीं आता है और निज से पर में कुछ नहीं जाता है। तो जब ऐसा निज और परपदार्थ का यथार्थ भेदविज्ञान होगा तो सहज उदासीनता प्राप्त होगी। पर में अब क्या लगना, पर को चित्त में ज्यादा क्या रखे रहना, ऐसे उदासीनता के परिणाम में यह करना होगा कि अपने स्वभाव में उपयोग स्थिर रह सके तो आनन्द पाने का उपाय है, तब अपने स्वभाव में उपयोग स्थिर हो, इसका उपाय है सहज उदासीनता होना।

परमोपेक्षा अर्थात् वैराग्य-साधक भेदविज्ञान- वैराग्य जगे, इसका उपाय है भेद –विज्ञान करना। निज को निज समझे और पर को पर जाने, इतनी बात जब एक साधक के सामने आती है तो

जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि निज क्या कहलाता है और पर क्या कहलाता है? निज में कितने पदार्थ आते हैं और पर में कितने पदार्थ आते हैं? यह घर हमारा है, यह निज का है कि पराया है? ये रिश्तेदार मेरे हैं कि पराये हैं? तो निज में कितने पदार्थ आते हैं और पर में कितने पदार्थ आते हैं ? इसका जब निर्णय करने बैठेंगे और पदार्थ क्या कहलाता है इसका निर्णय करने बैठेंगे तो यह समझ में आयेगा कि निज में तो केवल एक मैं ही आता हूँ और परपदार्थ में एक निज छोड़कर बाकी जितने जगत के जीव, पुद्गल आदि हैं वे सभी आते हैं। तो निज हुआ यह मैं एक, शेष सभी सत् पर हैं। इस भेदविज्ञान के बल से सहज वैराग्य उदित होता है।

प्राणी की विडम्बना का आधार देहात्मबुद्धि- भैया ! जब कभी कोई विपत्ति आती है तो समस्त पर का ख्याल छोड़कर एक निज की और झुकने लगता है प्राणी, जिसमें कि अहं का बोध होता है। जिससे यह शिक्षा लेना चाहिये कि आपत्ति आने पर सर्व परको छोड़ दे और एक निज को बचाले, लेकिन मोही प्राणी पर को निज मानते हैं। जैसे कहा जाता है कि बंदरिया को अपना बच्चा इतना प्यारा होता है कि यदि उसका बच्चा मर भी जावे तो भी उसे काफी दिनों तक पेट से चिपकाये फिरती है। जब कभी किसी नदी में बाढ़ आने के कारण वह वृक्ष पानी से घिर जाता है जिस पर बंदरिया चढ़ी थी और पानी इतना चढ़ आया कि वृक्ष भी डूबने लगा, वह स्वयं भी डूबने लगी तो वह अपने बच्चे को बचाने के लिए बच्चे को अपने दोनों हाथों लेकर ऊपर उठा देती है। इतना प्रेम होता है उस बंदरिया को अपने बच्चे से। परन्तु जब वह खुद ही डूबने को होती है तो वह अपने बच्चे के ऊपर खड़ी होकर अपने प्राणों कि रक्षा करने कि बात सोचती है। तो परपदार्थ से हटकर अपने आपकी ओर आने की तो इस जीव की स्वाभाविक आदत है। इस जीव को सर्वोपरि ममता होती है शरीर से। यों समझिये कि इस शरीर की ममता के ही कारण इस जीव की अन्य परपदार्थों में ममता होती है। इस देह की ममता मिट जाये तो पर की ममता मिट जाय। कितने ही लोग तो कहते हैं कि हमें अपने शरीर से ममता नहीं है। हम तो अपने देश से ममता करते है। लेकिन यह कहना व्यर्थ है। जैसे कोई योद्धा देश में छिड़े हुए युद्ध में देश की रक्षा के लिए लड़ता है और वह युद्ध में मारा भी जाता है तो लोग उसे कहते है कि देखो उस योद्धा को अपने देह से ममता न थी, उसे तो अपने देश से ममता थी, पर ऐसा कहना गलत है। अरे ! देह से ममता क्यों नहीं थी? उसने इस देह को ही मान रखा था कि यह मैं हूँ और इस मेरे का नाम होगा कि अमुक वीर ने देश के लिए अपने प्राण भी न्यौछावर कर दिए। तो यह देह से ममता नहीं है तो फिर और है क्या? उसने अपने आत्मस्वरूप को पहिचाना नहीं। इस देह को ही उसने मैं समझ लिया और उस देह के नाम के लिए ही अपने प्राणों को न्यौछावर कर दिया।

सत्य अर्थ की शुद्धता – मुझमें तो केवल एक आत्मा ही है। इसके अतिरिक्त अन्य सब पर हैं। चाहे चेतन हो या अचेतन एक मुझ आत्मा को छोड़कर अन्य सब पर हैं। निज को निज और पर को पर जानने की बात कैसे समझ में आये? यह बात भी बहुत मार्के की है। जब तक निज और पर का सही निर्णय न होगा तब तक आनन्द पाने का उपाय न बन सकेगा। निज-पर का निर्णय तभी कर सकेंगे जब कि पदार्थ का सही स्वरूप समझ लें। अपने आप को समझ लें कि यह मैं

आत्मा सहज चैतन्य तो निज है और बाकी समस्त परपदार्थ पर हैं। इसको जानने के लिए पदार्थ का स्वरूप जानें। पदार्थ का मोटा स्वरूप यही है कि यह समझ में आ जाये कि जैसे बाहर में देखते हैं तो चौकी, चटाई, तखत, कपड़े आदिक ये सब खण्ड- खण्ड हो जाते हैं। तो जिसका टुकडा होगा वह पदार्थ नहीं है, वास्तव में पदार्थ उतना होता है जितने का कभी टुकड़ा ना हो सके। उसको कहते हैं एक निज पदार्थ। दिखने वाले पदार्थों में एक पदार्थ उतना है जो एक अणु है, जो किसी प्रकार बनाया नहीं जाता, किन्तु अपने आप प्रकट होता है। आज के विज्ञानवाद में अणु निर्माण की बात चल रही है, अणुबम आदिक जितने हैं उनमें जो वास्तविक अणु है वह किसी प्रकार बनाया नहीं जाता। इस लोक में जो बड़े पदार्थ माने जाते हैं उन्हें लोग अणु मान लेते है पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। वास्तविक अणु वह है जिसका कोई दूसरा टुकड़ा न हो सके। वह अणु सहज है। तो इन दिखने वाले पदार्थों में अणु ही वास्तविक पदार्थ है, और जो ज्ञानवान पदार्थ है, जिनके समझ बनी है उनमें एक पदार्थ कितना होता है? एक पदार्थ उतना होता है जिसका कि दूसरा टुकड़ा न हो सके। कोई यह सोचे कि देखो, छिपकली की पूँछ टूट जाती है तो शरीर का आधा अंग एक जगह पडा़ हुआ तड़फा करता है और दूसरा अंग दूसरी जगह पड़ा तड़फा करता है तो वहाँ तो आत्मा के दो टुकड़े हो गए। तो ऐसी बात नहीं है। वह एक समुद्घात जैसी दशा है। जितनी दूर तक वे दोनों शरीर-खण्ड पडे हुए तड़फ रहे है उतनी दूर तक आत्मा के प्रदेश फैले हुए हैं। जीव एक है पर उसके प्रदेश उतनी दूर तक फैल गए हैं।

अपना अन्त:स्वरूप – अब जरा बाहरी दृष्टि से बात करें कि प्रदेशों से अखण्ड जो यह मैं आत्मा हूँ, देह से निराला केवल एक चैतन्यमात्र उसमें भी वास्तव में मैं क्या हूँ? तो वास्तव में मैं वह हूँ जो मैं कभी मिट नहीं सकता। क्रोध, मान, माया, लोभ ये कषायें तो मिट जाती हैं। कोई निमित्त साधन का आश्रय पाकर कषाय जगी, वह आश्रय मिटा, निमित्त दूर हुआ तो कषाय भी दूर हो गई। इसलिए ये कषाय भी मेरा स्वरूप नहीं। कषायों की इच्छा, प्रतीक्षा ये सब मेरे नैमित्तिक भाव है। मैं हूँ एक चैतन्यमात्र। तो ऐसा चैतन्यमात्र अखण्ड तत्त्व यह मैं हूँ। पदार्थ का स्वरूप है अखण्ड सत् होना और साथ ही साथ अपने आप में, असाधारण गुण में अनादि अनन्त तन्मय रहना। जैसे मेरे जीव का स्वरूप है ज्ञान, तो मैं सदा ज्ञान में रहता हूँ। ज्ञान को छोड़कर कोई एक समय भी नहीं टिक सकता। ज्ञान मेरा स्वरूप है। अगर ज्ञान न रहे तो मैं न रहा। कोई यह सोचे कि यह तो अच्छी बात है, अगर किसी तरह मेरा ज्ञान मिट गया तो मैं मिट जाऊँगा फिर झगड़ा न रहेगा: सो ऐसी बात नहीं है, आत्मा कभी मिटती नहीं है। दृष्टान्त जब- जब दिया जाता है तो जितनी बात के लिए दिया जाता है दृष्टान्त में केवल उतनी ही बात नहीं हैं। दृष्टान्त में सारी बातें मिलती हैं। अगर वृतान्त की सारी बात ले लें तो वह तो टेढ़ी खीर जैसी बात हो जाएगी जैसे एक अंधा पुरूष था, उससे किसी बालक ने कहा कि बाबा जी हम तुम्हें खीर खिलायेंगे। उस बिचारे अंधे ने खीर देखी तो थी नहीं, क्योंकि वह जन्म से अंधा था। सो वह पूछ बैठा की खीर कैसी होती है? तो वह बालक बोला- खीर सफेद होती है। कैसी सफेद? बगले जैसी सफेद। अब उसने बगला भी नहीं देखा था जन्मान्ध होने से। तो पूछा कि बगला कैसा होता है? तो उस बालक ने बूढ़े अंधे

के सामने बगले जैसा टेढ़ा हाथ करके कहा कि ऐसा होता है तो ज्यों ही उस अंधे ने टटोला तो कहा कि मुझे ऐसी टेढ़ी-मेढ़ी खीर न चाहिए जो पेट में गडे। तो बालक को बताने में मूल में गलती कहाँ हुई? बताना तो चाहिए था खीर के गुण, पर वह बता बैठा उसका रंग। तो इस दृष्टान्त का जितनी बात समझाने के लिए कथन था उतनी ही बात समझ लेनी चाहिए। वृतान्त देना था गुण का, न कि आकार का। आकार का वृतान्त दे दिया इसलिए वह टेढ़ी खीर बन गई। तो दृष्टान्त जितनी बात समझने लिए दिया जाता है वहीं तक रखना चाहिए। जैसे अग्नि में उष्णता न रहे तो अग्नि मिट जायगी। इस दृष्टान्त से केवल इतना ही प्रयोजन लेना है, जैसे मान लो कि अग्नि एक पदार्थ है। उसका स्वभाव है उष्णता। तो वह उष्णता तब तक रहेगी जब तक कि अग्नि है। इसी तरह यहाँ देखो तो आत्मा एक पदार्थ है। आत्मा का स्वभाव है चैतन्य, ज्ञानदर्शन। तो आत्मा में ज्ञानदर्शन जब तक रहेगा तब तक है आत्मा। आत्मा अनादि है, ज्ञानदर्शन सदा रहता है। तो आत्मा का स्वरूप वह है जो कभी नहीं मिट सकता। ऐसा स्वरूप यह मैं हूँ और इसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ हैं वे सब पर हैं, चूँकि मैं हूँ तो हूँ के नाते से, जो है वह कभी मिट नहीं सकता।

आत्मा की अविनाशिता – विज्ञान में भी यही बात सिद्धान्त में रखी गई है कि जो है उसकी दशा कैसी ही हो जाय लेकिन पदार्थ है कभी मिट नहीं सकता। चाहे पानी से हवा बन जाए, हवा से पानी बन जाए, लेकिन जो है पदार्थ वह कभी मिट नहीं सकता। मैं हूँ तो मैं अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ता। एक स्वभाव पड़ा हुआ है कि हर समय बनता रहूं, बिगड़ता रहूं और बना रहूं। तो बनने बिगड़ने और बने रहने का हर पदार्थ में स्वभाव पड़ा हुआ है चाहे जीव हो, चाहे अणु हो। यह पदार्थ के स्वरूप की बात चल रही है। केवल कहानी क़िस्सों की बातें सुन कर मन को खुश कर लेने भर से आत्मा का उद्धार न हो जायेगा। खूब दिल लगाकर जब पदार्थ का वास्तविक स्वरूप भलीभाँति समझ लिया जायेगा तो अपनी शान्ति का मार्ग समझ में आ जायगा। संसार में मुक्ति के मार्ग में लग सकने वाले जीव बहुत थोड़े होते हैं। भला बतलावो कि संसार के समस्त संकट सदा के लिए छूट जायें, यह कोई साधारण बात तो नहीं है। यह बात तो बिरले ही ज्ञानी पुरुषों को होगी। तो उन्हीं बिरलों में अपने आप की गिनती क्यों नहीं करा लेते ? भली भाँति समझ लीजिए कि पदार्थ का स्वरूप क्या है ? इससे ध्यान में आएगा कि मैं कितना हूँ और बाकी जितने अन्य जीव पुद्‌गल आदि हैं वे सब अपने अपने में कितने हैं? जैसे अन्य देश के लोग मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं इसी प्रकार घर में आये हुए परिजन भी मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं, यह भली भाँति समझ में आयेगी पदार्थ का स्वरूप समझने से।

आत्मा के उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूपता से प्रयोज्य शिक्षा - तो यह मैं हूँ और इस नाते से उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त हूँ। मैं हर समय बनता रहता हूँ और बिगड़ता रहता हूँ और बना रहता हूँ। जब से मनुष्यभव में हम आपका जन्म हुआ इससे पहिले भी मैं था। जो था वह बिगड़ गया और आज मनुष्य बन गया हूँ। कुछ समय बाद मैं इस मनुष्यभव को छोड़कर जाऊँगा, अन्य किसी पर्याय को धारण करुंगा। इस प्रकार अनेक जन्म-मरण करके यह जीव बनता बिगड़ता रहता है,

संसार मैं भ्रमण करता रहता है, फिर भी बना रहता है। और अब देखिए – इस ही भव में एक ही घर में पहिले बालक था, फिर जवान हुआ, फिर बूढ़ा होगा, तो इसमें भी बनना-बिगड़ना और बना रहना देखा गया। पर मैं एक हूँ। जो बनता, बिगड़ता और बना रहता है वह मैं चैतन्यमात्र पदार्थ हूँ, और इस मुझ का सब कुछ जो मुझ में है वह मुझ से बाहर कभी हो नहीं सकता। और जो मुझ से बाहर है वह त्रिकाल भी मुझ में आ नहीं सकता।

आनन्दस्वरूप आत्मा द्वारा भ्रमवश क्लेशों का आमन्त्रण - भला बतलाओ कि दुख: है कहाँ, लेकिन इस दु:ख से सभी लोग इतने परेशान हैं कि बहुत बहुत समझाया जाने पर भी वे अपने दु:ख को दूर नहीं कर पाते। अब तो अपना एक ऐसा संकल्प करें कि मैं केवल ज्ञान मात्र हूँ, इसके अतिरिक्त अन्य सब चीज़ें विनाशीक हैं। किसी से मुझ में कुछ सम्बन्ध नहीं। बड़े बड़े काम इस जीव ने अभी तक सुख पाने के किए परन्तु वे सभी काम फालतू किए। जिन परपदार्थो में इस जीव का कुछ भी अधिकार नहीं उनसे सुख की आशा करके हर समय अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प करता है। यह जीव घर, द्वार, स्त्री, पुत्रादिक, परिजन को देख-देखकर खुश होता है, उन्हें अपना समझता है, और ये कोई इस जीव के होते हैं नहीं, यह जीव उनके पीछे नाना प्रकार के विकल्प करता है। अरे ! यह जीव जो भी विकल्प करता है जब वे विकल्प भी इसके बनकर नहीं रह पाते तो फिर अन्य की तो बात ही क्या ? लेकिन धर्म के अंतस्तत्त्व के रूचिया ज्ञानी संत जान सकते है कि ये सब बाह्य में दिखने वाली चीज़ें असार हैं, अशरण हैं, बेकार हैं, इनमें चित्त फँसाने से लाभ क्या ? जो कुछ बाह्य में दिख रहा है वह सब फँसाने के लिए प्रलोभन है। इनके प्रलोभन में पड़कर यह जीव आत्मकल्याण के लाभ पाने से वंचित रह जाता है। तो मुक्ति पाने के लिए अपने आपको पहिचानने की सर्वप्रथम आवश्यकता है। मैं क्या हूँ ? एक ज्ञानमात्र पदार्थ हूँ और प्रतिसमय बनता बिगड़ता और बना रहता हूँ। अब यह छटनी करनी होगी कि मैं अपने आपको क्या बनायें रखूँ ? क्या मैं अपने आपको मनुष्य बनाये रहूं ? इसमें भी क्या आराम है? क्या मैं अपने को पशु बनाये रहूं ? इसमें भी क्या आराम है? जो संसार की भवभूतियाँ हैं उनको मिटाऊँ और अपने आपके विशुद्ध ज्ञानानन्द के विकास में आऊं, इस प्रकार अपने को बनाऊँ तो मेरा कल्याण है। मैं हूँ, प्रतिसमय बनता हूँ, बिगड़ता हूँ और बना रहता हूँ, मैं हूँ ज्ञानमात्र। मैं अपने को संसार के संकटों से मिटाऊँ और जो आत्मीय तत्त्व है, शुद्ध विकास है उसे प्रकट करूँ, उसके लिए मुझे करना है और उस पर चलकर हमें आत्मशान्ति प्राप्त करना है।

आनन्द के उपाय में आत्मत्व का चर्चण - आत्मतत्त्व के सम्बंध में पदार्थ के स्वरूप के नाते चर्चा चल रही है। मैं आत्मा सत् हूँ और चैतन्य गुणमय हूँ। पदार्थ में जो अन्य पर्यायें हुआ करती हैं, गुण और पर्याय के समुदाय का नाम सत्त्व है। गुण कहते हैं सत्त्व को और पर्याय कहते हैं परिणमन को। तो आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द और श्रद्धा की प्राप्ति ये 5 बातें विशेष करके जानना है। आत्मा में जानने की शक्ति है, तभी तो यह नाना प्रकार से जानता रहता है। आत्मा में दर्शन की शक्ति है, तभी तो अपने आपका कुछ न कुछ समझ किए रहता है। आत्मा में श्रद्धान् की शक्ति है, तभी तो यह जीव कुछ न कुछ विश्वास बनाये रहता है। चाहे सही विश्वास

बनाये, चाहे झूठा, पर विश्वास रखने की आत्मा में शक्ति है। आत्मा में चारित्रशक्ति है, तो यह आत्मा किसी न किसी बात में रमा रहता है। कोई विषयों में रमें, कषायों में रमें अथवा अपने स्वरूप में रमें, ये इसके रमने की विशेषतायें हैं। स्वभाव में रमण हो या विभाव में, पर कहीं न कहीं रमण करने का स्वभाव इस जीव में पड़ा हुआ है। आत्मा में आनन्दशक्ति है। यह जीव चाहे सुखी हो, चाहे दु:खी हो, अथवा के दु:ख से परे शुद्ध आनन्द में आये, ये सब आनन्दशक्ति के कारण है। ये सुख और दु:ख आनन्दशक्ति के कारण विभावपरिणमन हैं। आत्मा का स्वभावपरिणमन है आनन्द। आत्मशक्ति के बारे में यह विश्लेषण समझना चाहिए। जब आत्मा और आनन्द दोनों का स्वरूप ज्ञात हो तभी आनन्द पाने का उपाय किया जा सकता है।

गुण पर्याय सम्बन्धी सिद्धान्त - अब अन्तर्रहस्य की जानकारी के लिए यह विश्लेषण करना होगा कि गुण और पर्याय ऐसी एक ही चीज है या अन्य – अन्य चीज हैं ? पर्यायपरिणमन हुए इस कारण पर्याय गुण से भिन्न नहीं है जैसे कहते है कि चटाई, चौकी, दरी आदिक, ये सब भिन्न – भिन्न हैं, अणु–अणु भिन्न–भिन्न हैं। एक जीव दूसरे जीव से अत्यन्त भिन्न है। इस तरह से गुण और पर्याय ये एक ही प्रदेश में हैं। आत्मा के जिस प्रदेश में गुण हैं उस ही प्रदेश में पर्याय हैं और जिस गुण की जितनी पर्याय हैं वह उस गुण की अवस्था है। तो जो परिणमन जिस काल में है उस काल में वह परिणमन देह से निराला नहीं है, देह की ही दशा है, शक्ति की ही दशा है। समस्त शक्तियों को एक शब्द से कहा जाय तो उसका नाम पदार्थ है, और पदार्थ की भिन्न – भिन्न शक्तियाँ, भिन्न - भिन्न अवस्थाओं की दृष्टि से विश्लेषण किया जाता तो वे भिन्न नहीं है लेकिन यह जानना कि गुण तो है सामान्य, सदा रहने वाला और जब जो पर्याय होती है वह पर्याय उस समय की है। ज्ञानपरिणमन चलता है तो जो जिस समय ज्ञान में आ रहा है वह शाश्वत न रहा वह बदल जायेगा, फिर दूसरा व्यक्ति ज्ञान में आयेगा, लेकिन यह समस्त ज्ञान बनते रहने की शक्ति जो है, सहजज्ञान जो है वह शाश्वत है, एक है। ज्ञानशक्ति शाश्वत है, और ज्ञानशक्ति के जो परिणमन हैं, जो अवस्थायें हैं, यह जानन बदलता रहता है। इस कारण पर्याय है क्षणिक और गुण है शाश्वत। गुण और पर्याय में काल के भेद से भिन्नता है। गुण तो रहे आत्मा में सदा और पर्याय होती है आत्मा में क्षणिक। तो काल के भेद से भिन्नता समझ में आयी और लक्षण के भेद से भी भिन्नता समझ में आयी। गुण का लक्षण है पदार्थ की शक्ति और पर्याय का लक्षण है पदार्थ की व्यक्ति, एक अवस्था। परिणमन जिसका भिन्न भी है और अभिन्न भी तो पदार्थ जानने के लिए हमें तीन बातें जाननी आवश्यक होंगी। पदार्थ, गुण और पर्याय। पर्याय कहो अथवा द्रव्य कहो तो गुण हुई शक्ति और पर्याय हुई व्यक्ति, और द्रव्य क्या हुआ ? इन समस्त गुणों का जो एक समुदाय है, वह द्रव्य है। द्रव्य शक्ति की अपेक्षा से भिन्न – भिन्न प्रकार के देखे गए हैं, जो पिण्डरूप है वह द्रव्य है। तो यहाँ यह समझना है कि पर्याय गुणों ये कथंचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न है। द्रव्य एक अखण्ड सत् होता है ऐसा श्रद्धान अपने आपसे घटाते जाइये। मैं जीव हूँ और मुझ में जानने देखने और विचार करने की शक्ति है, तभी ये सब काम हो रहे हैं। कभी तो जान रहे हैं, कभी विचार कर रहें, कभी रमण किया करते हैं ।

परमार्थतः अन्तस्तत्त्व की दृष्टव्यता व अवक्तव्यता – मैं जो जीव हूँ उस अपने स्वरूप को कह नहीं सकता। किसी भी पदार्थ के स्वरूप को कभी कहा नहीं जा सकता। केवल कुछ शब्द ही बोले जा सकते। मगर शब्द तो संकेत मात्र करते हैं। स्वरूप समझने के लिए उस संकेत को नहीं पकड़ना है। वह शब्द संकेत जिस तत्त्व के लिए किया जाता है, उस तत्त्व को पकड़ना है न कि शब्द को। जैसे कोई वैद्य एक दो चपरासियों को लेकर किसी जंगल में जड़ी-बूटियाँ दिखाने गया। उस वैद्य के हाथ में एक बेंत था| वह उस बेंत से संकेत करता जाता था – देखो यह अमुक चीज की दवा है, यह अमुक चीज की । तो वहाँ उस बेंत को नहीं देखना है। बेंत तो संकेत के लिए हैं। देखना है दवाओं को। अथवा जैसे माँ अपने बच्चे को अगुंली के इशारे से चन्द्रमा दिखाती है तो वह बच्चा उस चन्द्रमा की ओर देखने लगता है अथवा वैद्य चपरासियों को बेंत के सहारे दवायें दिखाता है तो चपरासी उन दवाओं को देखने लगते हैं। कहीं वह बच्चा अंगुलि से दिखाये जाने पर अगुंली नहीं देखता और न कहीं वे चपरासी बेंत द्वारा दवायें दिखाये जाने पर बेंत नहीं देखते, वह अंगुली और बेंत ये तो सहारा मात्र है। ऐसे ही श्रद्धा, दर्शन, ज्ञान, चरित्र, आनन्द, शक्ति आदि ये सब आत्मज्ञान करने के सहारा हैं। इनके द्वारा आत्मा का परिचय किया जाता है। जब इन शब्दों का सहारा लेकर परिचय करना चाहे तो आत्मा का परिचय किया जाता है। मैं हूँ क्या ? इन समस्त श्रद्धा, दर्शन आदिक शक्तियों का समुदाय। मैं एक अखण्ड अवक्तव्य पदार्थ हूँ। कहने में नहीं आता हूँ। जैसे हम अपने आपको जीव शब्द से कहते हैं तो जीव वह जो प्राणों से जीवे। जो कुछ मैं हूँ समूचा वह जीव शब्द से नहीं जाना जा सकता। मैं ज्ञाता हूँ। ज्ञायक अथवा ज्ञाता इन शब्दों से कहकर भी मैं अपने को पूरा नहीं बता सकता। इस ज्ञान की मुख्यता से मैं अपने को कैसे कह सकूँ ? आत्मा हूँ मैं। आत्मा शब्द कहकर मैं अपने आप को पूरा नहीं बता सकता। अन्तति सततं गच्छति जानाति इति आत्मा। जो निरन्तर जानता रहे उसे आत्मा कहते हैं। तो गुण कहने पर भी एक ज्ञानशक्ति ज्ञानरूप इसका ही तो हम ज्ञान कर सकते। आत्मा शब्द कहकर 'मैं ज्ञानमात्र हूँ' यह नहीं बता सकते। तो आत्मा एक शब्द से किसी को नहीं कहा जा सकता। शब्द जितने हैं वे विशेषण हैं। पदार्थ के कहे जाने वाले शब्द तो यही हैं। ये सब ध्रुव हैं। तो जब इस आत्मा में हम एक-एक गुण की विवक्षा करके निरखते हैं तो इसका नाम गुण है। और जब हम पर्याय पर दृष्टि देते हैं तो मैं यह द्रव्य हूँ। अब आप समझें कि गुण और द्रव्य ये भिन्न – भिन्न वस्तु हैं क्या ? लक्षण की दृष्टि से देखे तो भिन्नता समझ में आती है। लक्षण तो एक होता है, उसमें भिन्नता नहीं होती, पर गुण भिन्न–भिन्न प्रकार के हुआ करते हैं। इतने एक संक्षिप्त कथन के बाद इस निर्णय में आये कि मैं एक आत्मा हूँ। मुझ में अनन्त शक्ति है। जितनी शक्तियाँ है उतनी तरह के परिणमन चल रहे हैं। तो मैं एक द्रव्यगुण पर्यायात्मक हूँ। मैं एक द्रव्य हूँ जैसे मैं एक जाननहार चेतन हूँ उसी प्रकार जगत के समस्त जीव जाननहार चेतन हैं। वे सब एक एक द्रव्य हैं। ऐसे भी द्रव्य हैं जो जानते नहीं।

पदार्थों का विस्तार - अब पदार्थ का संक्षिप्त स्वरूप जानने के बाद यह जिज्ञासा बनायें कि ऐसे द्रव्य हैं कितने, जगत में ? तो जगत में द्रव्य अनन्तानन्त हैं क्योंकि अभी द्रव्य का स्वरूप जो

दिखाया गया हैं उसकी जानकारी हुई है कि जितने गुण-परिणमन होते है, वे द्रव्य नहीं होते। तो जितने परिणमन होंगे उतने द्रव्य। जैसे जब हम सुखी होते हैं तो अकेले ही सुखी होते हैं, घर के अन्य स्त्री पुत्रादिक तो नहीं सुखी हो जाते। उन सभी का परिणमन न्यारा है, मेरा परिणमन न्यारा है।

यही बात बतलाते हैं कि मैं द्रव्य जुदा हूँ। इस तरह तर्केंगे तो अनन्त जीव हैं। इसी तरह से बाहर में जितने जो कुछ पदार्थ हैं, पुद्गल हैं, वे भिन्न – भिन्न हैं। द्रव्य अनन्तानन्त हैं उनसे मेरा कुछ भी सुधार बिगाड़ नहीं होता। वे सभी पदार्थ चेतन हो अथवा अचेतन, सभी पदार्थ मुझ से अत्यन्त भिन्न हैं। कुछ द्रव्य ऐसे होते हैं जिनमें ज्ञानदर्शन नहीं है और कुछ ऐसे होते हैं जिनका यहाँ कुछ भी नहीं है और कुछ होते हैं अचेतन। लेकिन इस प्रकार के भेद करने में हमें पदार्थ के गुण समझ में नहीं आते। उनमें उपादान गुण क्या है, यह समझ में नहीं आया। इस कारण चेतन अचेतन करके दो प्रकार से बताना, यह किसी खास बुद्धि को पैदा करने के लिए है, परंतु परिचय असाधारण गुणों से होता है। अब कोई यों भेद करे कि पदार्थ दो प्रकार के हैं मूर्त और अमूर्त |मूर्त के मायने है कि जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श, आदि पाये जायें लेकिन मूर्तिक कहकर पुद्गल का गुण नहीं बताया जाता। अमूर्त का अर्थ है जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्शादि न हों। यह मूर्त और अमूर्त बताना किसी विशेष बुद्धि के लिए है। पर असाधारण गुण की अपेक्षा से ये गुण जाति नहीं कहे जा सकते। असाधरण गुण की दृष्टि से अनन्तानन्त द्रव्यों को 6 साधारण द्रव्यों में बाँटा जा सकता हैं-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। छोटे – छोटे बच्चों को इतना सा पढ़ा दिया जाता है कि द्रव्य 6 प्रकार के हैं-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। मगर इतना मात्र ज्ञान कर लेने से कही उनका आत्मकल्याण न हो जायगा। यह भी उन बच्चों को सिखा दिया जाता कि देखो ! हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पापों को नहीं करना । ये सब बातें कोई मौलिक नहीं हैं। कितनी ही बातें नाना प्रकार से की जा सकती हैं। झूठे रूप में, हर तरह से ये बातें चल सकती हैं, लेकिन एक मौलिक परिज्ञान करने के लिए यहाँ कहा जा रहा हैं। द्रव्य गुण और पर्यायों को समझे, इससे हम भेदविज्ञान कर सकेंगे। यह तो मैं हूँ और बाकी सब पर पदार्थ हैं।

आनन्दलाभ के लिये निज कारण परमात्मतत्त्व की आज्ञा मानकर उस पर चलने की आवश्यकता - यहाँ हित के मौलिक उपाय की बात इस प्रकार से कही जा रही है। यह बात सुनने में कुछ कठिन लग रही होगी। कोई इन बातों को समझकर ग्रहण कर सके अथवा न ग्रहण कर सके, लेकिन कुछ भी दृष्टि देकर अगर इस प्रकरण को कोई सुने और भेद-विज्ञान कर लेवे तो उसका निश्चय ही भला हो जायेगा।

एक बार बादशाह ने बीरबल से कहा कि यह बताओ कि हमारी प्रजा आज्ञाकारिणी है या नहीं ? तो बीरबल बोले महाराज ! आज्ञाकारिणी है भी और नहीं भी है। नहीं कैसे ?अच्छा हम तुम्हें कल इसकी परीक्षा करके दिखा देंगे। बीरबल ने क्या किया कि वही आंगन में एक बड़ा हौज साफ करवा दिया और सारे राज्य में ऐलान कर दिया कि बादशाह को कल के दिन बहुत दूध चाहिए राज्य के सभी लोग आज रात को एक बजे एक-एक किलो दूध ले आवें। अब क्या था? राज्य के

सभी लोगों ने यह सोच डाला कि बहुत-सा दूध बादशाह के यहाँ जायेगा। एक हम अगर पानी ही वहाँ दे आवे तो कुछ पता न पड़ सकेगा। राज्य के सभी लोगों ने वैसा ही किया। सुबह देखा गया तो सारा हौज केवल पानी से भरा था। तो बादशाह से बताया बीरबल ने कि देखिये महाराज ! जिस प्रजा को आप बड़ी आज्ञाकारिणी समझ रहे थे वह कहाँ आज्ञाकारिणी है? बादशाह उस घटना को देखकर दंग रह गया। तो ऐसा ही समझो कि अगर कोई अपना धर्मात्मापन ऊपरी ऊपरी दिखाता हैं और समझता है कि सभी लोग तो धर्म पाल रहे है एक मैंने अच्छी तरह न पाला तो क्या होगा? यदि ऐसा ही सभी लोग सोच लें तो वह एक बड़ी विडम्बना बन जायेगी। जब सभी ने वैसा ही सोच लिया तो वह तो शून्य बराबर रहा। यदि सभी लोगों में से एक भी व्यक्ति धर्मात्मा बन गया तो भला एक तो वहाँ रहा। उस एक के प्रसंग में दूसरे लोग भी धर्मपालन में आ सकेंगे। तो धर्मपालना किसे है, धर्म है क्या चीज ? इसको समझ लो। धर्म पालना है आत्मा को और धर्म है आत्मा का स्वभाव। आत्मा के अविकार स्वभाव को ज्ञान में लिए रहना, इसी बात के लिए प्रयत्न करना है तभी जीवन की सफलता है। यदि यही एक बात न की, अन्य अनेक बातें करते गए तो उससे जीवन की सफलता नहीं है।

पदार्थों के विविध परिचय का प्रयोजन - एक इस ही बात के लिए यह प्रकरण चल रहा है कि मैं समझूँ कि द्रव्य क्या है, गुण क्या है, पर्याय क्या है ? बताया गया कि द्रव्य 6 जातियों में विभक्त हैं। 5 अथवा 7 जातियों में द्रव्य विभक्त क्यों नहीं हुए ? तो उसका उत्तर यह है कि द्रव्य तो अनन्तानन्त हैं। एक परिणमन दूसरे में न बने तो समझ लो कि वे भिन्न - भिन्न द्रव्य हैं। एक द्रव्य का परिणमन उस ही द्रव्य में रहता है अन्य में नहीं। सभी द्रव्य भिन्न- भिन्न हैं ऐसी ही बात अणुओं की भी है। द्रव्य का अणु अणु भिन्न - भिन्न है। एक द्रव्य का उसमें जितना परिणमन हो सकता है उसे एक जाति मान लो। द्रव्य की अपेक्षा से 6 प्रकार के द्रव्य माने गए हैं। जैसे जीवद्रव्य अनन्तानन्त, पुद्गल अनन्तानन्त, एक धर्मद्रव्य , एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य। जिनका परिणमन सदृश हो सकता है उनको एक जाति में मान लो। जाति की अपेक्षा से जब देखेंगे तो द्रव्य 6 जाति के मिलेगें। जो जाननहार हैं वे जीव कहलाते हैं। जो रस गंध वाले है वे पुद्गल जाति के कहलाते हैं। जो जीव, पुद्गल के चलने में सहायक हो वह एक धर्मद्रव्य है, वह संख्या में भी एक है और जाति में भी एक है। जो जीव पुद्गल के ठहरने में मदद करे वह है अधर्मद्रव्य। वह जाति में भी एक है और संख्या में भी एक है। आकाश जीव और पुद्गल को स्थान देने में सहायक है, वह संख्या में भी एक है और जाति में भी एक है। और असंख्यात कालद्रव्य हैं जो कि जीव, पुद्गल के परिवर्तन करने में सहायक हैं। इस तरह पदार्थों की संख्या जानी, जाति जानी और पर्याय जानी। अब इस निर्णय में आ जायें कि यह मैं आत्मा सर्व से निराला एक द्रव्य हूँ। यही मैं एक मेरा सर्वस्व हूँ। एक इस ही की शरण लेने से मेरे आत्मा का उद्धार है। जगत के अन्य पदार्थों में लगाव रखने से मेरे आत्मा का उद्धार नहीं है।

पदार्थ परिचय का प्राथमिक उपाय, लक्षण, परिचय–पदार्थ के परखने का उपाय है लक्षण का परिज्ञान करना। पदार्थ 6 जाति के बताये गए हैं-जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। ये 6 जाति के पदार्थ इस तरह कहे गए हैं कि जीव–जीव जितने हैं वे सब एक स्वरूप हैं। जीव तथा पुद्‌गल अनन्तानन्त हैं। धर्म, अधर्म, आकाश ये एक-एक हैं और कालद्रव्य असंख्यात हैं। जिनके परिणमन-शक्ति है वे सब एक जाति में पाये जाते हैं। ये 6 जातियों में विभक्त अनन्तानन्त पदार्थ हैं। मिले हुए पदार्थ में से किसी एक पदार्थ को अलग करा देने वाला जो स्वरूप रखा है वह चर्चा का कारण बनता हैं। जीव तथा पुद्‌गल में असाधारण गुण क्या हैं? इसे समझना होगा। असाधारण का अर्थ है कि जो अन्य द्रव्यों में न पाया जाय। जीव में श्रद्धा, दर्शन, ज्ञान, चारित्र और आनन्द आदिक गुण हैं। श्रद्धा - जिस गुण के कारण जीव अपना विश्वास बनाये रखे। ऐसा विश्वास करने का, जानकारी करने का, प्रतिभास करने का गुण केवल जीव में छोड़कर अन्य किसी में न मिलेगा। दर्शन-जिस गुण के कारण यह जीव अपने स्वरूप का स्पर्श कर सके। ज्ञान - जिस गुण के कारण यह जीव अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान कर सके। चारित्र - किसी न किसी में रमण बना रहे उसे चारित्र कहते हैं। यह जीव कहीं न कहीं रमता अवश्य है। भगवान अपने स्वरूप में रम रहे हैं। जो संसारी जीव हैं वे अपने विषय-कषायों में रम रहें हैं। तो चारित्रगुण भी जीव में पाया जाता है अन्य में नहीं इसी प्रकार आनन्द गुण भी जीव में पाया जाता हैं। यह स्पष्ट समझ में आ रहा है कि इन पुद्‌गलों में आनन्दगुण नहीं है। ये पुद्‌गल जल जायें, सड़ जायें, किसी भी स्थिति को प्राप्त हों, उनको कोई तकलीफ नहीं। तो ये असाधारण गुण पुद्‌गल में पाये जाते हैं। रूप , रस , गंध, स्पर्श , ये पुद्‌गल के असाधारण गुण है। ये असाधारण गुण किसी पुद्‌गल में व्यक्त हैं किसी में नहीं। जैसे - हवा - इसमें रूपादिक गुण कहाँ व्यक्त हैं ? जब पदार्थ बदलकर एक दूसरे रूप हो सकते हैं, जल पृथ्वी हो जाय, पृथ्वी जल हो जाय, आदिक परिणमन आपस में एक दूसरे के साथ हो सकते हैं , पुद्‌गल में ये गुण कहीं व्यक्तरूप से हैं और कहीं अव्यक्तरूप से हैं तो इससे सिद्ध होता है कि ये सभी पुद्‌गल रूप, गंध, र्स्पशमय हैं। ये असाधारण गुण होते हैं जो कि सदा पदार्थ में रहते हैं।

किसी के स्वरूप का किसी अन्य में पहुँचने की असंभवता – कभी एक द्रव्य के ये असाधारण गुण दूसरे द्रव्य में नहीं पहुँच सकते। जैसे जीवद्रव्य के जो असाधारण गुण हैं श्रद्धा, दर्शन, ज्ञानादिक वे एक द्रव्य से निकलकर दूसरे द्रव्य में नहीं जाते। इसी तरह एक पुद्‌गल के असाधारण गुण एक पुद्‌गल से निकलकर दूसरे पुद्‌गल में नहीं जाते। जब पदार्थ का स्वरूप इस ढंग से समझ में आ जाता है तो ज्ञानियों का यह संकल्प हो जाता है कि मैं आत्मा तो सर्व से निराला हूँ क्योंकि किसी अन्य द्रव्य से कोई भी चीज मुझमें त्रिकाल नहीं आती और न मैं ही किसी अन्य रूप हो सकता हूँ। एक पदार्थ की कोई भी चीज किसी अन्य पदार्थ में नहीं पहुँचती। धन्य हैं वे जीव जिनका यह निश्चय हो जाय कि किसी भी पदार्थ के गुण, शक्ति, पर्याय किसी अन्य पदार्थ में नहीं पहुँचते। मेरा कहीं कुछ दूसरा है ही नहीं। मेरा मात्र मैं ही हूँ, मैं अपने स्वरूपरूप हूँ, अपने स्वरूप में ही रहता हुआ अपना परिणमन करता हूँ। मेरा स्वरूप है इतना ही मात्र मेरा आत्मा है। इतना जब

निश्चय हो जाता है तो उस जीव को सांसारिक संकटों से मुक्ति प्राप्त करने व शाश्वत आनन्द प्राप्त करने का मार्ग प्राप्त हो जाता हैं। अपना आत्मीय आनन्द पाने के लिए भेदविज्ञान की प्राप्ति अत्यन्त आवश्यक है।

बाह्य समागम के लगाव की विषरूपता – पुण्य के उदय में जो सम्पदा आज प्राप्त हुई है, वह तो मीठा विष है। जैसे मीठा विष खाने में तो मधुर है पर उसका परिणाम कटुक है। इसी तरह ये सांसारिक सुख-समागम भोगने में तो मधुर लगते हैं पर इनका परिणाम कटुक है। इस जीव की सांसारिक सुख-समागम की स्थिति में इस ओर दृष्टि नहीं जाती कि मैं जैसे परिणाम करता हूँ वैसा कर्मबन्ध होता है और उसका फल मुझे अवश्य प्राप्त करना पड़ेगा। ये जीव तो कुछ पुण्योदय की स्थिति पाकर समझ लेते हैं कि हम तो एक खास व्यक्ति हैं। दु:ख तो अन्य लोगों को मिलता है, हमें दु:ख क्यों प्राप्त होगा ? ऐसी धारणा मोही जीवों की होती है। उन्हें यह पता नहीं कि जो कुछ मैं करूँगा उसका फल मुझे ही भोगना होगा। मेरे किए हुए कर्मों का फल उदय में अवश्य आयगा। अपने को इस संसार में अकेला समझकर पदार्थों का स्वरूप निराला निरखकर इस ओर दृष्टि जानी चाहिए कि मैं तो एक अपने आपका ही अधिकारी हूँ, यहाँ मेरा कोई नहीं है। ये सब बातें एक आत्मा के स्वरूप के परिचय से प्राप्त होंगी।

अन्त:परिचय में ही परिचय की सर्वस्वता - एक अन्त:स्वरूप के परिचय की बात यहाँ कही जा रही है। जीव में जो भी गुण पाये जाते हैं वे अन्य पदार्थ में नहीं पाये जाते। पुद्गल के भी जो रूप, रस, गंध, स्पर्शादिक असाधारण गुण हैं वे भी एक पदार्थ से निकलकर दूसरे पदार्थ में नहीं जाते। धर्मद्रव्य का काम है जीव, पुद्गल के चलाने में सहकारी होना, अधर्म द्रव्य का काम है जीव पुद्गल को ठहराने में सहायक होना; आकाशद्रव्य का काम है जीव, पुद्गल को स्थान देना, और असंख्यात कालद्रव्य का काम है जीव, पुद्गल में परिणमाने का काम करना। इस तरह ये असाधारण गुण पदार्थ में पाये जाते हैं। जिस जाति के जो गुण बताये गये हैं वे उस जाति के पदार्थ में पाये जाते हैं न उससे कम हो और न अधिक । इस कारण निज को निज व पर को पर जान लेने से सहज वैराग्य बढ़ता है। किसी भी परपदार्थ से मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं। मैं परपदार्थो को क्यों अपने आप में लूँ ? एक निज का परिचय करना और परपदार्थों को उपयोग से हटाना- इस सहज उदासीनता के कारण जो अपने आप में विश्राम मिलता है वही वास्तविक आनन्द है। अपने आप को आनन्द पाने के लिए अपने को सबसे निराला समझना जरूरी है, और सबसे निराला अपने आपको तब समझ सकते हैं जब सच्चा ज्ञान करे। जितने भी ज्ञान हैं वे ज्ञान भेदविज्ञान के कारण होते हैं, लेकिन सामान्य रूप से यदि जानें कि यह मैं जीव सबसे निराला हूँ, अन्य बाकी समस्त जीव, पुद्गल आदिक परपदार्थ मुझ से अत्यन्त निराले हैं, इतना जान लिया बस समझो कि उसने सारे विश्व को जान लिया। जैसे किसी को सिनेमा देखने की रूचि नहीं है और उससे किसी ने कहा कि भाई सिनेमा देखने चलोगे, तो वह कह देगा कि क्या रखा है वहाँ? मैंने तो यहीं से उस सिनेमा का सारा परिज्ञान कर लिया। तो जिसने जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, इनका स्वरूप अच्छी तरह जान लिया तो उसने समझो विश्व का सब कुछ

जान लिया। वे सभी पदार्थ मुझ से अत्यन्त भिन्न हैं, उनसे मेरा कुछ भी उद्धार नहीं। जिसने निज को निज पर को पर जान लिया उसने समझो सारे विश्व को जान लिया।

आत्मपरिचय करके स्वरूपमग्नता के पौरूष का अनुरोध – भैया ! अपने आत्मा का परिज्ञान करना सबसे आवश्यक कार्य है। यहाँ आत्मा का स्वरूप बताया गया है। यदि अपना जीवन सफल करना है तो यह जानना होगा और निर्णय रखना होगा कि ये धन, वैभव, परिजन, मित्रजन आदि असार हैं, इनसे मेरा कुछ भी हित न होगा, ये मेरे बिगाड़ के ही कारण बनेंगे। मेरा स्वरूप क्या हैं ? मैं चैतन्यमात्र हूँ। जो जीव इस चैतन्यभाव का ही सहारा लेगा, उसको ही दृष्टि में रखेगा तो उसका भला होगा और जो अपने चैतन्यभाव का सहारा न लेकर परपदार्थों में ही दृष्टि रखेगा, परपदार्थों के पीछे ही अपनी दौड़ लगायेगा वह तो विकल्प ही मचाता रहेगा, अपना कल्याण न कर पायेगा। यह बात यदि सत्य हो तो मान लो और असत्य हो तो न मानो। जीव का स्वभाव है कि वह किसी भी बात को स्वयं जान ले। जब घर का कोई बड़ा आदमी बाजार से लौटकर कुछ साग-सब्जी आदि लेकर आता है तो बच्चे लोग दौड़ पड़ते हैं यह जानने के लिए कि थैले के अन्दर क्या है ? अथवा कोई हवाई जहाज ऊपर उड़ रहा हो तो प्रकृत्या सभी की निगाह दौड़ जाती है उसके बारे में जानकारी करने के लिए। तो सभी जीवों में प्रकृत्या जानकारी करने की बात चित्त में रहती है। कोई यदि उल्टी बात भी कहता है जिस बात से किसी दूसरे को कोई मतलब नहीं, कुछ लेना-देना नहीं है फिर भी उस दूसरे के मन में यह चाह बनी रहती है कि इसका हम यथार्थ ज्ञान कर लें। जब प्रत्येक चीज का यथार्थ ज्ञान करने की हम आप में आदत बनी हुई है तो फिर अपने आत्मा का यथार्थ परिज्ञान करने में आलस्य क्यों किया जा रहा हैं ? जीव क्या है? पुद्गल क्या है? दिखने वाले समस्त पदार्थ क्या हैं? इनका स्वरूप क्या है? सबका यथार्थ परिज्ञान तो कर ही लेना चाहिए। एकस्वरूप परिचय की बात कही गई है। यह जीवपदार्थ सत्यज्ञानमय है, चैतन्यस्वरूप है। मैं चैतन्यस्वरूप हूँ पर देखिये - मेरे जितने विचार, विकल्प, वितर्क चलते हैं वे सब मेरे स्वरूप नहीं है। ये तो नैमित्तिक भाव हैं, किसी कार्य से ये उत्पन्न हुए हैं, पर ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। मैं इन समस्त विभावों से, कषायों से अपने आपको न्यारा करके अपने स्वरूप में मग्न होऊँ तो मेरा कल्याण होगा। परपदार्थों के लगाव से तो जीव की बरबादी ही है।

आत्मकल्याण लिये आत्मपरिचय की साधकतमता - अपना कल्याण करने के लिए यह परिज्ञान करना आवश्यक है कि इस मुझ आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है ? इस मुझ आत्मा को जो आनन्द चाहिए वह आनन्द है क्या चीज? इसका यह संक्षेप में विवरण है कि आनन्द से सम्बंधित बातें तीन हुआ करती हैं - दु:ख, सुख और आनन्द। इस दु:ख को तो कोई चाहता ही नहीं। संसार का यह सुख भी आकुलताओं से भरा हुआ है। इस संसारिक सुख में आनन्द नहीं है, वास्तविक शान्ति नहीं है। उस आत्मीय आनन्द का चिन्तवन करने से बहुत कुछ परिचय हो जायगा। आनन्द एक ऐसी चीज है जो ध्रुव है। वह आनन्द है स्वाधीन। अपने आपका परिज्ञान रहना जितना अधिक बनता चला जायगा उतना ही अधिक आनन्द प्राप्त होता चला जायगा। लोग

तो अपना निजी घर बन गया, निजी दुकान हो गई, निजी सारे काम-काज हो गए तो समझ लेते हैं कि हम तो स्वतंत्र है, पर स्वतंत्र हैं कहाँ ? केवल स्वतंत्र अपने को मानते हैं। अरे ! घर, द्वार, कुटुम्ब परिजन आदि जिन परपदार्थों के पीछे लगाव लगा रखा है उससे तो निरन्तर परतंत्रता ही तो बनी रहा करती है। मैं ज्ञानमय हूँ, अपने को ज्ञानस्वरूप ही अनुभव में लिए रहूं तो यह तो है वास्तविक स्वतंत्रता और वास्तविक स्वतंत्रता मिलने पर ही सत्य आनन्द प्राप्त होगा, अन्यथा आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता। स्वरूप की बात तो यह है कि मैं आत्मा हूँ एक अमूर्त, जो कि पकड़ने में नहीं आ सकता, देखने, सूँघने में नहीं आ सकता: जो छेदा, भेदा, जलाया आदि नहीं जा सकता। ये दु:ख-सुख परिणमन होते हैं आत्मा में, पर ये आनन्दगुण के विकृत परिणमन हैं। जब कभी शरीर में कोई फोड़ा हो जाता है तो लोग कह उठते हैं कि हमारे शरीर में इस जगह बड़ा दर्द है, पर वह दर्द शरीर में नहीं है, आत्मा के सर्व प्रदेशों में वह दर्द है। दर्द तो होता है जीव के मगर वह दर्द का दु:ख होता है शरीर में उत्पन्न हुए फोड़ा से। इस कारण उसी पर दृष्टि रखकर कहते हैं कि मेरे शरीर में इस अंग के फोड़े के कारण बड़ा दर्द है। जो यह कहते हैं कि हमारे इस जगह बड़ा दर्द है तो निमित्त पर आरोप करके ऐसा कहते हैं। बहुत से लोग तो ऐसा कहते हैं कि खैर दर्द शरीर में न सही, आत्मा में ही सही। चलो कल्पना से ही। मेरा यह दर्द आत्मा के सर्व प्रदेशों में ही सही। शरीर तो बाह्य पदार्थ है। तो शरीर में दु:ख नहीं होता है और शरीर में सुख नहीं होता है ये सुख- दु:ख आत्मा में ही होते हैं। ये सुख-दु:ख आनन्द गुण के ही विकृत परिणमन हैं। तो सांसारिक सुख-दु:ख आकुलता से ही भरे हुए हैं। इन सांसारिक सुख-दु:खों से शान्ति नहीं प्राप्त होती। शान्ति तो एक आनन्द में ही है। स्वतंत्रता में, स्वाधीनता में शान्ति है। यह अपने आपको समझ लेना कि मैं एक आत्मा हूँ, अन्य किसी भी परपदार्थ से मुझे शान्ति नहीं प्राप्त होती। बाह्य में कुछ भी हो, ये बाह्य पदार्थ जब जैसा चाहे परिणमते हैं, परिणमे। इस प्रकार की बुद्धि जब जगती है तब ही इस जीव को शुद्ध आनन्द प्राप्त होगा। तो शान्ति प्राप्त करने के उपाय में इन दो बातों को कहा गया है कि आनन्द का स्वरूप जानो और आत्मा का स्वरूप जानो।

पदार्थों के निर्णय करने के उपायों की जिज्ञासा - आनन्द पाने के लिए आनन्द के स्वरूप का और आत्मा के स्वरूप का परिज्ञान करना अति आवश्यक है। इस सम्बंध में कुछ अभी कहा गया था। अब आत्मा का संक्षिप्त स्वरूप और आनन्द का संक्षिप्त स्वरूप जानकर आगे चलिये। चूँकि यह बात कही गई थी कि ये सब बातें पदार्थों के स्वरूप का निर्णय करने से हो सकती हैं, इससे अब यह जिज्ञासा की जा रही है कि पदार्थों का निर्णय किन उपायों से होता है ? पदार्थ सत् है, उत्पादव्ययध्रौव्य वाला है, अखण्ड है, अपने- अपने असाधारण गुण को लिए हुए है इत्यादिक रूप से संक्षेप में निर्णय बताया गया था। लेकिन अब उस निर्णय का अधिकृत रूप देने के लिए पूछा जा रहा है कि पदार्थों का निर्णय किन-किन उपायों से होता है? ऋषिजनों ने पदार्थों के निर्णय के उपाय बताये हैं वे उपाय कई प्रकार के हैं एक तो उपाय लक्षण है। पदार्थों का लक्षण निरखकर पदार्थों के स्वरूप का परिचय किया जाता है। दूसरा उपाय है- प्रमाण। समयग्ज्ञान को प्रमाण कहते

हैं। सर्वतोमुखी दृष्टियों से पदार्थों के स्वरूप का वर्णन करना यह प्रमाण का कार्य है। तीसरा उपाय है नय-प्रमाण से पदार्थों को जानकर फिर उसमें अंश-अंश दृष्टि से उसका विवरण करना नय है। चौथा उपाय है निक्षेप। लोग किस प्रकार से स्वरूप के सम्बन्ध में व्यवहार करते हैं उस व्यवहार की अपेक्षा से जो पदार्थों का परिचय किया जाता है वह कहलाता है निक्षेप। इन चार उपायों के अतिरिक्त अन्य भी स्फुट उपाय हैं। जैसे पदार्थों की श्रेणियों की संख्या बताना, पदार्थों की संख्या बताना, पदार्थ कहाँ रहते हैं, पदार्थ का स्वामी कौन है , वह पदार्थ कितने समय तक टिक सकता है, वे पदार्थ कितने प्रकार के होते हैं आदिक अनेक निर्णय पदार्थ-परिचय के उपाय हैं।

पदार्थों का निर्णय करने के उपायों जानकारी की आवश्यकता -पदार्थों का निर्णय करने के उपायों का परिचय पा लेना बहुत आवश्यक है। यदि पदार्थों के स्वरूप के परिचय का मौलिक उपाय पा लिया तब फिर सब बातें बहुत सरल हो जायेंगी। जैसे बहुत से लोग 20-25 वर्ष से स्वाध्याय करते चले आते हैं और उन अनेकों का ऐसा स्वाध्याय रह जाता है जैसा 20 साल पहले था वैसा ही अब है। कोई ज्यादा अन्तर नहीं आता। उसका कारण यह है कि वे अपनी बुद्धि में ऐसा परिश्रम नहीं करना चाहते कि जिससे रोज के रोज उन्हें पदार्थों के स्वरूप के बारे में नई-नई बातें मालूम पड़े और नई-नई ज्ञान की धारणा बनायें ऐसा सोचते तक भी नहीं है। एक रूढ़ि से चूँकि स्वाध्याय करने का नियम है, अथवा हमें स्वाध्याय करना है, इस भाव से पुस्तक ली और थोड़ा-सा पढ़ा, बस बन्द करके चल दिये। यदि मन में यह भाव होता कि इसलिए पढ़ना चाहिए कि हमें वस्तुस्वरूप का परिज्ञान हो, अपने सम्बन्ध में परिचय प्राप्त हो, तो अवश्य ही पद्धति बदलती। और यह चाहते कि चाहे कितना ही कठिन लगे मगर मुझे तो इसे समझ करके ही रहना है। यदि कठिन बातों को समझने में श्रम मानकर डरते रहे तो जीवन-भर भी कभी प्रगति नहीं हो सकती। इस अध्याय में पदार्थों के स्वरूप का परिचय बताया जायगा। यद्यपि वह कुछ थोड़ा कठिन लगेगा, लेकिन अपने आपको सँभालकर, उपयोग को निर्मल रख करके, मुझको तो इसे समझना ही है इस तरह से सुनें, चिन्तन करें तो अवश्य ही यह बात समझ में आ जायेगी।

पदार्थों के निर्णयन के उपायों में लक्षण-उपाय की विचारणा--अब पदार्थों का परिचय पाने के उपायों में प्रथम उपाय जो लक्षण बताया है उसकी चर्चा करते हैं। लक्षण नाम है किसका ? बहुत से मिले हुए पदार्थों में से किसी एक इष्ट पदार्थ को जुदा कर लेने वाला जो चिह्न है उसको लक्षण कहते हैं। जैसे मान लो, बहुत से अनाज गेहूँ, जौ, चना, मसूर आदिक मिले हुए हैं। अब इनमें बताना है कि मसूर क्या चीज है? तो कहते हैं कि जो बिल्कुल गोल, चिकना, सही गोल हो वह मसूर है। तो वह झट पहिचान लेता है। उतने सही गोल आकार से बना हुआ न गेहूँ है, न जौ और चना है। तो पहिचानकर झट बता देता है कि यह मसूर है। जैसे यहाँ बहुत-से मनुष्य बैठे हैं, एक मनुष्य पगड़ीवाला था उसे बुलाना था। तो कोई कहता है कि अमुक चन्द को बुलाना। वह पूछता है कि अमुकचंद इनमें से कौन-से हैं? जो पगड़ी पहने हैं। तो वह लक्षण बन गया। बहुत-से मिले हुए पदार्थ में जो जुदा कर देने वाला चिह्न है उसे लक्षण कहते हैं। इस सम्बंध में बहुत विवरण से बताया जायगा, जिससे यह मालूम होगा कि यह सदोष लक्षण हैं और यह निर्दोष लक्षण है।

लक्षणों के प्रकार - लक्षण नाम उसका है जो पदार्थ का असाधारण गुण हो, अन्य में न पाया जाए, केवल उस ही में पाया जाए। ऐसे लक्षण दो प्रकार के होते हैं। एक तो आत्मभूत और दूसरा अनात्मभूत। आत्मभूत मायने- जो पदार्थों में मिला हो, पदार्थों के प्रदेश से जुदा न हो और जो पदार्थ के स्वरूप से, प्रदेश से जुदा हो, केवल सम्बंध मात्र हो, उसे कहते है अनात्मभूत। तो आत्मभूत लक्षण होता है पदार्थ के प्रदेश में और अनात्मभूत लक्षण होता है पदार्थ के प्रदेशों से जुदा। जैसे अग्नि का लक्षण गर्मी है तो इसे आप आत्मभूत में शामिल कर सकेंगे अनात्मभूत में नहीं, क्योंकि अग्नि के प्रदेश से अलग गर्मी नहीं पायी जाती। जैसे छतरीवाले पुरूष का लक्षण छतरी है तो यह अनात्मभूत में जायगा, क्योंकि वह छतरी उस पुरूष में मिली हुई नहीं है। तो जो पदार्थ के प्रदेश में हो, उससे अभिन्न हो वह आत्मभूत चिह्न है, और जो चिह्न, तत्त्व उस पदार्थ से जुदा हो वह अनात्मभूत है।

ये सब बातें इसलिए बतायी जा रही हैं कि हम आत्मा का सही लक्षण जानें। आत्मा का सही लक्षण जानने के लिए ही अन्य पदार्थों के लक्षणों को जानना पड़ रहा है, क्योंकि मैं समस्त अन्य पदार्थों से जुदा हूँ यह बात कैसे समझी जा सकेगी ? जब अन्य पदार्थों का भी स्वरूप ज्ञान में आयेगा तब बात समझ में आ सकेगी। तो अपने ही स्वरूप के परिचय के लिए परदार्थों के स्वरूप का भी परिचय करना पड़ता है। तो हमें सभी पदार्थों का ज्ञान करना है, उसका उपाय बताया जा रहा है, और बहुत ही उपयोग में आने वाला उपाय है जिसके बिना व्यवहार भी नहीं चलता, तत्त्व चिन्तन भी नहीं चलता, ऐसा यह प्रमुख उपाय है लक्षण का जानना। तो लक्षण दो प्रकार के होते हैं - एक आत्मभूत दूसरा अनात्मभूत। जो पदार्थ के प्रदेश से अभिन्न हो वह आत्मभूत है और जो पदार्थ के प्रदेश से जुदा हो वह अनात्मभूत है।

आत्मभूतलक्षण के प्रकार- आत्मभूत लक्षण दो प्रकार के होते हैं -एक तो सदा ही आत्मा के प्रदेशों में रहने वाला और एक कुछ एक समय के लिए आत्मा से अभिन्न हो गया है। जैसे क्रोध, मान, माया, लोभ, विचार आदि ये सब कुछ समय के लिए आत्मा में अभिन्न रूप से हैं और ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति, चारित्रशक्ति और आनन्द शक्ति, ये सदा के लिए आत्मा में मिली हुई हैं। तो आत्मभूत भी दो प्रकार के हैं| एक शाश्वत आत्मभूत और दूसरा वर्तमान-मात्र आत्मभूत। इन लक्षणों के परिचय से यह बोध हो जायगा कि शाश्वत आत्मभूत तो पदार्थ का लक्षण कहा जा सकता है, पर वर्तमान-मात्र आत्मभूत किसी समय के लिए, किसी विशेष परिस्थिति में लक्षण कहा जायगा पर वह पदार्थ का सही स्वरूप न होगा। जैसे आत्मा में ज्ञानशक्ति सदा पायी जाती है तो ज्ञानशक्ति आत्मा का सही लक्षण बन जायगा, पर क्रोधादिक कषायें यद्यपि आत्मा में अभेदरूप से हैं, जितने समय के लिए हैं, लेकिन सदा नहीं रहतीं। ये जीव के लक्षण नहीं कहे जा सकते। तो आत्मभूत दो किस्म का हुआ -शाश्वत और वर्तमान। शाश्वत आत्मभूत तो एक ही किस्म का है। जो शाश्वत है उसमे भेद क्या, लेकिन वर्तमान में भेद हो सकता है, ऐसा चिह्न, ऐसा परिणमन जो इस समय मेरे आत्मा में एकमेक हो रहे हैं लेकिन फिर भी वे नाना किस्म के हैं। कोई स्वभावरूप है, कोई विभावरूप है। फर्क इतना ही है कि जो स्वभावरूप आत्मभूत वर्तमान मात्र

है, वह अनन्त काल तक रहेगा, पर उसकी आदि है, किन्तु विभावों की बात देखो उनकी आदि भी हैं और अंत भी है।

वर्तमान मात्र आत्मभूत लक्षण के प्रकार -वर्तमान-मात्र आत्मभूत चिह्न दो किस्म के होते हैं - एक स्वभाव पर्यायरूप और एक विभाव पर्यायरूप। वर्तमान मात्र स्वभाव पर्याय क्या ? जैसे विभाव में विकार में, कषाय में यह जीव चल रहा था और अब उसके विभाव दूर हुए तो वह स्वभाव-पर्याय बन गई। तो वह चूँकि अतीत की दृष्टि में वह शाश्वत नहीं है, लेकिन भविष्य के लिए शाश्वत है और पर्याय की दृष्टि में शाश्वतधारारूप है। परमार्थतः तो समस्त पर्यायें क्षण-क्षण के लिए हुआ करती हैं , इसलिए वर्तमान मात्र स्वभावपर्याय भी दो प्रकार के होते हैं। कुछ तो अपूर्ण होती हैं और कुछ पूर्ण होती हैं। जैसे क्षायोपशमिक ज्ञान पैदा हुआ है तो जानना यह आत्मा के स्वभाव की परिणति है जो कि सम्यक् हो रही है लेकिन वह अपूर्ण है। इसी प्रकार सकलचारित्र, देशचारित्र ये अपूर्ण हैं, इनमें भी ऐसी दृष्टि लगाकर निरखें कि जैसा स्वभाव-ढंग है उस दृष्टि से कहा जा रहा है स्वभावपर्याय और जो कर्मों की मर्यादा के कारण रुकाव है उसकी अपेक्षा कहा जा रहा है अपूर्ण और पूर्ण स्वभावपर्याय जब से होता तब से उस ही किस्म का रहता है और परिपूर्ण है। तो स्वभावपर्याय यह भी एक चिह्न है, यद्यपि वह किसी स्थिति का है। जैसे कहा जाय कि भगवान का स्वरूप क्या है ? जो त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को एक साथ जाने सो भगवान। यह कहा गया है, मगर किसी पदार्थ का एक शाश्वत स्वरूप नहीं कहा गया है। जो पदार्थ है वह जीव है। जब से भगवान हैं तब से बात कही जा रही है। वह शाश्वत आत्मभूत न रहा, इसलिए वर्तमानमात्र आत्मभूत लक्षण कहा। तो यों कुछ, लक्षण ऐसे होते हैं जो पदार्थ के स्वरूप में मिले हुए होते हैं और उन लक्षणों से पदार्थ का परिचय पाते हैं।

लक्षण के परिचय ही उपयोगिता– देखिये, लक्षण के परिचय की बात इसलिए कही जा रही है कि हम आपको अपने आत्मा के स्वरूप का परिज्ञान करना है। तो हम जिस उपाय से अपने स्वरूप का परिचय पा सकेंगे वह उपाय कहा जा रहा है। मुझ में अनादिकाल से अनन्तकाल तक एकरूप से जो बात पायी जाती हो वह हमारा लक्षण है, सो उसे जान कर हम अपने आपका परिज्ञान करें। अनात्मभूत लक्षण वह कहलाता जो पदार्थ में मिला हुआ न हो। जिस पदार्थ का हम लक्षण करते हैं वह लक्षण उस पदार्थ में मिला हुआ नहीं है तो वह अनात्मभूत लक्षण है। जैसे डंडेवाले पुरूष का लक्षण डंडा, पगड़ीवाले पुरुष का लक्षण पगड़ी। अब पगड़ी उस पुरूष में मिली हुई तो नहीं है, अलग है, अतः वह अनात्मभूत कहलाता है। जैसे हम यह कहने लगें कि मनुष्य जीव का लक्षण है। खास प्रकार का यह शरीर। तो इस जीव में यह शरीर मिला हुआ तो नहीं है, अतएव यह अनात्मभूत लक्षण बनेगा।

अनात्मभूत लक्षण के प्रकारों में निमित्तनैमित्तिक संबंधी अनात्मभूत लक्षण - अनात्मभूत लक्षण चार किस्म से निरखा जाता है। कुछ तो हैं निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध से लक्षण। जैसे कर्मसहित जीव का लक्षण क्या है ? कर्म बँधे हुए हों। जहाँ कर्म बँधें है वह जीव सकर्मा है। तो कर्म और

जीव, इनका क्या सम्बन्ध है? क्या कर्म जीव का लक्षण है? लक्षण तो नहीं है, आत्मभूत तो नहीं है, यह तो जीव के प्रदेशों से अलग चीज है। देखिये, जीव के प्रदेशों में भी मिला हुआ हो कोई, लेकिन जीव के प्रदेश में न हो तो वह मिला हुआ नहीं कहलाता। जैसे हम आप जीव के जहाँ प्रदेश है वहीं तो कर्मों के प्रदेश हैं लेकिन कर्मों के प्रदेश में भी मिले हुए नहीं हैं| जैसे लोकाकाश में कोई-सा भी प्रदेश ऐसा नहीं बचा जहाँ छहों जाति के द्रव्य न हों। सर्वत्र जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश काल मौजूद हैं। आकाश तो है ही। धर्मद्रव्य एक सर्वव्यापी है, वह भी सर्वत्र है। अधर्मद्रव्य भी एक है और लोकाकाश में सर्वत्र है। काल द्रव्य असंख्यात हैं, एक एक प्रदेश पर एक एक काल द्रव्य है इसलिए वह भी लोकाकाश में सर्वत्र है। पुद्गल द्रव्य भी सर्वत्र हैं, जीव सर्वत्र हैं तो लोकाकाश के एक ही प्रदेश में और परस्पर के प्रदेशों में छहों जाति के अनेक पदार्थ रहने पर भी क्या यह कहा जा सकेगा कि किसी के प्रदेश में किसी अन्य के प्रदेश मिल गए ? नहीं कहा जा सकता। तो ऐसे ही मेरे जीव के प्रदेश में कर्म के प्रदेश भरे पड़े हुए हैं एकक्षेत्रावगाही हैं लेकिन मेरे प्रदेशों में मिले हुए वे कर्म न कहे जायेंगे। और मैं हूँ अभी कर्मसहित तो क्या कहा कि सकर्मा जीव का लक्षण क्या है ? कर्म। तो यह निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धों से अनात्मभूत लक्षण बताया गया है। कर्म मेरे प्रदेशों में मिले हुए नहीं हैं। और ये कर्म निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध से हैं क्योंकि कर्मों को जीव पकड़ नहीं सकता है। कर्म मूर्तिक हैं, जीव अमूर्तिक है। कर्म और जीव का सम्पर्क नहीं बन सकता। सम्पर्क मायने जैसे दो रस्सियों को मिलाकर गाँठ लगा दी गयी तो वे आपस में जुड़ गई, इस तरह का सम्बन्ध नहीं बन सकता लेकिन यह है इस तरह कि जब यह जीव इस शरीर को छोड़कर आगे जाता है तो शरीर तो यहीं रह जाता है और कर्म जीव के साथ जायेंगे। इतना सम्बन्ध है। ये कर्म इस जीव को छोड़ते नहीं फिर भी जीव से मिलते नहीं। जीव का इन कर्मों के साथ सम्पर्क नहीं है, और, हैं इतने घने सम्बन्ध में कि देह छूटने के बाद भी ये जीव और कर्म एक-साथ जाते हैं। तो इसे कहते है, निमित्तनैमित्तक सम्बन्ध में रहता हुआ अनात्मभूत लक्षण।

एक क्षेत्रावगाही संयोगी अनात्मभूत लक्षण- दूसरा अनात्मभूत लक्षण होता है एकक्षेत्रावगाही संयोगीलक्षण। जैसे सशरीर जीव का लक्षण क्या है ? शरीर। अब देखिये–शरीर और जीव के साथ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है। लोग मोटेरूप से यह कह देते है कि निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है। तो यों तो बहुत से लोग कैसा भी कुछ कह देते हैं। कोई किसी फोटो को देखकर, यदि भाव शुद्ध होता है तो कह उठता है कि यह फोटो हमारे भावों को ठीक करने में निमित्त है। कोई यदि उसके भाव बिगड़ गए तो वह कह उठता कि यह फोटो हमारे भाव बिगाड़ने में निमित्त है। लेकिन ऐसी बात नहीं है। वह निमित्तभूत नहीं है। यह आश्रयभूत है। यदि उस फोटो के देखने से सभी लोगों के भाव ठीक बनें अथवा बिगड़ें तो उसे निमित्त कह सकेंगे। उसी फोटो को देखकर एक साधु तो वैराग्यमयी भाव बना लेता है और कोई व्यसनी व्यक्ति बुरे भाव बना लेता है।

जैसे किसी नगर में कोई वेश्या मरी, लोग उसे जलाने के लिए गए तो कामीजन उसे देखकर यह सोचते हैं कि यह मर गई। यदि यह जीवित होती तो कुछ दिन और इससे प्रीति करते। कोई मुनि

उसे देखकर यह विचार करता है कि कितने दुर्लभ जीवन को इसने पाया था और कितने बुरे विचारों में ही इसने अपना सारा जीवन व्यर्थ खो दिया। कुछ कुत्ते, स्याल आदिक उसे देखकर यह सोचते हैं कि यह व्यर्थ ही जलाई जा रही है। यदि ये लोग इसे यों ही छोड़ जायें तो कुछ दिनों का हमारा भोजन हो। निमित्त में यह बात नहीं होती है। निमित्त होता है कर्म का उदय। कर्मोदय होने पर एक किस्म का, एक ढंग का भाव होता है। तो यह आश्रयभूत है। देह भी मेरे आत्मा से पृथक् है इसलिए निमित्तभूत नहीं है किन्तु एक क्षेत्र में रह रहे हैं तो एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध है। इस तरह लक्षणों में कुछ लक्षण बताकर अब मूल बात पर आयेंगे कि हम आत्मा को किस प्रकार जानें ?यह परिचय बहुत ही मदद देगा आत्मा के स्वरूप को जानने के लिए।

अनात्मभूत लक्षण के शेष प्रकार –पदार्थ की पहिचान लक्षण से हुआ करती है, यह बात व्यवहार में रोज ही रोज गुज़रती है। जब कहते हैं कि चौकी लाओ, पुस्तक लाओ, रोटी लावो, यों कुछ भी कहते हैं तो उसका लक्षण जब ध्यान में है तभी तो वह चीज ला पाते हैं। तो लक्षण बिना पदार्थ की पहिचान होती ही नहीं है। इस ही कारण लक्षण की बात कह रहे हैं। लक्षण दो प्रकार के होते हैं - एक तो पदार्थ में मिला हुआ और एक पदार्थ से जुदा। तो जो पदार्थ से जुदे लक्षण हैं उनके दो भेद कल बताये गए हैं। आज यह बताना है कि तीसरा अनात्मभूत वह है कि जो दूसरी जगह रहने वाला है पर संयोगसम्बंधी है। जैसे यह पुरूष सपत्नीक है। भाई ! सपत्नीक पुरुष का क्या लक्षण है ? पत्नी। तो पुरूष में पत्नी मिली हुई नहीं है, संयोग भी नहीं है। पत्नी अलग है पुरूष अलग है लेकिन सपत्नीक पुरूष का लक्षण है पत्नी। तो लक्षण है पत्नी। तो इस लक्षण में एक संयोग सम्बंध वाली बात है। वैवाहिक सम्बंध हुआ या अन्य प्रकार के नियोग हुए। कुछ अनात्मभूत लक्षण ऐसे होते हैं जो काल्पनिक हैं, सम्बंध कुछ नहीं है। जैसे घरवाला, मामावाला, सालावाला आदिक अनेक प्रकार की बातें होती हैं, और कल्पनाओं से ही तो मान लिया गया है सम्बंध।

अपना प्रयोज्य लक्षण - भैया ! यों तो अनेक प्रकार के लक्षण होते हैं लेकिन अपने प्रयोजन में लक्षण क्या लेना है ? जो लक्षण पदार्थ में मिला हुआ हो उसे लेना। हमें समझना है आत्मा आत्मा का वह लक्षण तो आत्मा में सदाकाल रहता है, आत्मा को छोड़कर कभी रह नहीं सकता और आत्मा के सिवाय अन्य किसी में जा नहीं सकता, ऐसा लक्षण हमें पहिचानना है तब हम जानेंगे कि यह मैं आत्मा हूँ। सभी की जिज्ञासा होती है जो कुछ थोड़ा धर्म में लगे हुए हों कि मैं अपने आत्मा को जानूँ कि मैं क्या हूँ? अपने आत्मा का सत्य परिज्ञान हो तो समझिये कि हमने सबसे बड़ा भारी वैभव पाया। वैभव ही एक है, और कुछ वैभव ही नहीं है। मान लो, किसी ने समझ लिया कि मेरा घर है, मेरे परिजन हैं, मेरी दुकान है, मेरे पास इतना धन है, तो यह केवल कल्पना से समझ रहा है। वस्तुत: मेरा कुछ भी नहीं है, पर थोड़ा भी यदि ध्यान दिया कि जब इस देह को मैं छोड़कर चला जाऊँगा, मैं तो सत् हूँ, कभी नष्ट नहीं होता तो फिर मेरी क्या गति होगी ? कुछ तो विचार करना चाहिए। आज यह मनुष्यभव मिला है तो यह रत्न समझिये जिससे बढ़कर संसार के भव में और कुछ नहीं कहा जा सकता। कैसा तत्त्व चिन्तन कर सकते हैं, अब

इस नर रत्न को पाकर हम यदि सदुपयोग में लगायें तो अपना होनहार अच्छा समझिये और अगर दुरुपयोग में लगाया, विषयों में, चाह में, इज्जत में, इसी धुन में लगे रहे तो जिन्दगी तो उस तरह से गुजर रही है जैसे कि पर्वत से गिरने वाली नदी। जब वह नदी वेगपूर्वक गिरती है तो फिर उसके लौटने का काम नहीं, इसी तरह आयु भी गुजर रही है इसके भी लौटने का काम नहीं। आज जो 50–60 वर्षों के हो गये और यह सोचते हैं कि यदि मैं बच्चा होता तो बड़े विवेकपूर्वक रहता और अपनी इस जिन्दगी को पहिले की तरह निरर्थक न गुजारता। क्योंकि बचपन में व जवानी में अपने जोश में यह जीव नाना प्रकार की क्रियायें करता है और अन्त में जब आयु घटती है तो वह पछताता है। उस समय सोचता है कि यदि मैं बचपन में होता तो ऐसी गलती नहीं करता। खूब ज्ञान कमाता, आत्मा की बात करता। लेकिन अब ऐसी बात हो कैसे सकती ? मरण के बाद बचपन आयगा तो वह दूसरा बचपन है। वहाँ फिर वही गलती होगी। अपना तथ्य समझिये इसमें ही कल्याण है। इसके उपाय में प्रयोज्य लक्षण का परिचय करना है।

मनुष्य-भव की श्रेष्ठता का कथन- यह मनुष्यभव एक रत्न है। इसका एक-एक क्षण कीमती है, लेकिन लोग कहाँ कीमती समझ रहे हैं? अगर इसका आदर किया होता तो यह ठीक उपयोग में लगाता। इस नर-जीवन का सदुपयोग यही है कि बाह्य पदार्थों के जो समागम मिले हैं उनमें उपेक्षा -बुद्धि रखें। वे सब हमारे कुछ नहीं हैं, ये हमसे अत्यन्त भिन्न हैं। जिन पदार्थों में लगाव रख रहे हो उन पदार्थों के क्या तुम जिम्मेदार हो ? क्या उन पर तुम्हारा अधिकार है ? अथवा कुछ हित के लिए उन पदार्थों की सँभाल कर लिया तो वे भविष्य में सँभाले रहेंगे, क्या यह नियम की बात है? अरे ! ये सभी मिटेंगे तो हैं ही। जब प्रलय-काल आता है, प्रकृति मिटा देती है तो फिर उन कल्पनाओं से क्या उठता है ? सब विनष्ट हो जायेगा। ये सब बाह्य पदार्थ लगाव रखने लायक नहीं हैं। लगाव रखें तो आत्मा के हित से। आत्महित के उपाय में लगें, इससे बढ़कर कोई बुद्धिमानी नहीं है। और, देखिये – बाहरी पदार्थ की बातें तो सब कर्माधीन हैं। हम चाहें और उदय अनुकूल न हो तो हो नहीं सकता। हम उपेक्षा-बुद्धि रखें, उदय अनुकूल है तो स्वयमेव होता है। इस कारण इस बात की परवाह ना करें कि बाह्य पदार्थ यों ही होना चाहिए, यों क्यों न हुए? साधारणतया तो बात गृहस्थी में कल्पनाओं से आती है लेकिन उसके पीछे ही अपनी सारी जिन्दगी समझना, यह बात उचित नहीं है। यह नरभव बहुत अमूल्य है, इसकी कीमत कोई विवेकी ही समझता है, या मरण-समय कुछ ख्याल आता है कि ओह ! यह मेरा नर रत्न छूट रहाहै। इस जीवन में यदि हमने अच्छा कार्य कर लिया होता, ज्ञान-ध्यान किया होता, आत्मकल्याण की बात की होती तो बड़े संतोष से मरण करता और आगे भी अच्छी गति पाता। जो मरणासन्न हैं अथवा वृद्धजन हैं, अथवा विवेकी पुरूष हैं या जो श्रेष्ठ मन वाले इन्द्र-देवादिक हैं वे जानते हैं कि इस मनुष्यभव का कितना मूल्य है?

एक घटना द्वारा मनुष्यभव की श्रेष्ठता का कथन- एक घटना यों सुनो कि जब तीर्थंकर भगवान को वैराग्य होता है, गृहस्थावस्था अथवा राज्यावस्था से विरक्त होते हैं तो उस समय लौकांतिकदेव

उपस्थित होते हैं। लौकांतिक देव कभी यहाँ आते नहीं हैं, केवल भगवान के वैराग्य के समय आते हैं और वे भगवान की स्तुति करके चले जाते हैं| उनके वैराग्य-भाव पुष्ट करके अपने स्थान चले जाते हैं। उसके बाद जब वे तीर्थंकर-गृहस्थ साधु दीक्षा लेने के लिए चलते हैं तो इन्द्र पालकी सजाता है, पालकी में विराजमान करता है और पालकी ले जाने के लिए उद्यत होता है। ज्यों ही इन्द्र पालकी उठाना चाहता है उसी समय मनुष्य टोक देते हैं कि यह पालकी तुम नहीं उठा सकते। इसे हम मनुष्य लोग ले जायेंगे। इन्द्र बोले कि तुम कैसे ले जावोगे ? देखो हमने बड़े बड़े कार्य किए, गर्भ कल्याणक मनाया, 15 महीने रत्नवृष्टि की, जन्म कल्याणक मनाया, अब यह तपकल्याणक मनाने का भी हमको अधिकार है तो मनुष्य बोल उठे कि यह नहीं हो सकता। तुमने सभी कल्याणक मनाये, मगर इस पालकी को तुम हाथ नहीं लगा सकते। जब बड़ा विवाद हुआ तो कुछ विवेकी पंचों के बीच मनुष्य और देवों ने अपनी-अपनी बात कह डाली। सोच-विचार के बाद वे वृद्धजन यह निर्णय देते हैं कि इस पालकी को वह हाथ लगायेगा जो भगवान की तरह वैराग्य और दीक्षा ले सके। अब यह बात देवों में कहाँ सम्भव ? देव असंयमी होते हैं। चार गतियों में देवगति के भी जीव हैं। नरक गति में तो नारकी जीव आते हैं। तिर्यञ्च में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, पेड़, कीड़ा, मकोड़ा, पशु, पक्षी, आदिक ये सभी जीव आते हैं। मनुष्य गति में पुरूष, स्त्री, बालक आदि आते हैं। और देव गति के जीव वैक्रियक शरीर वाले होते हैं। देवों के सम्बन्ध में सभी को कुछ न कुछ विश्वास है। उन्हें खाना नहीं पड़ता। जब भूख लगती है तो कंठ से अमृत झरता है, उनके शरीर में हाड़-मांस नहीं होता है। उनके सुन्दर वैक्रियक शरीर होता है। सागरों पर्यन्त की उनकी आयु होती है। वे बड़े सुख में रहते हैं। ऐसे सुखों में रहने वाले देव उस समय अपना माथा धुनते हैं कि अहो ! हमारा क्या भव ? मनुष्यभव ही श्रेष्ठ है जिससे दीक्षा लेकर संसार के संकटों से सदा के लिए मुक्त हो जाते हैं। और उस घटना के समय वे देव बड़ा खेद मनाते हैं कि हम भी यदि मनुष्य होते तो इस पालकी के उठाने के सर्वप्रथम अधिकारी होते। उस समय इन्द्र मानो पल्ला पसार कर मनुष्यों से कहता हैं कि ऐ मनुष्यो ! तुम मेरे इन्द्रत्व के समस्त वैभव को ले लो, पर अपना मनुष्यत्व मुझे दे दो। तो आप समझिये कि यह मनुष्यभव कितना श्रेष्ठ भव है ?
संसार में अहितसमागमों की भरमार– भैया ! दूर भी क्या परखते ? यही अपने आप में अंदाज लगा लो, समझ तो है अपने में, ज्ञान है अपने में। जरा यह बतलाओ कि जिस घर में हम आप रहते हैं क्या वह घर सदा रहेगा ? क्या उस घर में हम आप भी सदा रहेंगे ? जिन परिजनों के बीच हम रहते हैं उन सबका वियोग होगा। कोई किसी ढंग से बिछुड़ेगा, कोई किसी ढंग से। पुराणों में सुना होगा भगवान श्री राम जिन्होंने बचपन से ही अपनी धर्मनीति के कारण संकट ही संकट भोगे, अन्त में कुछ समय ऐसा आया कि वनवास के बाद, रावण से युद्ध के बाद, सीता को घर में रखने के बाद कुछ समय सन्तोष से रहते थे मगर अग्निपरीक्षा के समय का क्लेश और उसके बाद भी संतोष से रहते थे, लेकिन हुआ क्या कि राम लक्ष्मण के स्नेह की परीक्षा लेने के लिए एक देव आया। देव ने तो परीक्षा की, पर हो गया वहाँ बुरा हाल। परीक्षा यों की कि देवों ने अपनी माया से ऐसा दृश्य बना लिया कि मानो राम गुजर गए हैं और स्त्रियाँ विलाप कर रही हैं। उसी

समय वह देव हा राम! हा राम ! कहता हुआ लक्ष्मण के पास पहुँचा और लक्ष्मण से बताया कि श्रीराम गुजर गए। इतनी बात सुनते ही लक्ष्मण गुजर गए। देव ने तो परीक्षा की और हो गया अनर्थ। लक्ष्मण तो यों गए। श्री राम उस लक्ष्मण के शरीर को 6 माह तक लिए फिरते रहे, उससे यों ही बातें करते रहे–ऐ लक्ष्मण ! उठो, खाओ, बोलो आदि। अब आप सोचिए कि समागम में कितनी विडम्बना होती है ? ये तो बड़े पुरूषों की विड़म्बनाएँ बतला रहे हैं। जब तक वे गृहस्थी में रहे तब तक की बात है। उससे आप अनुमान लगाओ अपनी विड़म्बनाओं की बात का। आप सबकी विडम्बनायें तो उनसे भी कठिन हैं। वे तो बड़े पुरूष थे, किसी एक बात को लेकर चलते थे, यहाँ आप लोग तो किसी एक बात को ही नहीं लेकर चलते, अपना कोई निश्चित उद्देश्य ही नहीं बनाते। जो मन में बात आ गयी वह कर बैठते हैं।

विरागभावमें विडम्बना से छुटकारा -देखो भैया ! श्री राम को तब तक चैन न मिली जब तक कि उनके चित्त में विराग भाव नहीं जगा। इस घटना में वैराग्य का आना बहुत कठिन था। कैसे वैराग्य आये? राम को लक्ष्मण के देह से था बड़ा प्रेम। एक दो देव आये उन्होंने राम को बहुत समझाया। कोल्हू में बालू पेलने का दृश्य दिखाया। श्री राम पूछते है कि क्या कर रहे हो ? बालू से तेल निकालेंगे। अरे ! कहीं बालू से तेल भी निकला करता है ? तो क्या कहीं मुर्दा भी बातें करता है? इतने पर भी राम कुछ ना समझ सके। देवों ने दूसरा दृश्य पर्वत में कमल उगाने का दिखाया। श्री राम ने पूछा कि यह क्या कर रहे हो ? पर्वत में कमल उगा रहे हैं। कहीं पर्वत में कमल भी उगा करते हैं ? तो क्या मुर्दा भी बोला करता है ? इतने पर भी श्री राम कुछ न समझ सके। देवों ने तीसरा दृश्य दो मरे हुए बैलों को गाड़ी में जोतने की कोशिश करते हुए दिखाया। श्री राम ने पूछा यह क्या कर रहे हो ? गाड़ी में ये मरे हुए बैल जोत रहे हैं। कहीं मरे हुए बैल भी गाड़ी जोता करते हैं? तो क्या कहीं मुर्दा भी खाना खाया करता है ? वहाँ श्रीराम की समझ में आ गया। उनका सारा राग छूटा, वैराग्य जागृत हुआ और दीक्षा ली। उसके बाद इतना संकल्प हुआ कि सीता के जीव प्रतीन्द्र ने बड़ी बाधा दी कि श्रीराम को अभी मोक्ष न होने दें, बाद में हम दोनों एक साथ मोक्ष जायेंगे। एक बार ऐसा दृश्य दिखाया कि मानो रावण सीता के केश खींच रहा है, सीता हा राम ! हा राम ! पुकार रही है। इतने पर भी राम अडिग रहे। तो कहने का प्रयोजन यह है कि यह नरभव एक रत्न है। इसको यों ही नहीं गमाना है। इस जीवन का सदुपयोग करना है|

नरजीवन के सदुपयोग में आत्म परिचय का मूल आधार –नरजीवन का सदुपयोग यही है कि विषय कषायों का आदर न करें। आदर करें स्वरूप-दृष्टि का। मेरी दृष्टि में मेरा सहज चैतन्यस्वरूप अधिकाधिक वर्ते। यह प्रयत्न करें तो जीवन सफल हो जायगा। यह बात तब बनेगी कि मैं अपनी दृष्टि में अपना स्वरूप तो ले लूँ कि मेरा स्वरूप क्या है? मेरा स्वरूप क्या है? इसको जानने का उपाय, लक्षण यहाँ कहा जा रहा है। लक्षण से समझिये कि मैं क्या हूँ? लक्षण के अभी इतने भेद बताये गये हैं, उन सब भेदों में से वास्तविक लक्षण जानने का उपाय क्या है? तो वह है शाश्वत आत्मभूत लक्षण। सभी पदार्थों की वास्तविक पहिचान शाश्वत आत्मभूत लक्षण से होगी। अर्थात् पदार्थ का ऐसा चिह्न जो पदार्थ में सदाकाल रहता हो उससे उसकी पहिचान

होगी। जो बात पदार्थ में थोड़े समय के लिए है उससे पहिचान नहीं हो सकती।

सर्वदृष्टियों से परिचय होने पर प्रयोज्य परिचय में सुविधा–इस प्रसंग में एक यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि जब पदार्थ की पहिचान शाश्वत आत्मभूत लक्षण से होती है याने निशान जो पदार्थ में सदाकाल रहता हो उसे जानकर पदार्थ समझ में आयगा तो अन्य अनात्मभूत लक्षण के बताने की क्या जरूरत थी? केवल एक ही लक्षण बताते शाश्वत आत्मभूत लक्षण। फिर ऐसा बताते कि कुछ लक्षण ऐसे होते हैं कि पदार्थ में उस वर्तमान समय में तो है लेकिन वे सदा नहीं रहते। फिर ऐसे लक्षण को बताने की क्या जरूरत थी? उत्तर उसका यही है कि किसी पदार्थ के बारे में सब तरह से यदि ज्ञान होता है तो मुख्य लक्षण से ज्ञान करने में बड़ी सुविधा होती है। यहाँ भी आप देख लीजिए। किसी मनुष्य का परिचय है कि यह अमुक का मामा है और केवल इतना ही जानता हो, उसे स्पष्ट परिचय न हो। उसके बारे में सर्वतोमुखी ज्ञान हो कि यह अमुक नगर का है, अमुक व्यवसाय करने वाला है, अमुक का भाई है, अमुक का पिता है, यों सबको ज्ञान है ही। फिर प्रयोजन वश एक बात कही जाती है तो वह एक बात अच्छी तरह से समझ में जाती है। फिर बाकी जिनके जाति चिह्न बताये गए हैं उनसे भी परखें कि मेरा आत्मा किस किस ढंग में रहता है? किस-किस हालत में रहता है? इसमें क्रोध, मान, माया, लोभादिक भी हैं। कभी पशु बने कभी पक्षी। सभी तरह के रूप धारण करता। इस तरह नानारूपों में रहने वाला यह जीव वास्तव में किस तरह का? अब शाश्वत आत्मभूत लक्षण से तकें कि है यह आत्मा शुद्ध, सहज चैतन्यस्वरूप है। यह मैं जीव अपने आप बिना दूसरे के संबंध के स्वयं में जैसा कुछ रह सकता हूँउसकी निगाह की जाय तो मैं अपने आपकी पहिचान कर पाऊँगा। जो बात मुझमें नहीं है ऐसी बातों को देख करके हम अपनी पहिचान करें तो तथ्यपरिचय की बात संभव नहीं है। अपनी ओर आ जायें। बाहर से दृष्टि संकोच करके अपने आप में निरखिये। जब मैं अपने आपमें यह देखता हूँ कि मैं एक ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ, सदा इस ही सहज ज्योतिस्वरूप में रहने वाला हूँ, भाव मात्र हूँ। इसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि कुछ नहीं, केवल एक भाव-भाव है, और वह भाव भी ज्ञान चेतन है। ऐसा चैतन्यभाव मात्र मैं आत्मा जिसको कोई दूसरा पहिचान ही नहीं सकता, उस तक कोई दूसरा दृष्टि दे ही नहीं सकता। हाँ दृष्टि दे सकता है कोई विवेकी। वह दृष्टि देगा भी तो निज चैतन्यभाव में मग्न हो जायगा। उसके लिये मैं व्यक्ति ही क्या रहूँगा?

आत्म-परिचय की वार्ता–चैतन्यभाव मात्र यह मैं आत्मा यही मैं अपने लिये सर्वस्व हूँ, हमारा एक यही सर्वस्व वैभव है। उस चैतन्य-मात्र आत्मा का जगत में कहीं कुछ नहीं है। मैं केवल अपने स्वरूपमात्र हूँ, अगर यह बात गाँठ सी बँध जाय, इस बात का निर्णय कर लें और इस ओर ही आ जाय, ऐसा साहस बना लें कि बिखरना तो है ही सब कुछ, जिनका संयोग हुआ है उनका वियोग तो नियम से होता ही है। जो वियोग कुछ दिन बाद होगा वे आज से ही अलग हो जायें। कुछ

समय का ही तो फर्क रहा। जो चीज चार दिन बाद विघटनी थी उससे आज अलग हो गये। विघटना तो अवश्य है। यदि पहिले से ही हम अपना विवेक करके श्रद्धा में अलग हो गये, कुछ चरित्र की अपेक्षा बढ़कर बाह्य तत्त्व से अलग हो गए तो उससे हमें लाभ मिलेगा। और न अलग हो सके तो लाभ न मिलेगा। तो जब बाहरी पदार्थों की दृष्टि न करके अपने आप में अपने स्वरूप को निरखने चलेंगे तो हमें अपने ज्ञानप्रकाश का अनुभव होगा। अनुभव होगा क्यों नहीं? वह तो सरलता से होगा क्योंकि मैं खुद ज्ञानमात्र हूँऔर उस ज्ञानमय को जानने के लिए हम प्रयत्न करें तो यह बात कठिन न होगी।

कठिनाई से हटकर सरलता अपनाने का विवेक–भैया ! कठिन बात तो यह थी कि मैं तो ज्ञानमय हूँ, सबसे निराला हूँऔर अत्यन्त भिन्न परपदार्थ को जानने में, अपनाने में, उनको अपनी इच्छा के अनुसार परिणमन कराने में जो उद्यम करते हैं, कठिन बात तो यह है। कठिनाई यह नहीं हैं लेकिन कठिन बना रखी है, मोह मदिरा पी रखी है। घर के लोग ही सब कुछ विदित होते हैं। कभी यह उ़द्यम नहीं जगता है कि वीतरागदेव और हितप्ररूपक शास्त्र और विरक्त गुरूजन, इनका संग ही हमारा भला कर सकेगा। यहाँ मोहीजनों का यह संग तो हमें राग, मोह में लपेट देगा। जिनको मानते हैं कि ये ही मेरे सब कुछ हैं वे ही संसार में रूलाने के कारण बनेंगे। हाँ, एक दृष्टि से सत्य है कि ये ही सब कुछ हैं। किस दृष्टि से है? जीव की बरबादी करने की दृष्टि से। कल्याण के लिए मेरा सब कुछ क्या है? अपने हित के लिए, शान्ति के लिए मेरा सब कुछ क्या है, इस ओर अपनी निगाह यह जीव नहीं बनाता। अगर हित की और अपनी निगाह बनाये तो जँचेगा कि परमात्मा, सशरीर अरहन्त परमात्मा, वैरागी साधुजन अथवा हितप्ररूपक शास्त्र ये ही मेरे लिए व्यवहार में सब कुछ है। और परमार्थत: मेरा जो यह अविकार ज्ञानानन्दस्वभाव है यह ही मेरे लिए सब कुछ है। उस अविकार ज्ञानस्वभाव से आशा करें कि यदि वह मेरा सहज अविकार ज्ञानस्वभाव प्रसन्न होगा तो हमारे जन्म-मरण के संकट दूर होंगे और सदा के लिए हम आनन्दमय हो जायेंगे। तो दृष्टि देना है अपने अविकार ज्ञानस्वभाव की ओर। यह बात जब हमारे ज्ञान में हो तब ही हम उस ज्ञानस्वभाव ही ओर दृष्टि देंगे। कैसे ज्ञान में आये? उसके लिए बताया जा रहा है कि अपना शाश्वत आत्मभूत लक्षण पहिचानो। जो मुझमें सदाकाल रह सकता है ऐसा चिह्न परखो और उसको निरखकर उसी में मग्न हो। इसीलिए यह लक्षण की बात चल रही है।

आत्मा के विविध परिचय की पूर्वापर उपयोगिता–आत्मा की पहिचान अनेक प्रकारों से बतायी गई है। कुछ चिह्न बताये गये हैं ऐसे जो कुछ समय को आत्मा में आते हैं और फिर नहीं आते। कुछ चिह्न बताये गए हैं ऐसे जो आत्मा में सदाकाल रहा करते हैं। तो इन चिह्नों में से ऐसे चिह्नों से हमारा काम बनता है कि जो चिह्न सदाकाल रहते हैं। जैसे आत्मा में ज्ञानस्वभाव, चैतन्यभाव,

केवल जानने और प्रतिभासने की शक्ति। तब इस समय यह प्रश्न होता है कि फिर अन्य चिह्नों की बात ही क्यों कही जाती? जैसे हम आप जीवों को पहिचानते हैं तो इन्द्रियों से पहिचानते हैं, ज्ञान से पहिचानते हैं। कषाय करें उससे पहिचानते है। क्रोध किया किसी ने तो जान लिया कि यह जीव है। अगर जीव न होता तो क्रोध कैसे कर लेता? कही खम्भा, चटाई आदिक पुद्‌गल पदार्थ तो क्रोध, मान, माया, लोभ आदि नहीं करते। तो विकारों से तो जीव की पहिचान हो रही है और प्राय: करके ये संसार के लोग विकार को ही तो जानते हैं। जो शाश्वत चैतन्यस्वरूप है उस स्वभाव को नहीं जानते। तो प्रश्न यह हो रहा है कि जब हम इसी से जानते है और इसी को अप्रयोज्य बताते हैं, कहा यह जाता है कि प्रयोजन तो इसको अपने सदा अकेले रहने वाले चिह्नों से हैं। शाश्वत आत्मभूत लक्षण से आत्मा की पहिचान होती है। फिर इस अनात्मभूत अथवा वर्तमानमात्र आत्मभूत को बताने से क्या मतलब? समाधान यह है कि जब हम कषायों को, विचारों को प्रकट करते है तो उससे यह जाहिर होता है कि इसका आधारभूत जीव है। तो उससे भी कुछ समझ बनती है। कोई पुरुष यदि किसी कुत्ते को मार रहा है तो देखने वाले लोग उसे कहते हैं- भाई ! क्यों मार रहे हो, इसने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है? क्यों इस पर दया नहीं करते? और यदि कोई भींत में ही लाठी मार रहा है तो देखने वाले कोई भी न कहेंगे कि क्यों इसे मारते? तो मालूम होता है कि सबके ज्ञान में यह बात बसी है कि यह जीव है और इसे मारा जाना उचित नहीं हैं, इसे क्लेश होता है। तो जब इन बातों से आधार को जान लिया तो उस ही आधार के बारे में अब हम सदा रहने वाले चिह्नों का परिज्ञान करेंगे, इसलिए वर्तमान मात्र आत्मभूत भी बताने की आवश्यकता रहती है।

आत्मा के आत्मभूत लक्षण की प्रसिद्धि–कुछ संत मनुष्य ऐसे हैं कि जो आत्मा के बारे में एकदम अन्य बातें न जानकर सीधा चैतन्य स्वभाव को जान लेते हैं। उनको भी पहिले से परिचय तो हो रहा था विकारों का, कषायों का। ऐसी स्थिति में कषायों का आधार जो जीव है ऐसा खूब परख लिया था। अब इस प्रकार से परखे हुए जीव में ऐसे लक्षण जानने का कुछ पुरुषार्थ कर लेते है कि जो लक्षण सदाकाल रहता है, इसलिए सब प्रकार से परिचय करना बेकार बातें नहीं हैं। जैसे कल कहा गया था कि किसी आत्मा के संबंध में यह जान लेना जितना कि उसको प्रयोजन हो उतने मात्र से स्पष्ट ज्ञान नहीं होता है, किन्तु बहुत-बहुत बातों की जानकारी हो उस पुरुष के बारे में और फिर प्रयोज्य बात को जाने तो स्पष्ट रहता है, तो आत्मा को प्रत्येक दृष्टियों से परखिये। परखकर फिर आत्मा के केवल एक चैतन्य स्वभाव को देखो। तो आत्मा में बताया जा रहा है कि शाश्वत आत्मभूत चिह्न क्या है? चैतन्यभाव, जो सदाकाल रहे। समझने का माद्दा और किसी पदार्थ में नहीं है। और समझने का माद्दा भी जिस पदार्थ में है उसमें और कुछ नहीं है। अगर रंग, गंधादिक होते तो वह ऐसा पिण्ड होता कि जड़ ही होता। उसमें फिर समझने की बुद्धि न आती। जो जानता है, देखता है उसे आत्मा कहते हैं। आत्मा का असली लक्षण हुआ ज्ञान-स्वभाव। देखिये- जो हम भिन्न-भिन्न चीजों को जानते हैं, यह जानन भी स्वभाव नहीं हैं, किन्तु नाना

जानकारियों की, उनकी जो इसमें शक्ति है वह जहाँ है उसे जीव कहते हैं। तो जीव का लक्षण हुआ ज्ञान। यह लक्षण ऐसा कि कोई थोड़ा या अधिक पढ़ा लिखा हो सभी प्रकार के लोग उसे परख सकते हैं कि जीव का लक्षण ज्ञान हैं, क्योंकि ज्ञान का प्रसार बहुत है। तो जो जिस प्रसार तक की योग्यता रखता है वह उस ही में जान लेता है कि जीव है, जैसा कि सभी जानते है। यह मनुष्य जीव है, पशु-पक्षी भी जीव है, कीड़े-मकोड़े भी जीव हैं, कुछ लोग नहीं जानते है कि पेड़, पृथ्वी भी जीव है, लेकिन वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया कि इनमें भी जीव हैं। साधारण बुद्धि वाले भी ज्ञान-लक्षण द्वारा जीव की पहिचान करते हैं। और जो विशेष पहुँचे हुए ज्ञानी-ध्यानी जन हैं वे भी ज्ञान द्वारा जीव का लक्षण पहिचानते हैं। वे पहिचानते हैं सहज ज्ञानस्वभाव, प्रतिभासशक्ति, ज्ञानशक्ति द्वारा। उस ज्ञानशक्ति के द्वारा यह जीव का स्वरूप समझता है। तो ज्ञान एक ऐसा जीव का लक्षण है जिस लक्षण के द्वारा यह जीव पहिचाना जाता है।

लक्षण के निर्दोष लक्षण का दिग्दर्शन–अब इस समय प्रसंगवश एक कुछ साधारण विज्ञान की बात कह रहे हैं, लक्षण के बारे में । आप किसी पदार्थ का परिचय करने जायेंगे तो लक्षण द्वारा परिचय करेंगे। तो वह लक्षण कैसा होना चाहिए? निर्दोष। अगर लक्षण कमजोर हैं तो उससे पदार्थ की पहिचान न बन सकेगी। तो ऐसे कमजोर लक्षण तीन तरह के होते हैं, जिनको पारिभाषिक शब्दों में कहते हैं-अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव। जिसे घरेलू शब्द में कहते कि जो चिह्न जिसकी पहिचान कराता है वह उस सब में न जाय वह है अव्याप्ति और जो अन्य में भी जाय वह है अतिव्याप्ति। तब उस चिह्न से पदार्थ का ज्ञान तो नहीं किया जा सकता। जैसे कोई पूछे कि पशु का लक्षण क्या है, बताओ? तो कोई उत्तर देता है कि जिसमें सींग पाये जायें वे पशु हैं। तो सुनने में यह पहिले कुछ अच्छा-सा लगता होगा कि ठीक ही तो कहा जा रहा है, जिसमें सींग हों वही तो पशु है। पर बताओ कि क्या वह लक्षण सही है? नहीं। क्योंकि सींग सब पशुओं में नहीं मिलते हैं। घोड़ा, गधा, कुत्ता, बिल्ली वगैरह पशुओं के सींग कहाँ हैं? तो पशु का लक्षण सींग कहना, सींग देखकर पशुओं की पहिचान कर लेना कि ये पशु है तो इसमें इतनी बात तो आई कि जिनमें सींग हो वे तो पशु हैं ही, मगर सब पशु नहीं आ सकते क्योंकि सभी पशुओं के सींग नहीं है। अत: यह लक्षण सही न माना जायेगा।

अव्याप्ति दोष-दूषित आत्मलक्षण से आत्मा के यथार्थ परिचय की अशक्यता–लक्षण के दोष की बात बतला रहे हैं यह समझाने के लिए, कि दोषरहित लक्षण मेरा क्या है? जैसे कोई पूछे कि जीव की पहिचान क्या है? और उत्तर दिया जाय कि जो खाये-पिये, चले-फिरे वह जीव है। तो सुनने में यद्यपि भला लग रहा है कि ठीक ही तो कहा जा रहा है, लेकिन यह लक्षण सही नहीं है। जो रागद्वेष, मोह, कषाय आदि करे सो जीव है, यह भी सुनने में अच्छा-सा लग रहा है, मगर यह भी लक्षण सही नहीं है। क्योंकि बहुत से जीव ऐसे भी हैं जो खाते पीते नहीं, कषाय आदिक

नहीं करते। लक्षण वह होना चाहिए जो सब पदार्थों में पहुँचे। सर्व जीवों में जो लक्षण पहुंचे वह लक्षण जीव का सही लक्षण कहलायेगा। तो जीव का लक्षण कोई करे और यह कहे कि जिसमें राग हो, द्वेष हो सो जीव है, तो यह लक्षण भी सही नहीं है। इसको पारिभाषिक शब्दों में कहेंगे कि इस लक्षण में अव्याप्ति दोष आता है। यह बात इसलिए समझना है कि हमें पहिचानना है जीव को। जब तक हम जीव का सही स्वरूप न जानें तब तक आनन्द पाने का उपाय नहीं बन सकता। क्योंकि आनन्द पाने का उपाय तब ही बनेगा जब जिसको आनन्द देना है उसका स्वरूप समझ में आये। और जो आनन्द दिया जाना है उसका स्वरूप समझ लिया जाय। तो आनन्द देना है अपने आपको, जीव को, आत्मा को, तो अपने आपका स्वरूप तो जानना चाहिए। पहिचान करें इस विधि से कि जो प्रेम करे, मोह करे सो जीव है। तो जीव की सही पहिचान नहीं हुई, इस कारण आनन्द पाने का उपाय बनेगा नहीं। अब आप जान गये होंगे कि लक्षण की निर्दोषता की पहिचान कितनी आवश्यक है? अगर हम निर्दोष लक्षण को जीव में पहिचानेंगे तो सही पहिचान आयेगी। और आनन्द का, शान्ति का, मुक्ति का उपाय निकलेगा, अन्यथा अपने उद्धार का उपाय नहीं बन सकता। संसार की अन्य अनेक चीजों को पहिचानने के लिये हम आप बड़ी कोशिश किया करते हैं। कपड़े के रूप-रंगादिक की पहिचान, सोना-चाँदी की पहिचान, और और भी बड़ी सूक्ष्म पहिचान लोग रखते हैं, बड़े-बड़े व्यापारी व्यापारादिक के हिसाब-किताब भी रखते है। तो देखिये बारीक से बारीक पहिचान करने की हम आपकी इच्छा बनी हुई है तो फिर हम अपने आपकी बात पहिचानने में क्यों विलम्ब करें? जब हम अपनी पहिचान करने चले तो उस लक्षण से पहिचान करना चाहिए जिस लक्षण में दोष न आये। मैं वह हूँजो प्रेम रागद्वेष करता हूँ, यह लक्षण सही नहीं हैं। अपने आपके बारे में हर एक कोई कुछ न कुछ विश्वास लिये बैठे हैं कि मैं अमुकलाल हूँ, अमुकचंद हूँ, अमुक परिवार का हूँ, ऐसी पोजीशन का हूँ। तो यह सब पहिचानें बिल्कुल गलत हैं क्योंकि मैं यदि ऐसी पोजीशन वाला होऊँ तो पोजीशन तो कभी मिट जायेगी। फिर तो पोजीशन के मिटने पर हमें भी मिट जाना चाहिए। मगर ऐसी बात तो नहीं होती। लो अपने आपकी सही पहिचान नहीं कर पाते इसीलिए दु:खी हो रहे हैं। तो निर्दोष लक्षण जानने के बाद अपनी अनुभूति बनेगी, इस कारण निर्दोष लक्षण के परिचय की महती आवश्यकता है।

अतिव्याप्ति दोष-दूषित आत्म-लक्षण से आत्मा के यथार्थ परिचय की अशक्यता–दूसरा दोष बताया गया था अतिव्याप्ति। जो लक्षण से भी दूर चला जाय, जिनसे हमें जुदा समझना है उनमें भी वह लक्षण चला जाय तो वह कैसे सही रह सकेगा? जैसे उपदेश हो कि देखो गाय की रक्षा करो, गृहस्थी में गाय का पालना यों आवश्यक है कि शुद्ध दूध मिले, घी मिले। वह जीव है इसलिए उसकी रक्षा करो। कोई पूछे कि गाय किसे कहते हैं? तो बताया कि जिसके सींग हो सो गाय। सुनने में अच्छा लगेगा कि गाय के सींग तो होते हैं, लेकिन ये कहना सही नहीं है। गाय का लक्षण सींग कहना युक्त नहीं। गाय का लक्षण सींग है ऐसा कहने का अर्थ होगा कि जिस-जिसको सींग हो वह गाय है। हिरण, बकरी, भैंस आदि के भी तो सींग पाये जाते हैं तो क्या वे भी गाय

कहे जायेंगे? कोई जीव के बारे में कह उठे कि जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि न हों उसे जीव कहते है। तो यह भी सुनने में बड़ा भला लगता हैं कि ठीक ही तो कहा जा रहा है। देखो, जीव में कहाँ रूप, रस, गंध, स्पर्श आदिक हैं। जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्शादि न हो उसे अमूर्त कहते हैं। तो जीव का विशेषण है अर्मूत होना, मगर यह लक्षण सही नहीं है। इसमें यह व्याप्ति बन बैठी कि जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श न हो उसे जीव कहते हैं। तो रूप, रस, गंध, स्पर्शादिक तो आकाश में भी नहीं हैं। लेकिन जिसकी हमें पहिचान नहीं करना है, जिससे हमें जुदा करना है उसमें भी अमूर्तपना चला गया। तो जीव का लक्षण अमूर्त कहना सही तो न रहा।

अव्याप्त लक्षण के अपनाने में पयार्यबुद्धता–देखो भैया ! हम अपने आपकी पहिचान करने चलते हैं और पहिचान भी इस ढंग की कि मैं ऐसी पोजीशन का हूँ, इस घर का हूँ, इतने लड़कों वाला हूँ, स्त्री वाला हूँआदि। यों अनेक प्रकार से इस जीव ने अपने को समझा, लेकिन उसकी ये सभी समझ गलत हैं। और, इस समझ में वह आनन्द पाने का कोई उपाय नहीं कर सकता क्योंकि अपने आपका उसे सही परिचय नहीं हुआ। जब तक अपने आपका सही परिचय न हो तब तक वह आनन्द पाने का उपाय नहीं बना सकता, यह बात ध्रुव सत्य है। तो सही परिचय पाने के लिए लक्षण जानना जरूरी है और ऐसा लक्षण जानना जरूरी है जिसमें दोष न हो। इसे तो मिथ्यात्व कहेंगे यदि कोई यों पहिचान करता है कि मैं ऐसी पोजीशन का हूँ। इसे पर्यायबुद्धि कहते हैं। जब-जब जो पर्याय प्राप्त की जाती है उस पर्याय रूप ही अपने को अनुभव करें तो वह तो मिथ्यात्व है। शास्त्रों में वर्णन किया गया है कि मैं नारक हूँ, तिर्यंच हूँ, मनुष्य हूँ, देव हूँ, इस प्रकार का अपने आपका अनुभव करना भ्रम है, मिथ्यात्व है, संसार में रूलने का भाव है। मैं सुखी हूँ, दु:खी हूँ, गरीब हूँ, धनिक हूँ आदिक रूप से अपने को अनुभव करना यह तो एक भ्रम है। यह भ्रम इस जीव को संसार में रूलाने का कारण है। तो यह अव्याप्त दोष है।

अतिव्याप्त लक्षण के अपनाने में तथ्य परिचय का अभाव–यदि अपने आपके बारे में कोई इस तरह से भी देखने चले कि मैं वह हूँ जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि नहीं। तो ये बातें यद्यपि मुझमें नहीं है मगर ‘नहीं हैं नहीं हैं’ इस तरह कहने से तो काम न चलेगा। उस जीव के स्वरूप का परिचय होता है असली विधि से। निषेध से परिचय होता है, पर निषेध से उसकी पकड़ नहीं होती। निषेध से वस्तु के परिचय की मदद मिलती है। वस्तु विधि से परखी जाती है। जब अपने आपके बारे में यह जाना जाएगा कि मैं चैतन्यस्वभावमात्र हूँ तब आत्मा की पकड़ बनेगी अन्यथा नहीं। तो आत्मा को अमूर्त निरखना यह बात तो यद्यपि ठीक है लेकिन लक्षण बनाना कि जो अमूर्त है सो आत्मा, यह बात गलत है। अमूर्त तो आकाश, धर्म, अधर्म, काल आदि द्रव्य है, पर ये तो जीव नहीं कहलाते। तो अतिव्याप्ति दोष से भी रहित लक्षण हो तो पदार्थ की पहिचान उस लक्षण से सही होती है।

असंभव दोष से दूषित लक्षण की अकिञ्चित्करता–तीसरा दोष होता है लक्षण का असंभव होना।

जो लक्षण लक्ष्य में पाया ही न जाय। जो चिह्न जिसकी पहिचान करता है उसमें न हो तो वह पहिचान न करा सकेगा। जैसे कोई कह बैठे कि मनुष्य का लक्षण सींग है। तो यह सुनने में कितना अटपटा-सा लगता है। बात बिल्कुल असत्य बोली गई। मनुष्यों के सींग होता ही नहीं। मनुष्यों में सींग होना बुरा समझा जाता है। मनुष्यों का लक्षण यदि कोई सींग बता दे तो यह तो एकदम सदोष विधि हो रही है। इसी तरह कोई आत्मा का लक्षण बता दे भौतिकपना पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु से जो बनता हो सो जीव है। तो देखिये सुनने में यद्यपि ऐसा लगता है कि ऐसा कौन कहता होगा, मगर इस विचार के लोगों से प्राय: सभी दुनिया भरी हुई है। कोई किसी ढंग से मानता, कोई किसी ढंग से। यह सैद्धान्तिक ढंग से बात की जा रही है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु से ये जीव बने हुए हैं और इस विचारधारा में चार्वाक सिद्धान्त बना हुआ है और वे मरण इस बात को कहते है कि जब पृथ्वी का अंश पृथ्वी में, जल का अंश जल में, अग्नि का अंश अग्नि में और वायु का अंश वायु में पहुँच गया तो वह ज्योति बुझ गई। इसी को वे लोग मरण कहते हैं। और जब ये चारों मिश्रित रहते हैं तो वह जीव कहलाता है। इस सिद्धान्त की परिभाषा से चाहे लोग परिचित न हों पर बात ऐसी वे मानते है। उन्होंने इस देह को ही मान लिया कि यही मैं हूँ। यद्यपि यह देह त्रसकाय है। हाँ, कुछ बातें ऐसी देखी भी गईं कि जिनसे लोगों को यह श्रद्धा बढ़ गई कि वास्तव में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु से मिश्रित जो होता है वह जीव है। जब कोई बीमार होता है तो उसका इलाज भी प्राकृतिक ढंग से चलता है। प्राकृतिक चिकित्सा बहुत ही अच्छी चिकित्सा है। उसमें यद्यपि समय अधिक लगता है पर रोग को जड़ से समाप्त करती है। तो वह प्राकृतिक चिकित्सा पृथ्वी, जल, धूप और वायु आदि के द्वारा ही की जाती है। लोग समझते है कि देखो यदि इन चारों से मिश्रित यह जीव न होता तो कैसे अच्छा हो जाता ? परन्तु यह बात ठीक नहीं है। अरे यदि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु से मिश्रित जीव होता है तो जब आग पर बटलोई रखी जाती है खिचडी़ पकाने के लिए तो वहाँ तो ये चारों चीजें पाई जाती हैं। पृथ्वी भी है, जल भी है, अग्नि भी है और वायु भी है, फिर तो दनादन वहाँ जीवों की उत्पत्ति हो जानी चाहिए। उस बटलोई में से खूब बिच्छू, ततैया, सर्प, व्याघ्र आदि निकल भागने चाहिए, पर ऐसी बात तो नहीं होती।

जीव तो एक न्यारी चीज है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु से जो मिश्रित हो वह जीव है ऐसा कहना गलत है। ऐसा कहना तो उसी प्रकार मिथ्या है जैसे कोई यह लक्षण बनाये कि जिसके सींग हो वह मनुष्य है। तो अपने बारे में ऐसा लक्षण बनायें जिससे अपने आपकी पहिचान करना है। देखिये, जीवन में एक ही आवश्यक काम पडा़ हुआ है। अपने चित्त को बदल लें। यह तीन लोक, तीन काल का समय कितना बड़ा है ? इतने बडे काल के सामने थोड़े से जीवन के लिए पर में अपना उपयोग फँसाकर अपना जीवन बरबाद करने में अपनी कुछ भी भलाई नहीं है। काम पडेगा अपने आपसे, इस समागम से काम न पडेगा। मैं अपने आपके बारे में यह परिचय कर लूँ कि वास्तव में मैं क्या हूँ? मुझे समझना है जीव के लक्षण को। तो यहाँ मूल में चर्चा यह चल रही है कि निर्दोष लक्षण क्या होता है जिससे जानें कि यह मैं आत्मा क्या हूँ ?

सहज शाश्वत आनन्द पाने के लिए सहज स्वभाव के आलम्बन की आवश्यकता–जिस जीव को अपने आपका सत्यस्वरूप भान में आया है संत वही है, धन्य वही है, समृद्धिशाली वही है। बाकी लोग तो चाहे वे कितने ही धनी हों अथवा राज्य के अधिकारी हों, मालिक हों, समझो कि वे सब एक कीचड़ में जैसा पडे हुए हैं। जिनके उपयोग में खुद नहीं समाया है, बाह्य पदार्थ समाये हुए हैं वे तो मूढ़ हैं, मलिन हैं। ऐसे लोग पुण्य के उदय में चाहे संसार के कितने ही महान कहलाते हों, वे संसार के ही महान हैं, परमार्थतः महान नहीं हैं। तो यहाँ बताया जा रहा है आनन्द पाने का उपाय । आनन्द पाने के उपाय की जिनकी इच्छा हो उनको यह आवश्यक है कि वे आनन्द का स्वरूप और आत्मा का स्वरूप भली-भाँति समझ लें। और, उसी स्वरूप को समझने के लिए यह लक्षण का अध्याय चल रहा है। हमें जानना चाहिए अपने आपका लक्षण। तो हमारा लक्षण है, चिह्न है, असाधारण गुण है एक चैतन्यस्वभाव। उस चैतन्यस्वभाव में मग्न होने का हम आपको ख्याल होना चाहिए, उसकी दृष्टि होना चाहिए, इतना तो निर्णय कर ही लो पहिले। इस चित्स्वभाव के आश्रय के अतिरिक्त अन्य सब बेकार विषयों का जो आलम्बन है वह नितांत अनर्थक है, घर, वैभव, परिजन, इज्जत इन सबका लगाव आत्मा के लिए एक विडम्बना है, इतनी बात तो ध्यान में आनी ही चाहिए। यह बात अगर समझ में नहीं है तो वह धर्मपालन का अधिकारी नहीं है। भले ही लोकव्यवहार में धर्मपालन के नाम पर पूजा हो, समारोह हो और भी बडे-बडे धार्मिक कार्य हों, लेकिन कर्म का बन्ध, कर्म की निर्जरा, कर्म का संवर जिस परिणाम के निमित्त से होता है वह उसे तो उन्हीं परिणामों से होगा, बाहरी बातों से नहीं। आडम्बर दिखावट से कुछ अन्तर न पडेगा, क्योंकि कर्म तो जड़ चीज है, उसका निमित्तनैमित्तिक सम्बंध जिस तरह से है उस तरह से होगा। अतः उससे बचने के लिए अन्तःशुद्धि चाहिए।

कर्मनिर्जरा की दिशा में व्यवहार-सुधार का प्रथम यत्न दयावृत्ति–कर्मनिर्जरा का मूल उपाय है अपने स्वभाव का आश्रय करना। उस स्वभाव का आश्रय करने के लिए जब कि यह जीव अनादि से अथवा इस जीवन में जन्म से विषयकषाय, रागद्वेषादिक में लगे हुए हैं, तो ऐसे लोगों को कुछ अपना व्यवहार सुधार करना ही होगा। इसके बिना यह पात्रता न जगेगी कि इस चैतन्यस्वभाव का आलम्बन कर सकें। वह व्यवहार क्या हो? इसे संक्षेप में कहा जाय तो यों कहेंगे कि अणुव्रतरूप व्यवहार होना चाहिए। अहिंसाणुव्रत-- किसी दूसरे जीव को मेरे कारण क्लेश न हो या मैं किसी के क्लेशरूप यत्न न करूँ, मैं अपने परिणामों में दूसरों के प्रति बुरे भाव न रखूँ। यह होना चाहिए अहिंसाणुव्रत में बाह्य प्रवृत्ति–देखिये, जगत में जो अन्याय किया जाता है वह परिग्रह के लोभ में किया जाता है, इज्जत के लोभ में किया जाता है, पर ज्ञानी को विदित होता है कि यह समस्त परिग्रह तो एक पिशाच का संग है। इज्जत का लगाव यह तो कोरी मूढ़ता है। किनसे इज्जत चाहना? जगत में ये जितने दिखने वाले लोग हैं ये कर्मों के प्रेरे, जन्म-मरण के दुःखी और अनेक प्रकार की इच्छायें रखकर इनका मरण होता है। और, वह इज्जत भी क्या चीज है? वह तो एक स्वार्थवश दो शब्द किसी ने गा दिये। यह तो सब मायामय व्यवहार हो रहा है। तो इस मायामय व्यवहार में सार समझना, नाम इज्जत समझना यह तो कोरी मूढ़ता है। तो यहाँ किनके लिए

अन्याय करना? परिग्रह का संग है। प्रथम तो परिग्रह अपना कुछ है नहीं। परिग्रह अधिक हो गया तो उससे आत्मा का क्या उत्कर्ष हो जायेगा? मान लो यहाँ से मरकर पशु-पक्षी, कीड़ा-मकोड़ा आदि हो गए तो कौनसा लाभ लूट लिया जायेगा? यहाँ तो देव भी मरकर कुत्ता बन सकता है, राजा भी मरकर कीड़ा हो सकता है। यह विपत्ति तो सिर पर पड़ी है, उसकी चिंता नहीं करते, यहाँ के व्यर्थ के माया-भ्रम में पड़कर अपने होश को खो रहे हैं। यह कोई बुद्धिमानी नहीं है।

अन्याय-त्याग में अहिंसा-वृत्ति की संभवता–भैया ! सोचो तो किनके लिए दूसरों पर अन्याय करना? जो बताया गया है कि मिथ्यात्व, अभक्ष्य, अन्याय का त्याग करने पर ही आत्मा का हित हो सकता है, ऐसा पढ़ तो सभी लोग लेते हैं, पर चित्त में यह बात नहीं जमती कि एक-एक अक्षर का भाव इस चित्त में बसाने लायक है। देखिये, अन्याय का भाव- जिसकी अन्यायरूप प्रवृत्ति है उसने यह ध्यान में नहीं रखा कि जगत में सभी जीव मेरे स्वरूप के समान है। ऐसा ध्यान में रखने वाले व्यक्ति से अन्याय, अभक्ष्य आदि के कार्य न हो सकेंगे। सबका स्वरूप एक समान है, यह बात जब दृष्टि में नहीं रहती है और कुछ स्वार्थ-वासना बढ़ती है तो अन्यायरूप प्रवृत्ति होती है। उस अन्याय करने वाले पुरुष को अपना कुछ भी होश नहीं है। अन्याय यही है कि अगर अपना दिल किसी बात से दुखता है तो वह बात दूसरों पर ढा देना। हम ऐसे कार्य न करें कि जिससे दूसरों को कष्ट हो। अन्याय करना छोड़ दें तो हमें धर्मपालन का अधिकार मिलेगा अन्यथा धर्मपालन का अधिकार नहीं मिलता। यहाँ कोई लोग जानें या न जानें कि यह वास्तव में धर्मपालन कर रहा है, चाहे कोई उल्टा ही समझे, चाहे कोई निन्दा भी करे, उससे अपने में कुछ प्रभाव नहीं होता, पर अपने आपका अगर श्रद्धान गलत हो गया, अपने आपका वह चैतन्यस्वरूप उपयोग में न रहे तो यहाँ बिगाड़ हो गया। दुनिया में कुछ भी रहो, पर अपने आपको अपनी दृष्टि में रखोगे तो आपने विवेक किया और यदि स्वयं दृष्टि में न रहे तो दूसरे कोई क्या कर देंगे? कोई किसी का मददगार है क्या, शरण है क्या? सब बेकार की बातें हैं। तो अहिंसारूप व्यवहार हो।

अभक्ष्यत्याग में अहिंसावृत्ति का उद्भव–अहिंसारूप व्यवहार में अभक्ष्य का त्याग होना ही होगा। जिन पदार्थों में त्रस जीव रहते हैं ऐसे पदार्थों को जो कुचल डालता है, भक्षण कर डालता है वह तो समझो कि उन जीवों को अपने पेट में डाल लेता है। पेट को एक श्मशान जैसा बना लेते हैं। अरे ! जहाँ मुर्दा गाड़ा जायें वही तो श्मशान है, और कीड़े जिसमें पड़ गए हों, वे कीड़े चाहें दिखें अथवा न दिखें, उन चीजों को कोई खाये तो उसका अर्थ यही तो हुआ कि अपने पेट में मुर्दों का ढ़ेर लगा लिया अर्थात पेट को एक श्मशान बना लिया। ऐसा व्यक्ति धर्मपालन का पात्र नहीं हो सकता है। उसे अपने स्वरूप की कहाँ सुध है? गोभी का फूल कितना अभक्ष्य है? उसमें तो साक्षात् जीव नजर आते हैं, लेकिन न जाने कैसा चित्त है लोगों का कि उसे नहीं छोड़ पाते। विवेकीजन तो छोड़ देते हैं पर अक्सर लोग यही सोचते हैं कि अगर गोभी का फूल हमनें छोड़ दिया तो फिर क्या होगा? अरे ! दुनिया में हजारों चीज हैं खाने-पीने के लिए। अगर त्रस जीवों के साक्षात् घात

होने वाली चीजों को छोड़ दें तो कुछ बिगाड़ नहीं होता है, मगर लोग सोचते है कि मेरे स्वाद में अन्तर आ जायगा, इसलिए वे नहीं छोड़ते। अरे ! अगर यहाँ से मरकर पशु-पक्षी, कीडा़-मकोडा़ आदि हो गए तो फिर क्या हालत होगी? वहाँ फिर क्या मौज रहा? क्यों व्यर्थ में अन्यायी बनते हो? जो चीजें त्रस जीवों के घात से युक्त हैं उनका त्याग होना चाहिए। शराब, अंडा, मांस आदिक की तो बात ही क्या कहना? उनका तो नाम लेने में भी संकोच होता है। आजकल तो लोग नाम भी उनका ले लेते हैं मगर कुछ समय पहिले लोग इन चीजों का नाम लेने में भी संकोच करते थे। अगर कोई मांस खाता था तो उसे कहते थे कि यह तो मिट्टी खाता है। आजकल बहुत से लोगों की ऐसी प्रवृत्ति हो गई है कि बाजार के दही, रबडी़, जलेबी, चाट, पकौडी़ आदिक को बडे शौक से खाते हैं व खाने में बडा़ मौज मानते हैं पर उन्हें यह पता नहीं कि उसमें कितने जीवों की हिंसा होती है, न जाने वे कितने दिनों की बनी होती है, न जाने किस-किस प्रकार की चीजों से बनती है? तो वे चीजें तो महा अभक्ष्य हैं। परन्तु रसना इन्द्रिय के वशीभूत होकर लोग उन्हें खाते हुए बडा़ मौज मानते हैं। इस रसना इन्द्रिय के वशीभूत होकर ये प्राणी इस संसार में घूमते हैं। अपने को असंयमी बनाकर कुयोनियों में भ्रमण करते हैं। तो ठीक है, खूब असंयम में रहें। लेकिन जिन्हें अपने आप पर कुछ दया हो उन्हें चाहिए कि वे असंयम की प्रवृत्ति से हटें, संयम की प्रवृत्ति बनायें। देखो अपने को यदि मैं अब बहुत-सी चीजों से विरक्त हो रहा हूँ, अपने आत्मा की आराधना का पात्र बन चला हूँ, इसमें तो हर्ष मानना चाहिए। अपनी प्रवृत्ति अणुव्रतरूप हो तो जीव का उद्धार हो सकता है।

आत्मोद्धार के लिये सत्य-व्यवहार की आवश्यकता–दूसरी बात सत्याणुव्रत की देखिये लोग तो बिना प्रयोजन भी झूठ बोलने में बडा़ चैन मानते हैं। जैसे एक कथानक है कि एक आदमी को झूठ बोलने की बडी़ आदत थी, इसी कारण वह किसी नौकरी में नहीं टिक सकता था। एक बार उसने किसी सेठ से कहा कि मुझे नौकरी चाहिए। ...क्या चाहिए? ...बस खाना-पीना और वर्ष में एक बार झूठ बोलना। सेठ ने सोचा कि ऐसा सस्ता नौकर और कहाँ मिलेगा? सो रख लिया। बहुत दिनों तक वह नौकर ठीक-ठीक काम करता रहा। वर्ष के अंतिम दिनों में उसके मन में आया कि झूठ बोलना चाहिए। सो सेठानी से कहा-तुम्हें मालूम भी है? सेठजी तो रोज रात को वेश्या के घर जाते हैं। तुम्हें विश्वास न हो तो एक परीक्षा कर लो। तुम रात को सेठजी की एक ओर की हजामत बना दो (कुछ उस्तरे ऐसे भी आते है जो सोते हुए में भी हजामत बना लो फिर भी पता नहीं पड़ता) जब एक ओर बनी हजामत लेकर सेठजी वेश्या के घर जायेंगे तो वहाँ उनकी हँसी होगी, कुछ बात होगी तो सारी पोल खुल जायगी। उधर सेठ से ऐसा कह दिया कि आपकी सेठानी आज रात को उस्तरा लेकर आपका ही गला काटने आयगी। आपको मौज की कहाँ पड़ी है? सो रात को होना तो यही था। सेठानी उस्तरा लेकर गई। हजामत बनाने लगी। सेठ जाग गया और उसने तुरन्त समझ लिया कि हमारा नौकर ठीक ही कह रहा था। सो सेठ और सेठानी में बड़ी जोर की लड़ाई हुई। जब लड़ाई का बड़ा ही भयानक रूप उस नौकर ने देखा तो बोल उठा, बस अब मत लड़ो। हमारी नौकरी का वेतन हमें मिल चुका। हमने पहिले से ही तय कर लिया था कि हम वर्ष

में एक बार झूठ बोलेंगे। हमनें ही झूठ बोलकर ऐसी घटना उपस्थित करवा दी है। सेठ ने उस नौकर को भगा दिया। सोचा कहीं ऐसा न हो कि यह फिर कभी ऐसी परेशानी की बात डाल दे। तो अनेक लोग ऐसी आदत के होते हैं कि प्रयोजन कुछ नहीं फिर भी झूठ बोलने लगते हैं। अपनी सच्चाई से अपने को डिगाना न चाहिए। संसार में ऐसी कौनसी चीज प्राप्तव्य है जो किसी तरह झूठ बोलकर पा ली जाने लायक हो? अरे ! तुम्हारा बनकर यहाँ कुछ रहेगा क्या? मरण होने पर तो यहाँ का सब कुछ छूट ही जायगा। अपने को ऐसा सत्य पर अटल रखो कि जिससे कभी शल्य में न आ सकें, मायाचार में न आ सकें और अपने को धर्म का पात्र बनाये रखा जा सकें। सच बोलने की प्रवृत्ति कीजिए। अब उसमें नुकसान भी तो हर्ष से सह लीजिए। यहाँ का यह धन, वैभव, आनन्द मानने लायक नहीं है। दु:ख की बात तो ऐसी है कि देखिये, ये दु:ख बड़े-बड़े पुरूषों पर भी आये। भगवान आदिनाथ जब दीक्षित हुए तो 6 माह का तो उनका उपवास था। उपवास के बाद आहार को जब निकले तो 6 माह तक अंतराय हुए। भला बतलावो जो आहार की इच्छा से निकले और अंतराय आ जावें तो यह कितनी दु:खद बात है? जो आदि पुरुष थे, जिनके इन्द्र तक सेवक थे, जिनको लोग आज भगवान के रूप में मानते हैं, कोई आदिम बाबा कहते हैं, कोई शंकर कहते हैं, कोई ईश्वर कहते हैं, कोई ऋषभदेव कहते हैं। यों सारा संसार जिन्हें पूजता हो ऐसे महापुरूषों पर भी ये उपद्रव आये। फिर यहाँ हम आप पर तो कोई उपद्रव नहीं है। एक कल्पना का दु:ख मचा रखा है। धन-वैभव के संचय की दृष्टि से न जाने कितने-कितने अन्याय किये जाते, असत्य के व्यवहार करने में भी जरा संकोच नहीं करते। तो अपना एक सत्य का व्यवहार होना चाहिए।

आत्मोत्कर्ष के लिये अचौर्यव्रत के पालन की आवश्यकता–किसी भी वस्तु के लोभ में आकर उसके चुराने का भाव न जगे। ये सभी बातें यद्यपि मोही जीवों को भली लग रही हैं कि जरा-सा भी मौका मिल गया तो दूसरे की चीज चुरा ले गए, पर जरा सोचो तो सही कि इस धन-वैभव के संचय कर लेने से इस आत्मा का क्या भला हो जायगा? यह आत्मा तो अकेला ही है। अपने आपको देखो, अपने आप पर प्रसन्न हो, अपने आप पर दया करो। गृहस्थी है तो गृहस्थी के नाते उदयानुसार जो कुछ आये उसके अनुसार अपना गुजारा चलाओ और प्रसन्न रहो। ऐसी हिम्मत बनाओ कि उदयानुसार जो आना हो आये, हम उसी में अपना गुजारा चला लेंगे। इस धन-वैभव से हमारा उद्धार न होगा। उद्धार तो हमारा इस बात से होगा कि प्रभु का जो स्वरूप है वह कभी हमारी दृष्टि से ओझल न हो। ये बातें इसलिए कही जा रही हैं कि हम धर्मपालन के पात्र बनें।

आत्मोद्धार के लिये ब्रह्मचर्यव्रत की मुख्य आवश्यकता–हमारा व्यवहार ब्रह्मचर्य से पूर्ण होना चाहिए। वस्तुत: ब्रह्मचर्य तो है-ब्रह्म मायने आत्मा, उसके स्वरूप में रमना, लेकिन इस परमार्थ ब्रह्मचर्य के लिए साधक है यह लौकिक ब्रह्मचर्य। किसी भी बाह्यरूप को निरखकर किसी तरह का मन में विकार न करना और जानना कि ये सब असार हैं, मायारूप है, ये सब दु:खी प्राणी हैं, संसार में जन्म-मरण करने वाले हैं। यहाँ सार कुछ नहीं है। इस देह के समान अशुचि और कोई

चीज नहीं है। इसके अन्दर खून, मांस, मज्जा, मल, मूत्र, पसीना आदि महा अपवित्र चीजें भरी हुई हैं। इस शरीर को छोड़कर दुनिया में अन्य कुछ गंदा नहीं। लोग तो नापदान की नालियों को गंदा कह देते हैं मगर वहाँ भी है क्या? त्रस जीवों का समुदाय। जो वहाँ पर भरा हुआ है वही तो सारी गंदगी का कारण है। तो यह शरीर सबसे गंदा है। तो ऐसे अशुचि शरीर में प्रीति रखना अथवा कामभाव रखना यह तो एक बड़ी विडम्बना की बात है। ऐसा व्यक्ति धर्मपालन का अधिकारी नहीं हो सकता। तो सम्हालना है अपने आपको। अगर यों ही हठ किए रहे कि भाई संतो की बात तो सिर माथे मगर पनाला तो यही से निकलेगा अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ, तृष्णा आदि में ही डूबे रहेंगे। उपदेश भी सुनेंगे और परिग्रह भी बढ़ायेंगे। सोचना होगा कि ये सभी चीजें छोड़कर जाना है तो फिर कुछ समय पहिले से ही क्यों न इनसे विरक्त होकर अपने आत्मा का लाभ ले लें। अपना व्यवहार पवित्र हो, किसलिए, कि हम अपने आत्मा के धर्म का पालन कर सकें। हममें इस प्रकार की पात्रता रहे।

आत्मीय विकास पाने के लिये अपरिग्रही होने की आवश्यकता–परिग्रह पाप की बात देखिये- समयसार में इच्छा को परिग्रह बताया गया है। इच्छा अज्ञानमय भाव है। यह ज्ञानियों को नहीं होती। परिग्रह, परिसमता चारों ओर से विपदाओं को ग्रहण कर लेना यही तो परिग्रह है। लालच-ला और लच ये दो शब्द है। तू ला और मैं लच जाऊँ, तृष्णा-लोभ का रंग इतना गहरा है कि करणानुयोग के जानकार जानते हैं कि अन्य कषायें तो 9 वें गुणस्थान तक ही होती हैं पर यह लोभकषाय 10 वें गुणस्थान तक पायी जाती है। जब सब कुछ छूट ही जाना है तो लालच किसका करना? तो लोभ, लालच आदिक के रहते हुए हमारा व्यवहार ठीक नहीं रह सकता और हम धर्मधारण करने के विचार भी नहीं बना सकते। तो हम परिग्रह से मुख मोड़े, परिग्रह को ढीला बनायें। यह जानना होगा कि मेरे आत्मा का तो मात्र मैं ही हूँ, ये सब आज व्यवहार की बातें कही हैं जिनसे कि धर्मधारण करने की पात्रता आती है। मगर इससे ही सम्बंधित एक बात और भी कह दें कि कुछ तो ठीक व्यवहार होना ही चाहिए। जब आत्मा का यह शुद्ध चित्स्वभाव अनुभव में आ जायेगा, समझ में आ जायेगा तो व्यवहार कैसे पवित्र बनना चाहिए यह बात सब अपने आप सहज हो जायेगी। अत: दोनों ओर का व्यवहार पवित्र रखना होगा और अपना जीवन सफल होगा और कभी वह समय आयेगा कि संसार के संकटो से सदा के लिए मुक्ति हो जायेगी। इतना तो भाव बनायें कि जो चीजें छूटनी हैं उनसे प्रेम क्या करना, मोह क्या करना? विवेकपूर्वक, उदारतापूर्वक, उपेक्षापूर्वक रहना और अपने स्वरूप के सम्भाल की सुध बनाये रहना, यही अपने कल्याण का उपाय है।

सत्य आनन्द के लाभ के लिये आत्मस्वरूप के परिचय की मुख्य आवश्यकता–जीव की इच्छा है सुख, शान्ति प्राप्त करने की, तो इसी सम्बंध में कहा जा रहा है कि सुख, शान्ति कैसे प्राप्त हो? शान्ति पाने के उपाय में इतनी बातों की जानकारी करना बहुत आवश्यक है, जिनको इस ग्रन्थ के मंगलाचरण में बताया है। पहली बात समझें कि मैं कौन हूँ? इस बात का निर्णय किये बिना

आनन्द पाने का उपाय न बन सकेगा। जिसको आनन्द चाहिए उसका ही निर्णय नहीं है तो आनन्द पाने की विधि बनेगी कैसे? इसलिए सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि मैं कौन हूँ? इस सम्बंध में सभी जीव कुछ न कुछ जानते हैं। मैं अमुक चन्द हूँ, अमुक प्रसाद हूँ, इस पोजीशन का हूँ, मनुष्य हूँ। बल्कि जो गाय, भैंस आदिक के भव में हैं वे भी समझते हैं कि मैं यह हूँ। भले ही वे गाय, भैंस आदि इन शब्दों को नहीं समझते है लेकिन वे जिस पर्याय में हैं उस रूप में अपने को जानते है कि मैं यह हूँ। तो सभी जीव अपने आपके बारे में कुछ न कुछ समझते हैं, मैं हूँ ऐसा सभी को विश्वास है। अब मैं क्या हूँ बस इसका ही एक निर्णय करना होगा। तो यह निर्णय हर एक प्राणी नहीं कर सकता। जिसको कुछ ज्ञान मिला है जिसका भवितव्य उत्तम है ऐसा पुरुष ही इसका निर्णय कर पाता है कि मैं कौन हूँ? मैं कौन हूँ, इसका यदि यर्थाथ निर्णय करना है तो इस विधि से करें कि अपने आपके सम्बन्ध में यह समझकर करें कि मैं वह हो सकूँगा, जो सदा रहूँगा। अपने आप का विनाश किसे इष्ट है? तो मैं वह हूँ जो सदा रह सकता हूँ। मैं नाम वाला, इज्जत वाला, पोजीशन वाला या किसी पर्याय वाला यदि होता तो सदा उसी रूप में रहता पर उस रूप में सदा तो रहता नहीं। मैं वह हूँ जो सदा रह सकता हूँ। बस इस ही विधि से निर्णय किया जायेगा तो अपने आपका निर्णय हो जायेगा। मैं मनुष्य नहीं हूँ क्योंकि यह मनुष्यभव मिट जायेगा। मैं मिटने वाला नहीं। रागद्वेष, क्रोध, विचार, वितर्क ये भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि ये भी मिट जाते हैं। खूब देखते है कि सुबह क्रोध है, पर अब नहीं हैं। सुबह कैसे ही भाव हैं पर अब नहीं हैं, यदि मैं इन भावों रूप होता तो सदा वैसा ही रहना चाहिए था, पर मैं उन भाव रूप भी नहीं हूँ, मैं तो वह हूँ जो सदा काल रह सकताहूँ।

दुर्लभ नरजन्म से यथार्थ लाभ उठा लेने की प्रेरणा–देखिये- मनुष्यभव का पाना, जैन शासन का पाना, श्रेष्ठ कुल का पाना ये सब बड़ी दुर्लभ बातें हैं। जगत के पशु-पक्षी आदिक अन्य जीवों पर दृष्टि डालकर देखो- वे भी जीव है, हम आप भी जीव है, जीव के स्वरूप में कुछ फर्क नहीं है। वह तो एक पदार्थ है। पदार्थ का जो ढंग होता, स्वरूप होता है, वह सब पदार्थों में उसी प्रकार होता है। तो मेरे ही जैसे जीव सब हैं, इसका अर्थ यही है कि जो इन समस्त जीवों की हालत है वही हालत हम आपने भी पाया और आगे भी पा सकते हैं। तो अब यह विचार में लायें कि यह जीवन कितना व्यर्थ का है? जब हम दूसरे जीवों को देखते हैं, उन पर जो हालत गुजर रही है वही हालत हम आप पर भी तो गुजर सकती है। अन्य जीवों की ये अवस्थायें इस बात का अनुमान करा देती है, कि कुछ समय बाद यह देह भी छूट जाने वाली है। मैं एक अकेला रह जाऊँगा, मुझे आगे जाना है, हम आगे क्या बनेंगे, कैसे रहेंगे, इस पर भी तो दृष्टि देना है। अपने आपके बारे में तो इस जिंदगी-भर का प्रोग्राम बना लेते है, ऐसा व्यापार करते, ऐसा ढंग बनाते कि सारी जिंदगी भर कष्ट न भोगना पड़े। आगे बढ़ो तो ऐसी मोह की बात उनमें है कि वे सोचते है कि इतना जोड़कर रख जाओ कि ये नाती-पोते भी कभी कष्ट का अनुभव न करें। लेकिन क्या कभी कोई ऐसा भी प्रोग्राम बनाता कि अब ऐसा कर लें, ऐसा पुरुषार्थ कर लें कि जिससे भवभव के क्लेशजालों से मुक्ति प्राप्त हो जाये? ऐसा तो कोई नहीं सोचता। अरे ! जो असार बातें हैं, जिनसे कुछ भी संबंध

नहीं, जिन पर अपना कुछ भी अधिकार नहीं उनके बारे में तो विकल्प करते हैं, पर जिस पर अपना अधिकार है, जिसको हम बना सकते हैं उसके बारे में कुछ नहीं सोचते। यदि यह बुद्धि जगी हो कि मुझे तो ऐसा पुरुषार्थ चाहिए, ऐसा प्रकाश चाहिए, अत: ऐसा करना चाहिए कि मैं भविष्य में आकुलित न रहूँ और क्लेशों से दूर रहूँ, तो मार्ग मिल जायेगा।

आत्मसामर्थ्य के भान की ओर–आत्मा में बहुत बड़ा सामर्थ्य है। (यहाँ ज्ञानमय की और ज्ञानसामर्थ्य की बात कह रहे हैं) आत्मा को जो चाहिए, जिसमें आत्मा का आनन्द रह सकता है, ऐसी बात के लिये आत्मा में बहुत बड़ा सामर्थ्य है उस सामर्थ्य का हम सदुपयोग नहीं करते। सामर्थ्य का सदुपयोग यह है कि हम अपने आपके बारे में कुछ प्रकाश पायें, समझें। यह जानने वाला मैं दुनिया के किसी पदार्थ को जानने चलता हूँ तो जानने लगता हूँ, जानता रहता हूँ, और जानने वाला यह खुद कैसा है, इसकी जानकारी न बने, यह कैसे हो सकता है? हम अपनी जानकारी कर सकते हैं पर जानकारी करने की रुचि जगनी चाहिए। हमारी जानकारी हमें बराबर हो सकती है। इसके लिए आत्मस्वभाव की रुचि चाहिए, परद्रव्यों की उपेक्षा चाहिए। परद्रव्यों की उपेक्षा के लिए तीन बातों का विचार करो- पहली बात तो यह है कि ये परद्रव्य मेरे किस काम के हैं? मुझको ये क्या दे सकते हैं? इस बात का भली प्रकार विचार करिये। आत्मा का सुख इस समय भी हमारी कल्पना और ज्ञान के अनुसार चल रहा है। घर के कारण नहीं चल रहा कि घर अगर चार खण्ड का बन गया है तो इससे हमारा सुख बढ़ गया है, बच्चे लोग काफी पढ़-लिख गए हैं, उनकी संख्या भी काफी हो गई हैं इससे हमारा सुख बढ़ गया है अथवा अन्य-अन्य भी अनेक बातें है, पर इनमें कुछ भी सुख की बात नजर नहीं आती। खूब ध्यान से सोच लीजिए कि इस समय भी सुख, ज्ञान और कल्पना के अनुसार है। जिसकी जैसी कल्पना है उसके अनुसार उसको सुख और दु:ख है। बाहरी चीजों के अनुसार सुख और दु:ख नहीं हैं। जो बात सुनें, समझें वह यथार्थता का निर्णय करते हुए सुनें। गलत हो तो उसके बारे में चर्चा करें और उसके बारे में धारणा विचार करें।

ज्ञानानुसार आनन्द गुण के परिणमन का लाभ–इस समय भी हम आपको सुख मिल रहा है वह ज्ञान और कल्पना के आधार पर है। बहुत कुछ सुख सुविधायें पाने पर भी यदि कल्पना ठीक नहीं है, तृष्णा चल रही है तो वह सुखी नहीं है, और वह बड़े कष्ट में है। यदि अपने भीतर की कल्पना विशुद्ध है तो भीतर में कोई अधीरता नहीं है। ज्ञानप्रकाश है तो उस ज्ञानप्रकाश का इतना माहात्म्य होता है जिसको देखकर दूसरे लोग समझें कि यह तो बड़ी विडम्बना में है, बड़े आरम्भ में है और वहाँ भीतर में देखिये तो कुछ नहीं। बड़े-बड़े मुनिराज खूब तपश्चरण करते है। उनके तपश्चरण को देखकर लोग यह कह उठते हैं कि यह तो बड़े कष्ट में हैं पर वहाँ कुछ भी कष्ट नहीं। उन्हें भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि की कुछ भी परवाह नहीं। उन्हें कष्ट का अनुभव नहीं हो रहा बल्कि उनके अंतरंग में एक अद्‌भुत आनन्द बढ़ रहा है। तो वह क्या बात है? वह सब ज्ञानप्रकाश की बात है। सुख और दु:ख, कल्पना और ज्ञानप्रकाश के अनुसार चलते हैं। बाहरी बातें देख करके सुख-दु:ख

का निर्णय मत करो। ये सुख-दु:ख तो अपनी कल्पनाओं के आधार पर निर्भर हैं। तब फिर सुख की वृद्धि के लिए बाहर में कुछ करना है या भीतरी कल्पना में? जो बात सही है वहाँ अपना निर्णय निश्चित तो बनायें। सुख, शान्ति की वृद्धि के लिए बाहर में करने को कुछ नहीं पड़ा है, किन्तु भीतर में ही करने को पड़ा है। मान लो, दुनिया में इज्जत बढ़ गई, लखपति, करोड़पति हो गए तो उन दूसरों के समझ लेने से आपके आत्मा में कौनसी वृद्धि हो गई? आत्मा का कुछ भी तो उससे लाभ नहीं होता। तो यह समझ लीजिए कि बाहरी जितने भी परिग्रह हैं, समागम हैं, वैभव हैं वे सब परपदार्थ हैं और उनसे इस मुझ आत्मा को मिलता कुछ नहीं है। प्रत्येक परिस्थिति में आत्मा को सुख अथवा दु:ख आत्मा के ज्ञान और कल्पना के आधार पर चलता है। कोई ज्ञानी पुरुष है, उसका यह निर्णय है कि कोई मुझे न समझे तो न समझे। मैं तो अपने ज्ञान में अपने को स्पष्ट तक रहा हूँ। मेरी दुनिया, मेरा वैभव, मेरा सब कुछ जो मुझमें है वह मेरे द्वारा मेरे प्रकाश में है। उसको अन्य से क्या मतलब? बुद्धिमानी तो इसी में है कि ऐसा कुछ अंत:पौरूष कर लेवें कि सदा के लिए हमारे संकट मिट जायें। यहाँ की आँखों देखी शर्म, जिसे कहते हैं लोकलिहाज, उसकी उधेड़-बुन में रहकर अपने इस जीवन को फँसा लेते हैं, तो यह क्या है? ये सब चीजें कितने दिनों के लिए हैं, यहाँ का कोई भी पदार्थ इस आत्मा का साथ न दे देगा।**स्वयं के भविष्य की स्वयं पर जिम्मेदारी**–आज के जीवन में मान लो कोई बड़ा पुरुष पागल हो जाय, दिमाग खराब हो जाय तो फिर उसका कोई साथी है क्या? नहीं है। तो फिर दूसरे लोग कब तक साथी हैं? तभी तक जब तक कि उनका कुछ स्वार्थ सधता है। इन स्वार्थी जनों को अगर साथी कहते हो तो कह लो, मगर इनके सम्बंध में भी निर्णय कर लो कि ये कब तक के साथी हैं, जब तक कि हमारा ज्ञान सही है, हमारा आचार सही है। जब तक हम सँभले हुए हैं तभी तक ये दूसरे लोग भी साथी हैं। अगर हम ही बिगड़ गए, हम ही ढंग से न रहे तो फिर कोई साथ देने वाला नहीं है।

यही बात सबकी है। तो अपने जिम्मेदार आप स्वयं हैं। मैं भविष्य में क्या रहूँगा, किस ढंग में रहूँगा यह बात किसी दूसरे के अधीन नहीं है, वह तो खुद के ही अधीन है। कर्मसिद्धांत में जो बताया है वह निमित्तनैमित्तिक भाव की बात है। हम जैसे भाव करते हैं वैसे ही कर्म तुरन्त बँध जाते हैं। कर्म बँध गया, अब बँधा हुआ कर्म आबाधाकाल के बाद उदय में आता है। इसको मोटे शब्दों में यों समझो कि जैसे किसी ने कर्म बाँधा मानो 10 अरब वर्ष का। ये कर्म 10 अरब वर्ष तक तंग करेंगे। तो वे तंग करना कबसे प्रारम्भ करेंगे? उसकी आबाधा होती है। जैसे मान लो ये 20 वर्ष बाद तंग करेंगे तो आज का बाँधा हुआ कर्म 20 वर्ष तक फल न देगा। 20 वर्ष के बाद फिर बीस वर्ष कम 10 अरब वर्ष तक फल देता रहेगा। तो लोग आज पाप करते हैं और तुरन्त उसका फल वे नहीं पाते हैं तो लोग संदेह करने लगते हैं कि देखो कहा तो जाता है कि जो जैसे कर्म करता है वैसा फल पाता है, पर देखो ये अमुक लोग कितने हिंसात्मक कार्य कर रहे हैं फिर भी मौज में रहते है। तो इसमें शंका करने की जरूरत नहीं है। लोग तो ऐसी बातें देखकर शंका कर बैठते हैं और अपने श्रद्धान को बिगाड़ लेते हैं। पर इस बात को करणानुयोग से जानना

चाहिए। वहाँ बताया कि जो जीव जैसे कर्म करता है उसका फल वह नियम से भोगेगा।

ज्ञान व संयम के बल से पूर्वबद्ध कर्मों के निर्जरण की संभवता–हाँ, अगर पूर्व बँधे हुए कर्मों को खिराना है तो उसके लिए बड़ा ज्ञानबल चाहिए, बड़ा संयम चाहिए। करोड़ों जन्मों में भी तप करके कोई जितने कर्म खिरा सकता है उतने कर्म कोई ज्ञानी जीव अपने ज्ञानस्वभाव का आश्रय लेने के प्रताप से एक सेकेण्ड में खिरा सकता है। ऐसा ज्ञान का माहात्म्य है। मान लो एक अज्ञानी जीव है, जिसे रास्ते का पता नहीं कि किस रास्ते से चलना है, उल्टा रास्ता चल पड़ा। मान लो, जाना तो था पश्चिम दिशा के किसी नगर में और चल पड़ा पूरब दिशा की ओर। चाहे किसी सवारी से बड़ी तेजी से जाए, फिर भी वह तो भटकता ही फिरेगा। और अगर कोई बिना किसी सवारी के, पैदल ही सही दिशा में चलता जाय तो कुछ दिन बाद तो वह पहुँच ही जायगा। और, जितना भी वह पैदल चलकर गया उतना निकट तो पहुँच ही गया। तो इसी तरह से समझिये कि जिसे कर्मों की निर्जरा करने के ढंग का ही पता नहीं है वह तो चाहे धर्म के नाम पर, तपश्चरण के नाम पर करोड़ों जन्मों तक कठिन से कठिन तप क्यों न करे फिर भी उसका वह तपश्चरण निष्फल हो जायगा। कर्म के खिरने का काम तो शुद्ध ज्ञान से चलता है, अपने आत्मा के चैतन्यस्वरूप के बोध से चलता है। तो जिसे ज्ञान नहीं है वह करोड़ों जन्म तक तप करके भी अपने पूर्वबद्ध कर्म न खिरा पाएगा और जो ज्ञानीजन हैं, वे अपने ज्ञानस्वभाव के आश्रय से क्षण मात्र में ही अपने पूर्वबद्ध कर्मों को खिरा लेते हैं। तो जरा चिन्ता करें अपनी, दया करें अपनी, कुछ विचार करें अपना। मेरा कोई साथी नहीं है, मेरा साथी मेरा ज्ञान है, मेरा आश्रय, मेरी आत्मा मेरा साथी है, उसकी सँभाल करें, उसको प्रबल बनायें, अपनी ज्ञानवृद्धि, ज्ञानार्जन, ज्ञानदृष्टि का यत्न करें तो आराम मिलेगा, शान्ति मिलेगी, कर्म कटेंगे। यदि यही न किया गया तो चाहे कितने ही लोक में बड़े कहलायें फिर भी उस बड़प्पन से आत्मा का कुछ भी कल्याण नहीं है।

निर्भ्रान्त आत्मज्ञान के बल पर ही आत्महित की संभवता–भैया ! यदि अपना ज्ञान भ्रम में ही पड़ा रहेगा तो यह संसार-बंधन बढ़ाता ही चला जायगा। तो शान्ति प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है कि मैं यह जान लूँ कि मैं क्या हूँ? मैं क्या हूँ, इसके परिचय के लिए लक्षण की बात कही जा रही है। किसी भी बात को, किसी भी पदार्थ को कोई समझता है तो चिह्न से, लक्षण से समझता है। अब आत्मा को समझने का क्या चिह्न है? किसके द्वारा हम आत्मा को समझें? कोई चिह्न बाहर नहीं है। इसी कारण प्रवचनसार में इसे अलिंग कहा है। किसी भी लिंग से इसका ग्रहण नहीं होता। कानों से सुनकर आत्मा को परख लिया जाय, क्या ऐसा किया जा सकता है? अथवा आँखों से देखकर, नाक से सूँघकर, या जिह्वा से चखकर क्या आत्मा का परिचय लिया जा सकता है? नहीं लिया जा सकता। आत्मा का चिह्न ही कुछ बाहर नहीं है। यह आत्मा रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित है। इन पंचेन्द्रियों के द्वारा इस आत्मा को नहीं परखा जा सकता है। जब पंचेन्द्रियों का व्यापार बन्द किया जाय, क्योंकि यह व्यापार विरूद्ध-व्यापार है। जब-तक यह इन्द्रिय-व्यापार चलेगा तब तक आत्मा समझ में न आ सकेगा तो सर्वप्रथम इन्द्रिय का व्यापार

दूर करें, कानों से सुनना बंद करें, यह तो एक बड़ी कठिन बात है। कानों में कोई पर्दा तो है नहीं इसलिए कानों से एकदम से सुनना खतम बड़ी कठिन बात है। अगर कोई कानों में अंगुली लगा कर बैठ जाय और कहे कि लो मैं अब कुछ भी न सुँनूगा तो वह ऐसा कर न सकेगा, क्योंकि फिर तो उसका दिमाग कानों में लगी हुई अंगुलियों पर ही धरा रहेगा। तो कानों का व्यापार बंद करना कठिन है। हाँ यदि अन्य इन्द्रियों का व्यापार करके ज्ञान को ज्ञान में लगाया जाय तो कानों का व्यापार बंद हो जायगा। यहाँ भी तो देखते हैं कि किसी पुरुष का चित्त किसी बाहरी बातों में बहुत तेजी से लग जाता हैं तो उसे हल्ला नहीं सुनाई देता। तो कानों का व्यापार बंद करना हमारी वृत्ति पर निर्भर नहीं हैं, वह तो ज्ञानवृत्ति पर निर्भर है। अब उससे आगे चलो-आँखें बंद करना तो आसान है। आँखों में ऊपर और नीचे के दो पट ऐसे हैं कि जिनको बंद कर देने पर इन्द्रिय व्यापार खत्म हो जाता है। तो इन आँखों का व्यापार बंद करें। यहाँ ऐसी कौनसी चीज है जो देखने लायक हो? कोई नाम तो बताओ। घर, ईंट, पत्थर अथवा स्त्री, पुत्रादिक परिजन ये सब मेरे आत्मा से कुछ संबंध रख रहे हैं क्या? ये मेरा कोई उद्धार कर रहे हैं क्या? यह बतलाओ कि यहाँ आँखों से देखने योग्य है क्या चीज? हाँ, कुछ हद तक वीतराग भगवान पंचपरमेष्ठी ये देखने योग्य हैं। जब जगत में देखने योग्य कुछ है ही नहीं तब फिर आँखों का ज्यादा परिश्रम न कीजिए। आँखों में लगे हुए जो ढक्कन हैं उनका उपयोग कीजिए। और नीचे उतर कर देखिये-नाक। इसको तो बंद करने की कुछ जरूरत भी नहीं है। हाँ जो गंध-सुगंध सूँघने का मन करता है उसको दिल से हटा दें। क्या रखा है उन सुगंधों में? उससे आत्मा का कल्याण क्या होता है? और नीचे चलो-जिह्वा, मुख। इसको भी बंद करने के लिए दो ढक्कन मिले हुए हैं। दोनों ओंठ बंद कर लें तो सारा वचन-व्यवहार खत्म। लोक में जो फंसाव है वह बोल चाल का है। बोलने से सभी इन्द्रियों का फँसाव बढ़ता है। आँखों से देख लिया, मुख से बोल दिया, लो राग बढ़ गया। राग बढ़ने से पराधीनता बढ़ी। ऐसी ही बात स्र्पशनइन्द्रिय की है। तो इन इन्द्रियों का व्यापार बंद करके फिर अंतरंग में कुछ निरखे तो अपने आपकी निरख बन सकेगी। केवल एक ज्ञानप्रकाश, भाव ही भाव, चैतन्यमात्र, हल्का प्रकाश अपने-अपने ज्ञान में आयेगा। आनन्द उस ही अनुभव में है, इन बाहरी चीजों के अनुभव में आनन्द नहीं है। आनन्द पाने के लिए सबसे पहिले यह निर्णय करना होगा कि मैं क्या हूँ ?

आत्म-परिचय के उपायभूत प्रमाण के वर्णन का उपक्रम–पदार्थ का परिचय किन उपायों से होता है, उसकी बात चल रही है। यहाँ तक यह बताया है कि लक्षण से पदार्थ की पहिचान होती है। पदार्थ में जो प्रसिद्ध चिह्न देखा जाता है जिस चिह्न में कोई दोष न आये तो उस चिह्न से पदार्थ का परिचय होता है। जैसे आत्मा का लक्षण चैतन्य ज्ञान। यह एक आत्मा का चिह्न है जो यद्यपि इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जाता है, किन्तु ज्ञान द्वारा समझ लिया जाता है। तो वह आत्मा का लक्षण हुआ। लक्षण से आत्मा का परिज्ञान और अन्य पदार्थों का परिज्ञान होता है। अब दूसरा उपाय कह रहे हैं प्रमाण। सच्चे ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। यद्यपि पदार्थ के परिचय का सही उपाय प्रमाण ही है, क्योंकि लक्षण के कहने में ज्ञान हुआ तभी तो जाना। लक्षण से पदार्थ जाना

जाता है यह कथन उपचरित है। लक्षण के सच्चे ज्ञान से पदार्थ जाना जाता है यह बात सही है। तो लक्षण है पदार्थ के जानने का उपाय, ऐसा कहने में भी ज्ञान की बात का निमित्त ही हुआ कि सच्चे ज्ञान से पदार्थ पहिचाना जाय। यहाँ सीधा कथन करते हुए दूसरा उपाय बता रहे हैं कि पदार्थ के सच्चे ज्ञान से पदार्थ का परिचय होता है।

प्रमाण में अर्थात सच्चे ज्ञान में संशय का अनवकाश–सच्चा ज्ञान क्या कहलाता? सच्चे ज्ञान में संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय-ये तीन प्रकार के दोष नहीं होते। यहाँ लौकिक तत्त्व के सम्बन्ध में भी सच्चा ज्ञान तभी कहलाता है जब उसमें न तो संशय हो, न विपर्यय हो और न अनध्यवसाय हो। संशय नाम है दो विरूद्ध कोटियों का स्पर्श करने वाले ज्ञान का अथवा अनेक विरूद्ध दो कोटियों का स्पर्श करने वाले ज्ञान का। जैसे यह ज्ञान करना कि यह सीप है या चाँदी। कोई सामने चमकती हुई चीज नजर आई, अब उसमें सफेद होना, आकार होना यह तो दोनों में समान रूप से पाया गया। चाँदी भी इसी तरह की होती है और सीप भी। अब सीप और चाँदी में जो विशेष धर्म होते हैं उनका ज्ञान नहीं हुआ। तो यहाँ जैसे संशय हुआ कि यह सीप है या चाँदी तो यह ज्ञान निर्दोष न कहलायेगा। कोई पुरुष समझ रहा है, ऐसा संशय कर रहा है कि यह सीप है या चाँदी, तो उस ज्ञान से उसे क्या फायदा मिला? कुछ भी फायदा न मिला। वह सच्चा ज्ञान नहीं है। सच्चे ज्ञान से लाभ अवश्य मिलता है। चाहे किसी भी प्रकार का लाभ समझ लो शान्ति हुई, संसार की अपेक्षा कोई स्वार्थ सिद्ध करने का यत्न किया ये सब बातें लाभ के लिए जान ली जायें, तो संशय ज्ञान सच्चा ज्ञान नहीं है। सच्चा ज्ञान वह है जहाँ संशय न मिलता हो। संशय तो एक शल्यस्वरूप है। कुछ निर्णय ही नहीं है। आगे यह कुछ बढ़ ही नहीं सकता। तो संशय-रहित जो ज्ञान है वही सच्चा ज्ञान होता है।

प्रमाण में विपर्यय दोष का अभाव–दूसरा दोष है ज्ञान का विपर्यय। किसी पदार्थ के बारें में विपरीत ज्ञान बन जाय, हो तो कुछ और मान ले कुछ, इसी को ही विपरीत कहते, भ्रम कहते। जैसे किसी पुरुष ने किया तो कुछ और मान लिया उससे विपरीत, उसे भ्रम कहते, विपर्यय कहते। जैसे एक कथा बहुत प्रसिद्ध है, अथवा समझिये उस समय की घटना है कि किसी समय एक मुनिराज ने एक नगर में चातुर्मास किया तो वह नगर से बाहर एक वृक्ष के नीचे ठहर गए चार महीने के लिए। उस नगर का भक्त एक सेठ था, वह भी मुनिराज के पास चार महीने के लिए उसी वृक्ष के नीचे ठहर गया। उसका पुत्र था कुपूत, इसलिए उसने क्या किया कि जहाँ मुनिराज के पास ठहरा वहीं एक हंडे में घर के सोना, चाँदी, हीरा, जवाहरात आदि कीमती चीजें गाड़कर रख दीया। सोचा कि यहाँ रक्षित रहेंगे। अब चार माह तो पूरे हो गए। उस चातुर्मास के बीच में ही उस कुपूत पुत्र ने जिसने देख लिया था अपने पिता को हंडा गाड़ते हुए, वह उस हंडे को खोदकर निकाल ले गया। मुनि तो चातुर्मास पूरा करके दूसरे नगर चले गए। सेठ ने बाद में देखा तो वहाँ हंडा न था। सेठ को यह भ्रम हो गया कि वे मुनिराज ही हमारा हंडा ले गए होंगे। सो सीधा मुनिराज के पास दूसरे नगर गया, वहाँ मुनिराज के सामने उसने कुछ ऐसी कहानियाँ कहीं जिनसे साफ जाहिर होता था

कि हमनें तो काफी दिन मुनिराज की सेवा की और मुनिराज हमारा धन का हंडा निकाल लाये। उत्तर में भी मुनिराज ने भी कुछ कहानियाँ ऐसी कहीं जिनसे साफ जाहिर होता था कि अरे ! सेठ तुझे मेरे प्रति व्यर्थ का भ्रम है, तेरा धन का हंडा कोई दूसरा ही ले गया है। तो मुनिराज ने जो कहानियाँ कही थीं उनमें से एक कहानी सुनाते हैं।

भ्रम और निर्भ्रम तत्त्व के उपासकों का परिणमन–किसी गृहस्थ के घर एक नेवला पला था, वह बड़ा समझदार था। एक दिन घर की मालकिन अपने बच्चे को पालने में लिटाकर पास के कुएँ से पानी भरने चली गई। उसी बीच क्या घटना घटी कि उस पालने के पास एक सर्प आया। नेवले ने यह जानकर उसके खण्ड-खण्ड कर दिये कि कहीं यह बच्चे को डस न ले। अब नेवले का मुख तो खून से लथपथ हो गया था, वह नेवला वाहवाही लूटने के लिए दरवाजे पर आ गया। उसने सोचा था कि मेरी मालकिन आज तो मेरे काम से बहुत खुश होगी। पर जब मालकिन आयी, नेवले का मुख खून से लथपथ देखा तो उसे यह भ्रम हो गया कि इसने तो आज मेरे बच्चे को खा डाला। सो पानी से भरा हुआ घड़ा नेवले पर पटक दिया। नेवला तो मर गया। बाद में मालकिन ने घर के अन्दर जाकर साँप के खण्ड-खण्ड पालने के पास देखे तो सारी बात समझ गई और बड़ा पछतावा किया। तो मुनिराज के कहने का आशय यही था कि मैंने तेरा धन का हंडा नहीं उठाया, तू व्यर्थ ही भ्रम करके मेरे ऊपर आरोप लगाता है। तो कहानी में विशेष बात यह नहीं कहनी थी। अब कुछ निर्णय समझना हो तो समझ लीजिए कि जिस समय सेठ मुनिराज से कहानियाँ कह रहा था और मुनिराज उसका उत्तर दे रहे थे तो वह कुपूत बालक सब बातें सुन रहा था। वह कुपूत बालक दोनों के मन की बातों को समझ गया। मुनिराज के प्रति पिता का ऐसा भाव देखकर उस कुपूत बालक को बड़ी विरक्ति उत्पन्न हुई, सोचा कि धिक्कार है ऐसे परिग्रह पर, जिसके पीछे बड़े-बड़े साधु संतो पर भी इस प्रकार का भ्रम किया जाय। उस समय वह बालक बोल उठा कि पिताजी आपका वह हंडा मैंने निकाल लिया था, और आप यह चॉबी लीजिए और घर में आराम से रहिए। मैं तो इन ही साधु महाराज से साधु-दीक्षा लेकर यहाँ रहूँगा। तो भ्रम की बात के लिए दृष्टान्त दिया गया है कि जिस बात में भ्रम पड़ा हो वह सच्चा ज्ञान नहीं है। पदार्थ का परिचय प्रमाण से होता है याने सच्चे ज्ञान से होता है। हमें अपने आपके आत्मतत्त्व का परिज्ञान करना है तो सच्चे ज्ञान से कर सकेंगे, जिसमें संशय न हो और अनिश्चय भी न हो। एक बार तो अपने जीवन में यह पक्का निर्णय बना लो कि जो कुछ संसार में आज समागम मिला है, (घर, वैभव, कुटुम्ब, देहादिक) ये सभी चीजें मेरी बरबादी के लिए हैं, न कि मेरे उत्थान के लिए। यह बात यदि सच हो तो मान लेना चाहिए। मोहवश, रागवश आप उस पर न चल सकें यह आपकी अलग बात है, लेकिन यथार्थ बात है तो मानना ही पड़ेगी आपको, और जब-तक आप नहीं मान रहे तब तक आपको यथार्थ स्वरूप का विश्वास नहीं है।

अ-स्व के समागम में स्वयं की उपलब्धि की असंगतता–जितने भी समागम हैं ये सब बरबादी के लिए हैं। किस तरह? मानते तो यों होंगे कि बड़े आराम से रहते हैं, सब प्रकार की सुविधा से रहते

है, दसों आदमी पूछते हैं, सभी प्रकार के अच्छे साधन जुटे हैं, इसमें हमारी बरबादी क्या है? इसमें तो हमारी श्रेष्ठता है। लेकिन इस समय की भी भीतर की बात तो तको, निरन्तर आकुलता मचाये रहते हैं। वैभव खूब हुआ तो क्या उससे शान्ति मिल पाती है? कितनी ही चिन्ताएँ, कितने ही भय, कितने ही संशय बने रहते हैं जिनसे निरन्तर आकुलित रहते हैं। लेकिन मोह के कारण आप अपने उन क्लेशों का अनुभव नहीं करते। दूसरी बात यह है कि इस भव में कल्पना से कुछ मौज मान लिया तो इतने से क्या गुजारा चल जायेगा? मरण के बाद फिर आप क्या बनेंगे? उसका अनुमान है संसार के जीवों की दशा क्या होगी? मान लो यहाँ से मरकर गाय, बैल, भैंस, घोड़ा आदिक हो गए, भले ही सेवा के लिए नौकर लगे हुए हैं, भूसा, दाना, घास आदिक समय पर मिल रहे हैं लेकिन वह जिंदगी भी क्या जिंदगी है? उन्हें आगे-पीछे का कुछ पता ही नहीं, कुछ होश ही नहीं, आत्मा के स्वरूप का कुछ भान ही नहीं। उन पशुओं की जिंदगी क्या जिंदगी है? उन पशुओं की तरह मनुष्यों की भी जिंदगी समझिये जो विपरीत श्रद्धा से रहते हैं। कुछ सुख-साधन पाकर मौज मान लिया तो भी वह क्या जिंदगी है? कुछ विवेक नहीं। सत्यशान्ति मिल सके वह प्रकाश पास में नहीं, सच्चा आराम पाया जा सके वह प्रकाश पास में नहीं तो फिर वह जिंदगी क्या जिंदगी हैं? जितने भी समागम मिले हैं वे पापों में, अन्याय में, खोटे विचारों में, पराधीनता में, परवस्तुओं के लगाव में प्रेरित करते हैं। थोड़े समय के ये समागम, ये भ्रम और बहकावा का कारण बन रहे हैं। इनमें कल्याण कहाँ है? बरबादी सारी है। आपके घर में आज जो 4-6 जीव पैदा हुए या बाहर से आकर रह रहे हैं उनसे आपका सम्बंध क्या? इस जगत में जीव तो अनन्तानन्त हैं। जैसे वे अनन्तानन्त जीव आपसे भिन्न हैं वैसे ही ये आपके घर के भी जीव आपसे भिन्न हैं, आपसे उनका कुछ सम्बंध नहीं, परिचय नहीं, लेकिन राग इतना बढ़ा रखा है, मोह इतना कर रखा है कि यह समझ लिया कि ये ही मेरे सब कुछ हैं, बाकी जीव तो गैर हैं, मेरे कुछ भी नहीं हैं। उनके प्रति कुछ दर्द ही नहीं है। और घर के उन 4-6 आदमियों पर किसी पर कोई विपदा आ जाय तो ये रात-दिन बैचेन रहा करते हैं। तो समझ लीजिए कि असत्य की ओर रहने में कितनी अशान्ति है? तो सत्य का परिज्ञान तो कीजिए। जो भी समागम मिले हैं वे सब क्षणिक हैं, विनाशीक हैं, भिन्न हैं और उनके लगाव में इस जीव की बरबादी ही है। कर्मबन्ध है, जन्म-मरण की परम्परा बढ़ती है इस कारण से समागमों में रंच भी सार नहीं है। तब फिर आओ, विचार करें कि सारभूत चीज क्या है?

उपयोग में सहज ज्ञानस्वभाव को बसाने में ही साररूपता–जिन भगवान को हम आप पूजते हैं उन्हें क्यों पूजते हैं? वे हम आपको कुछ देते भी नहीं, देते हुए नजर आते नहीं, पर जो सभी लोग आ-आकर उन्हें पूजते हैं उसका कारण क्या है? जिनकी हम आप मूर्ति बनाकर पूजा करते हैं उन पुरूषों ने, योगी संतो ने समस्त परद्रव्यों की उपेक्षा की। छह खण्ड का साम्राज्य उनके पास था, उस सबका उन्होनें परित्याग किया, और अपने आपमें अपने आत्मतत्त्व के स्वरूप का परिचय किया, उसमें मग्न हुए। उनके कुछ कर्म नहीं रहे, शरीर नहीं रहा, सत्य ज्ञान हो गया। तीन लोक,

तीन काल के समस्त पदार्थ उनके ज्ञान में एक साथ हैं। उनके आनन्द में कोई बाधा नहीं है। वे अमूर्त हो गए, कोई उपद्रव नहीं रहा। यही कारण है कि हम उन्हें पूजते हैं। यह रहस्य पूजने वाले लोग जानें या नही मगर पूजने का कारण है तो एक यही, और कोई दूसरा कारण नहीं है। जैसे वे जीव हैं वैसा ही आपका जीव है। हम भी परपदार्थों की उपेक्षा करके अपने आप में सहज ज्ञानस्वरूप की सँभाल करें तो हम आपको भी वही वैभव, वही समृद्धि प्राप्त हो सकती है। तो दृष्टि दें इस ओर कि क्या चाहिए आपको? उसका उत्तर होना चाहिए कि मेरे ज्ञान में मेरा ज्ञानमय आत्म-स्वरूप रहे, बस यही एकमात्र चाहिए। इससे बढ़कर और कुछ भी पदार्थ नहीं है, यह निर्णय आपको तो हो जाय। अगर यही निर्णय आपका नहीं है तो जीवन बेकार है।

भ्रान्त, अहंकारपूर्ण जीवन की व्यर्थता–जैसे बहुत से भिखारी जब किसी एक जगह रहते हैं तो वे भी एक दूसरे से अपने को बढ़-बढ़कर मानकर अभिमान में बसे रहा करते हैं, इसी तरह परद्रव्यों के आशावान ये संसार के मनुष्य भी इन मोही-रागी जीवों के बीच बसकर एक दूसरे से बड़ा मानकर अहंकार में रत रहते हैं। ठीक है, खूब रत रहें, पर इतने से आत्मा का बड़प्पन नहीं बन गया। आत्मा का बड़प्पन तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से है। आत्मा का सही विश्वास होना, सही ज्ञान होना और आत्मा में ही रमण होना, इस विधि से आत्मा का बड़प्पन है। बाहरी वैभव से आत्मा का कुछ बड़पप्न नहीं है। दिल में अपने उद्धार की बात लाना चाहिए, इससे ही आपका बड़पप्न बनेगा, कल्याण होगा, सदा के लिए संकटों से मुक्ति मिलेगी। बाकी और जो समागम हैं वे स्वप्नवत् नि:सार हैं। स्वप्न में बड़े-बड़े वैभव भी दिख जाते हैं मगर वहाँ है क्या? कुछ भी नहीं। इसी प्रकार मोह में भी बड़ा-बड़ा वैभव समझा जा रहा है मगर है क्या यहाँ इसका? कुछ भी नहीं। अपने आपका तो केवल एक अपना आत्मा ही शरण है, सार है, सर्वस्व है, उसका परिचय करना है। इसका परिज्ञान प्रमाण से होता है। प्रमाण क्या कहलाता है, उसकी चर्चा यहाँ है। जिस ज्ञान में संशय न हो, भ्रम न हो, अनिश्चय न रहे उस ज्ञान को प्रमाण कहते है। जैसे कोई आदमी के बारे में संदेह करें कि यह आदमी है या नहीं, तो यह संशय ज्ञान हुआ, प्रमाण नहीं रहा। ऐसे ही आत्मा के बारे में कोई यह ज्ञान करे कि आत्मा भौतिक है या अभौतिक याने पृथ्वी, जल आदिक का समूह रूप है या उससे भिन्न है तो यह ज्ञान संशय हो गया, प्रमाण रूप न रहा। तो संशय-ज्ञान भी न हो वह ज्ञान प्रमाण है ।

विपर्यय ज्ञान में मूढ़ता का हठ–विपरीत ज्ञान (उल्टा ज्ञान) है उल्टा निश्चय कर लेना। स्वरूप तो है और प्रकार का और मान ले और प्रकार का। जैसे पड़ी तो है सामने सीप और मान लिया चाँदी, तो यह उल्टा ज्ञान है। ऐसे ही जीव तो है ज्ञानानन्दमय अमूर्त पदार्थ और मान ले कि यह पृथ्वी, जलादिक का समूह है, इससे आगे जीव और कुछ नहीं है, तो यह हो गया विपरीत ज्ञान। तो स्वरूप हो और भाँति, मान ले और भाँति, यह तो उल्टा ज्ञान है, प्रमाण रूप नहीं है। ऐसे ज्ञान से पदार्थ का परिचय नहीं होता। जितना क्लेश भ्रम का है उतना क्लेश तो कोई सामने आपत्ति आ जाय उसमें भी नहीं है। भ्रम का क्लेश अन्य क्लेशों से सबसे बढ़कर होता है। यह जो भ्रम लगा

हुआ है कि ये लोग मेरे घर के हैं, इस भ्रम में कितना क्लेश करना पड़ रहा है? बाहर जितने श्रम और मेहनत करने पड़ रहे है वे तो बाहरी क्लेश हैं, मगर भीतर में सच्चा प्रकाश न करने के कारण जो एक मूढता बसी है, क्या करना चाहिए उसका निर्णय न किया जाये, सच्चा पथ क्या है उसका भान न किया जा सके, यह जो भीतर में एक विडम्बना बनी हुई है, यह जीव के लिए एक महान क्लेश की चीज है। भले ही मोह में यह जीव क्लेश न समझे, मगर भ्रम में महान क्लेश बसा हुआ है।

भ्रम में महती विडम्बना का घटन–राजवार्तिक में एक दृष्टान्त दिया है कि एक सेठ पैदल जा रहा था तो दूर से देखा कि एक हाथी ने एक बच्चे को सूँड में उठाकर बड़ी दूर फैंक दिया और वह लड़का मर गया। यह घटना देखकर उसे यह भ्रम हो गया कि कहीं घूमता हुआ मेरा लड़का तो नहीं आ गया। उतनी ही उमर थी, उतना ही आकार था, वैसा ही रूप रंग था। तो यह बात जानकर सेठ वहाँ मूर्छित हो गया-हाय ! मेरा लड़का गुजर गया। लोगों को खबर पड़ी, दौड़े आये, बहुत उपचार किया। वहाँ एक बुद्धिमान पुरुष था। उसने पास में उस लड़के को मरा हुआ देखकर सब कुछ जान लिया। वहाँ उपचार किया जा रहा था, उसी समय उस बुद्धिमान पुरुष ने उस सेठ के लड़के को उसके घर से बुलवाया। जब थोड़ी देर में उस सेठ की आँखें खुली और सामने अपना लड़का देखा तो वह तुरन्त ठीक हो गया। तो वहाँ था क्या? केवल भ्रम का ही क्लेश था। तो भ्रम का क्लेश बड़ा ही कठिन क्लेश होता है। आज मनुष्य दु:खी क्यों हैं? भ्रम से। यह कहना बिल्कुल झूठ है कि मेरे पास धन कम है, मेरे पास कोई आराम के साधन नहीं है, हमें इतने काम करना पड़ते हैं इसलिए दु:ख हैं। ये सब तो बिल्कुल बेकार की बातें हैं। उन बातों से दु:ख नहीं है। दु:ख है तो भ्रम से है, पर्याय बुद्धि लगी हैं, यह शरीर मैं हूँ, इसे तकलीफ न हो, ये घर के लोग बड़े लाड़-प्यार में रहें, यह वाञ्छा जगी, यह भ्रम हो गया इसलिए दु:ख बढ़ गया। इस पर्याय को देखकर यह मैं हूँ, इसकी इज्जत होनी चाहिए, ऐसा इसे भ्रम हो गया। अरे ! तू क्या है? यह देह तो जला दिया जायगा। तू अमूर्त चेतन है, इसकी खबर ही नहीं है। व्यर्थ ही कल्पनाएँ करता है और दु:खी हो रहा है। तो इस भ्रम का दु:ख बहुत बड़ा दु:ख है। जिस ज्ञान में भ्रम बसा हो, उल्टा ज्ञान बना हुआ हो वह ज्ञान प्रमाण रूप नहीं है, सच्चा ज्ञान नहीं है और उस ज्ञान से पदार्थ का परिचय नहीं हो सकता। हमें करना है अपने आत्मा का परिचय और उस परिचय से हम अपने आपके स्वरूप को जानकर कर्मों की निर्जरा करेंगे, संसार के संकटों से हटेंगे, अत: आत्म स्वरूप जानना आवश्यक है। इसको जानने के उपाय में यहाँ दूसरे उपाय प्रमाण की बात चल रही है।

नि:समारोप ज्ञान से ही यथार्थ वस्तुरूप का निश्चय–सच्चे ज्ञान से पदार्थ के स्वरूप का परिचय होता है। सच्चा ज्ञान वह है जिसमें न संशय हो, न भ्रम हो और न अनिश्चय हो। जिस जानकारी में संशय बना हुआ है वह जानकारी सही नहीं है। यद्यपि संशय किसी जानकारी के निर्णय के लिए होता है लेकिन संशय के समय ज्ञान सत्य ज्ञान नहीं है। किसी पुरुष को ऐसा ज्ञान हुआ कि

यह सीप है या चाँदी तो जिसे इस तरह का संशय हो रहा, उसके मन में यह भाव जरूर है कि हम एक इस निर्णय में पहुँच जायें कि यह वास्तव में सीप है या चाँदी? तो संशय में जिज्ञासा रहती है और किसी एक निर्णय के लिए भीतर भावना रहती है लेकिन संशय के सम्बंध में संशयात्मक जो ज्ञान है वह ज्ञान असत्य है, उससे पदार्थ का सही निर्णय नहीं होता। सच्चे ज्ञान को भ्रमरहित भी होना चाहिए। एक किसी निर्णय पर तो है लेकिन वह भ्रम वाले निर्णय पर है, वह भी सच्चा ज्ञान नहीं है। संशय ज्ञान से विपर्यय ज्ञान बहुत खतरनाक है। संशय ज्ञान में तो फिर भी भावना बनी हुई है कि वास्तविकता क्या है? संशय ज्ञान वाला फिर भी समझ रहा है कि मैं किसी एक निर्णय में नहीं पहुँचा हूँ लेकिन भ्रम वाले ज्ञान में तो उसे होश ही नहीं है। भ्रम के समय में उसकी यह भावना नहीं है कि मैं सही ज्ञान पर पहुँचूँ। भ्रम वाला पुरुष अपने को ऐसा सही मानता है और भ्रम रहित ज्ञान की बात कोई कहे तो उसको वह असत्य समझता है। जैसे एक घटना बतायें कि एक गाँव के किनारे पर एक बढ़ई रहता था। वह बड़ा मजाकिया था। तो उस रास्ते से कोई नया मुसाफिर निकले तो सबसे पहिले वह मुसाफिर उस बढ़ई से पूछता था कि अमुक गाँव का रास्ता कौनसा गया है? तो वह बढ़ई उल्टा रास्ता ही बता देता था, साथ ही यह भी कह देता था कि इस गाँव के लोग बड़े ही मजाकिया हैं, वे सभी तुम्हें उल्टा रास्ता बतावेंगे, सो तुम उनके कहें में न आ जाना। ऐसा ही किसी मुसाफिर को हुआ। उसने किसी गाँव का रास्ता पूछा तो रास्ता गया था पूरब को मगर बता दिया दक्षिण को। आगे बढकर अन्य लोगों से पूछा तो सभी ने पूरब की ओर जाने का रास्ता बताया परन्तु उसे अन्य किसी की बात का विश्वास न हुआ। उसके मन में यही बात जम गई थी कि वह बढ़ई सत्य ही कहता था कि इस गाँव के सभी लोग मजाकिया हैं। वे उल्टा ही रास्ता बतावेंगे। सो वह अन्य किसी की भी बात न मानकर दक्षिण दिशा की ओर चलता गया। तो जिस पुरुष को भ्रम हो जाता है तो वह दूसरे की सत्य बात भी मानने को तैयार नहीं होता है। इतना धोखे वाला होता है भ्रम। तो जिस ज्ञान में विपर्यय पड़ा हुआ है वह ज्ञान सत्य नहीं है, प्रयोजनभूत नहीं है। तो भ्रमरहित ज्ञान से ही पदार्थ का परिचय होता है।

संशय, विपर्यय व अनध्यवसाय तीनों ही दोषों में हित का विरोध–अब आत्मा के स्वरूप के बारे में कितना भ्रम लगा हुआ है सो विचारिये। दुनिया में संशय वाले लोग तो कम है और भ्रम वाले अधिक हैं। यह देह ही मैं हूँ, ये आकार रूप रंगादिक भी मैं हूँ, इस प्रकार का निर्णय रखने वाले, परिचय करने वाले लोग बहुत हैं, और आत्मा वास्तव में है या नहीं है इस तरह के संशय की बात जिसके मन में आये ऐसे लोग कम हैं। अनध्यवसाय वाले को तो फिर भी आत्मा के बारे में कुछ भी नहीं भावना है। है क्या? है या नहीं, पर भ्रम वाले पुरुष को तो आत्मा के सम्बंध में भावना ही कुछ नहीं है। बस यह जो देह है, पर्याय है, भवमूर्ति है यही मैं हूँ, ऐसा उनका परिज्ञान बना हुआ है, और कभी भी इसके विपरीत बात नहीं जगती कि मैं कहीं असत्य तो नहीं समझ रहा। तो जहाँ भ्रम हो ऐसा ज्ञान भी सच्चा ज्ञान नहीं कहलाता। जहाँ अनिश्चय है, जिसके बारे में कुछ

निश्चय करने की बात ही नहीं आती वह ज्ञान भी अप्रमाण है। जैसे रास्तागीर के पैर में कोई तिनका लग गया, अब उसकी ओर उसको ज्यादा कोई दृष्टि नहीं है। वह जा रहा है किसी ध्येय से, उसमें ही उपयोग है, लेकिन थोड़ा यह भान तो है कि कुछ लग गया, पर उसके बारे में आगे कुछ निर्णय नहीं है, न निर्णय की चाह है। तो ऐसे अनिश्चयात्मक ज्ञान से भी पदार्थ का परिचय नहीं होता। जहाँ संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय नहीं होते ऐसे ज्ञान को प्रमाण कहते है। अब जरा विपर्यय के बारे में कुछ विस्तार से वर्णन करते हैं।

स्वरूपविपर्ययता का दोष–किसी भी पदार्थ के सम्बंध में कोई उल्टी बात का ज्ञान होता है वे उल्टी बातें तीन प्रकार से जानी जाती हैं, जिसको परिभाषिक शब्दों में कहते है–स्वरूपविपर्यय, भेदाभेदविपर्यय और कारणविपर्यय। किसी पदार्थ के बारे में यदि उल्टा ज्ञान किया जा रहा है तो या तो वह स्वरूप का उल्टा ज्ञान है या उस पदार्थ के स्वरूप में, गुण में, शक्ति में या अन्य प्रसंगो में परस्पर में भेद है या अभेद है। इस तरह का उल्टा ज्ञान चल रहा हो या वह पदार्थ किन कारणों से उत्पन्न होता है उस कारण के सम्बंध में उल्टा ज्ञान चल रहा हो। तीन प्रकार की विपरीतता होती है किसी भी पदार्थ को विपरीत जानने में। तो स्वरूपविपर्यय की बात तो प्रसिद्ध है, उसके सम्बंध में बहुत कुछ वर्णन किया ही गया है। वस्तु के स्वरूप के विपरीत स्वरूप का निश्चय करना यह स्वरूपविपर्यय कहलाता है। जैसे पड़ी तो थी सीप और जान रहे चाँदी। विपरीत जानने वाले के चित्त में शल्य शंका, रूकावट या अन्य जिज्ञासा नहीं है। वह तो उस ही बात को सही रूप में मान रहा है। तो जैसे सीप पड़ी हो और चाँदी का निर्णय किया जा रहा हो तो यह स्वरूपविपर्यय ज्ञान है। इसे आत्मा के बारे में लगाओ। आत्मा को यों मानना कि यह पृथ्वी, जल, अग्नि आदिक से बना हुआ है, यह भवमूर्ति जो कुछ यहाँ दिख रही है इसी पिण्ड रूप है, यह जीव के सम्बंध में स्वरूपविपर्यय है। तो जहाँ स्वरूप ही उल्टा जाना जा रहा हो वहाँ सब बातें उल्टी-उल्टी जानने में आयेंगी। जब मूल ही उल्टा जान लिया तो भेदाभेद, कारण, आधार आदिक अन्य सब बातें विपरीत जानने में आयेंगी। जैसे जहाँ पहली बटलोई उल्टी धरी गई हो तो उसके ऊपर की सभी बटलोई उल्टी ही उल्टी धरी जायेंगी। ऐसे ही जिस पदार्थ के शुरू में ही उल्टा ज्ञान चल रहा है उसके बारे में अन्य जो भी परिज्ञान किए जायेंगे वे उल्टे ही उल्टे किए जायेंगे।

भेदाभेदविपर्ययता का दोष–जिस जीव ने पदार्थ का स्वरूप विपरीत समझा है उसके बारे में भेद और अभेद का भी सही निर्णय नहीं है। भेद को अभेद रूप से जानना, अभेद को भेद रूप से जानना इसका नाम है भेदाभेदविपर्यय। जैसे कोई जाने कि शरीर से आत्मा जुदा नहीं है, और ऐसा जानने वाले अनेक हैं ही, मैं शरीर से निराला कोई वास्तविक सत् हूँ इस प्रकार की परख किसको है? तो जो भिन्न चीजें हैं उनको भिन्न-भिन्न न पहिचान सकना, अभेदरूप से जानना यह हुआ अभेदविपर्यय। अब कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि शरीर आत्मा से जुदा है, कषायें आत्मा से जुदा हैं, तो ज्ञान भी आत्मा से जुदा है। यों बढ़ बढ़कर जो निज साधारण स्वरूप है उसको भी जुदा

मान लें, यह है भेदविपर्यय। भेदाभेद विपर्यय-अभेद है पर उल्टा जान रहे; भेद है, पर उल्टा जान रहे। यह विपरीत ज्ञान है। विपरीत ज्ञान में पदार्थ का परिचय नहीं है।

स्वरूपविपर्यय, भेदाभेदविपर्यय व कारणविपर्यय का एक प्रसंग—यहाँ प्रसंगवश एक दार्शनिक बात आयी है- एक सिद्धांत में ज्ञान को आत्मा से जुदा माना गया है। मूलतत्त्व दो समझे हैं उन्होंने, प्रधान और आत्मा, प्रकृति और आत्मा। ज्ञान को प्रकृति का विकार माना है, आत्मा ज्ञान से जुदा है और ऐसे आत्मा का स्वरूप कहते हैं वे चैतन्यमात्र, केवल चित्स्वरूप। भाई ! उस चित्स्वरूप का अर्थ क्या है? ऐसा कोई पूछता है तो आगे नहीं बढ़ा जा सकता, बस चित्स्वरूप। जो चित् है, जानता है वह ही जीव का स्वरूप है। भाई ! कुछ तो बताओ आगे बढ़कर। इतने से तो हम कुछ नहीं समझ सकते। क्या इसका यह मतलब है कि ज्ञानस्वरूप याने जिसमें जानने का सामर्थ्य है वह है जानन? जो जानता है, जिसका प्रतिभास होता है उसे कहते है चित्स्वरूप। तो उत्तर में मना करते है कि ऐसा नहीं है। ज्ञान तो आत्मा से जुदा है। ज्ञान प्रकृति का विकार है। ऐसा कहने में उनको बल यहाँ से मिला कि चूँकि यहाँ दिखते हैं कि जिस किसी भी पदार्थ का हम ज्ञान करते हैं वह तो ज्ञान मिट जाता है। हमने जाना चौकी, किवाड़, लो थोड़ी देर बाद इसका ज्ञान मिट गया। तो जो ज्ञान मिटता है, जो ज्ञान दूसरे के आधार से उत्पन्न होता है वह ज्ञान प्रकृति का विकार हो सकता है, आत्मा का स्वरूप नहीं हो सकता। यहाँ से उन्होनें बल पाया और यह कहा है कि ज्ञान आत्मा का स्वरूप नहीं है, आत्मा ज्ञान से जुदा चीज है। बात कुछ हद तक सत्य होने पर भी यह बात सर्वथा सत्य नहीं कही जा सकती। जो ज्ञान मिट जाता है, जो ज्ञान किसी परके लगाव से, आधार से, इन्द्रिय से उत्पन्न होता है वह ज्ञान जीव के स्वरूप नहीं हैं, यह बात सत्य है। लेकिन इतने पर भी इन ज्ञानों के जीव के परिणमन से मना नहीं किया जा सकता। हैं सब ज्ञान जीव के ही परिणमन। कई लोग मानते हैं इन परिणमनों को जीव का स्वरूप लेकिन इन सब परिणमनों का आधारभूत स्रोत रूप जो ज्ञान की शक्ति है, जिसे सहज ज्ञान कहते हैं, जिस शक्ति के रहे बिना आत्मा में ज्ञान जगे कैसे? ऐसा मूल में ज्ञानशक्तिमात्र जो ज्ञानस्वभाव है, ज्ञायकस्वरूप है वह ही आत्मा का स्वरूप है, किन्तु इसे न मानकर यों बढ़कर बोलना कि ज्ञान आत्मा से जुदा है तो यह कहलाया भेदाभेद विपर्यय। विपरीत ज्ञान से पदार्थ का निर्णय नहीं होता, बल्कि विपरीत ज्ञान में चाहे यह जीव न माने क्लेश, लेकिन निरन्तर क्लेश रहता है।

भ्रम में ही क्लेशरूपता—संसार में दु:ख और है ही क्या? सिवाय भ्रम के। सबने अपने अपने मन में नाना प्रकार के भ्रम बना रखे हैं उनका दु:ख भोगते हैं। जब आप अपनी कहानी सुनायेंगे कि मुझे तो बड़ा दु:ख है तो विवेकी पुरुष वहाँ बताता जायेगा कि देखो, आपको इस जगह यह भ्रम है इसलिए यह दु:ख हुआ। सभी प्रकार के दु:खो में केवल भ्रम ही क्लेश का कारण मिलेगा। इस बात का कोई बड़े विवेक से निर्णय करे तो यह खुद ही समझ लेगा। जैसे मानो कोई कहता है कि मुझे बड़ा दु:ख है, मेरा बड़ा लड़का मेरे से विरूद्ध हो गया है, वह मेरी आज्ञा नहीं मानता, और वह मेरी

भक्ति भी नहीं रखता। तो बतलाओ साहब इसमें क्या भ्रम है, जो यह कहते हों कि जगत में जितने भी क्लेश हैं वे सब भ्रम के हैं? तो सुन लो-आपने यह भ्रम बना रखा है कि यह मेरा लड़का है। अरे ! वह आपका लड़का है कैसे? दुनिया में तो करोड़ो लड़के हैं, वे भी तो आपकी कुछ पूछ नहीं करते, पर उनसे तो आपको कोई क्लेश नहीं मिलता। आपके लड़के से आपको कोई क्लेश नहीं है, लड़का चाहे कैसा ही चले, वह तो उसका परिणमन है। उससे आपमें क्या आयेगा? आपमें तो आपके ही किसी परिणमन से क्लेश होगा। आपको है भ्रम। यह लड़का मेरी बात नहीं मानता, पहली बात तो भ्रम की यह है कि लड़का मेरा है, दूसरी भ्रम की बात यह है कि यह बात मेरी है और तीसरी बात भ्रम की यह है कि यह मेरी बात नहीं मानता। अरे ! वह तो कभी भी नहीं मानता था, अब भी नहीं मानता है और आगे भी नहीं मानेगा। मेरी कोई सी भी बात कोई दूसरा कभी मान ही नहीं सकता, क्योंकि पदार्थ सभी अपने आपके स्वरूप में उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है।

प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप में अपनी ही परिणति में उत्पाद करेंगे, अपने ही परिणमन से नष्ट होंगे और अपने ही भाव में बने रहेंगे। किसी एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का रंच मात्र भी सम्बंध नहीं है। तो भ्रम ही भ्रम बना है। जैसे केले के पेड़ में कोई सार नहीं है, अर्थात वहाँ लकड़ी न मिलेगी, कोई सार चीज न मिलेगी। पत्तों को निकालते जाइये बस पत्ते ही पत्ते मिलेंगे। पत्तों के नीचे का जो बक्कल है वही मिलेगा। वहाँ पेड़ मूल में कुछ नहीं है, उसका तना कुछ नहीं है, यों ही समझिये कि यहाँ भी जितने क्लेश है, इन क्लेशों का वास्तविक आधार कुछ नहीं है, भ्रम ही भ्रम है, उनको छिलते जायें, विवेक करते जायें तो भ्रम ही भ्रम समझ में आता जायगा। वास्तविक दु:ख का कारण वहाँ कुछ भी न मिलेगा। सारे दु:खो की यही बात है। खूब निर्णय करके देख लो। यही बात तो समझने की है। समझ लिया कि जीवन सफल है।

दु:ख का भ्रमातिरिक्त अन्य आधार का अभाव–यहाँ दु:ख का वास्तविक मूल आधार कुछ नहीं है। सिर्फ भ्रम ही भ्रम है। बात का निर्णय अगर करेंगे तो कोई बात सुनने में चाहे देश या समाज के विरूद्ध लगे तो लगे, मगर आपको हर दु:ख का कारण भ्रम ही मिलेगा अन्य कुछ नहीं। आप सारे दु:ख पेश कर दें, खूब विस्तार पूर्वक बता दें तो सब में यही बात जाहिर होगी कि भ्रम है उस भ्रम का क्लेश है। ऐसी भी कठिन बात आप रख दें कि अच्छा बतलाओ हमारे इस समय बड़ी तेज भूख लग रही है, तो भूख का बड़ा क्लेश है कि नहीं? इसमें भ्रम की कौनसी बात है? हाँ, धन घट गया तो इसमें भी भ्रम का क्लेश है, और भी जगह भ्रम का ही क्लेश है मगर इस भूख की वेदना में भ्रम की क्या बात है? अच्छा तो सुनो-यहाँ भी भ्रम ही कारण है। प्रथम तो इस जीव ने इस देह को माना कि यह मैं हूँ। इस देह में पेट के भीतर मशीनरी की चीज अमुक जगह गर्म हो रही है, इसमें इस समय कुछ भोजन देने की आवश्यकता है, यों इस जीव ने अपने को इस देहरूप मान लिया, तब कहता है कि हमें भूख लग रही है। देखिये क्षुधा शब्द के मायने कुछ और है,

भूख के मायने कुछ और है। भूख का तो सम्बंध इस जीव से है और क्षुधा का सम्बंध इस शरीर से है। संस्कृत में भूख को खाने की इच्छा कहते है और क्षुधा नाम है देह के भीतर क्षोभ की कोई बात बर्तने का। तो भ्रम लगा रखा है कि यह मैं हूँ, मुझे भूख की वेदना है। कोई कहे कि बातें रहने दो बनाने को, जब भूख लगती है तो पता पड़ जाता है। हाँ, पता पड़ तो जाता है। जब अनादिकाल से भ्रम बसा रक्खा है, भ्रम का संस्कार बना हुआ है, जिससे हमें भूख प्यास आदिक की वेदनायें होती हैं। ये सब वेदनायें भ्रम के आधार पर ही चल रही है। भ्रम मिटकर सही भावनायें बना ली जायें तो भ्रम मिट जाने पर भी कुछ समय तो ये वेदनायें रहेंगी, क्योंकि भ्रम से जो पहिले पाप, उसके कारण कुछ क्लेश तो मिलेगा, पर वह क्लेश अधिक समय तक न चलेगा।

विभ्रमज क्लेश के क्षय की विभ्रमविनाश से ही संभवता –जैसे सामने किसी लड़के को हाथी ने सूँड से उठाकर फेंक दिया। किसी को यह भ्रम हो गया कि अरे ! यह तो मेरा लड़का है जो हाथी द्वारा पटक दिये जाने पर मर गया। यह घटना देखकर वह बेहोश होकर गिर गया, उसका सिर फूट गया। थोड़ी देर बाद किसी विवेकी पुरुष ने सब बातें समझकर उसके ही लड़के को उसके घर से बुलवा दिया। अपने बालक को अपने सामने खड़ा देखकर वह अच्छा हो गया। तो देखो भ्रम मिट जाने पर यद्यपि वह अच्छा हो गया, पर सिर फूट जाने का दर्द तो अभी कुछ समय तक बना ही रहेगा। तो सारा क्लेश भ्रम का है। इस शरीर में भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, सम्मान अपमान, इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग आदिक होना, इन सबका आधार एक भ्रम ही है। जिन्हें इन समस्त दु:खों को मिटाना है उन्हें आवश्यक है कि वे भ्रम को दूर करने का इलाज करें। बाह्यपदार्थों में और अपने आपके सम्बंध में उल्टा ज्ञान न रहे, यही उन क्लेशों के दूर करने का उपाय है। इन दुनिया की बाहरी चीजों को इधर से उधर करने में ये दु:ख दूर न होंगे। जैसे कोई मोटर चलती है, तो जिस पुर्जे को चलाने से चलती है उसी को चलाना पड़ेगा तब चलेगी, अथवा जिस पुर्जे से मोटर रूकती है उसी को रोकने से मोटर रूकेगी, अन्य पुर्जों में श्रम करना व्यर्थ है; ठीक इसी प्रकार ये दु:ख जिस उपाय से मिट सकेंगे वही उपाय हम आपको करना होगा तभी ये दु:ख मिट सकेंगे। हमारे ये दु:ख मिट सकते हैं भ्रम के दूर होने से। सो भ्रम तो हम दूर करने का भाव न बनायें और बाहरी अनेक यत्न करें तो उससे दु:ख दूर तो न हो जायेंगे। तो विपरीत ज्ञान जहाँ है वह ज्ञान अप्रमाण है, और अप्रमाण ज्ञान से पदार्थ का निर्णय नहीं होता।

कारण-विपर्ययता का दोष–अब कारण-विपर्यय की बात कहते है। ऐसा भी भ्रम होता है कि किसी पदार्थ के बनने का कारण तो है और, यहाँ मान लेते है और, तो विपरीत कारण समझ लेना यह भी भ्रम वाला ज्ञान है। जैसे आत्मा के बारे में समझना- मैं माता-पिता से उत्पन्न हुआ हूँ अथवा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु से उत्पन्न हुआ हूँ, तो यह सब कारण-विपर्यय है। मेरे आत्मा के अस्तित्व का कारण मेरे माता पिता नहीं, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदिक नहीं, मेरा अस्तित्व तो सहजसिद्ध, स्वयंसिद्ध, आनन्दसिद्ध है, मैं अपने आपमें अपने ही स्वरूप से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य

किया करता हूँ। मेरी उत्पत्ति किसी अन्य से नहीं हुई है। मोटे रूप में लोग भूत चतुष्टय से आत्मा की उत्पत्ति मानते हैं, किन्तु इस सम्बंध में भी उन पुरूषों को विपरीत ज्ञान बना हुआ है। तो जहाँ भ्रांत ज्ञान हो उस ज्ञान से पदार्थ का निर्णय नहीं होता। आनन्द पाने के लिये आनन्द के स्वरूप का सही ज्ञान और आत्मा के स्वरूप का सही ज्ञान होना आवश्यक है। और उस ज्ञान से ही यह जीव आनन्द का उपाय बना सकेगा। उसका ज्ञान हो कैसे, उसके संबंध में दूसरे उपाय की चर्चा चल रही है। पहिला उपाय तो लक्षण बताया है, दूसरा उपाय प्रमाण बताया जा रहा है कि सच्चे ज्ञान से हम पदार्थ की, आत्मा की, आनन्द की सबकी पहिचान कर सकते हैं। वह ज्ञान होना चाहिए संशय विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित। इसमें तीसरा दोष है अनध्यवसाय। अनध्यवसाय किसे कहते हैं ? किसी वस्तु में अनिश्चयात्मक मामूली बोध हो जाए, फिर उसमें कोई विशेष निश्चय ही न हो उसे कहते हैं अनध्यवसाय। जैसे जीव के बारे में इतना ही कुछ थोड़ा आभास कर लेना कि है कुछ, पर इसके आगे जरा भी आगे न बढ़ना, इसके लिए जो अनिश्चयात्मक बोध है उसे कहते हैं अनध्यवसाय। तो जहाँ अनिश्चय नहीं, जहाँ विपरीत ज्ञान नहीं, जहाँ किसी प्रकार का संशय नहीं, किन्तु जैसा पदार्थ का स्वरूप है उस ही प्रकार का सच्चा ज्ञान बन रहा है तो उस ज्ञान के उपाय द्वारा पदार्थ के स्वरूप का परिचय होगा। हमें जानना है अपने आत्मा को, तो आत्मा को हम कैसे जान सकें, उस उपाय की यहाँ चर्चा चल रही है। एक ठोस विधि से हम अपने आपको पहिचानने चलेंगे तो इसमें हम अवश्य सफल होंगे।

प्रमाण के प्रकार–आत्मा को व सभी पदार्थों को जानने का उपाय है दूसरा प्रमाण। प्रमाण का अर्थ है सच्चा ज्ञान। जिसमें संशय, विपर्यय अनध्यवसाय दोष नहीं होते उसे प्रमाण कहते हैं। तो प्रमाण का स्वरूप बताकर अब यह जानना है कि प्रमाण कितने प्रकार का होता है? प्रमाण मूल में दो प्रकार के होते है- एक तो ऐसा ज्ञान जो इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल ज्ञानमय आत्मतत्त्व के बल से ही जाना जाता है। एक ऐसा ज्ञान जो इन्द्रिय और मन की सहायता से जाना जाता है। जैसे हम आप लोगों के जितने भी ज्ञान होते है वे परोक्ष ज्ञान है- इन्द्रिय और मन का आलम्बन लेकर ज्ञान हो रहे है। जैसे यह जानना है कि यह ठंडा, गर्म, रूखा, चिकना कैसा है, तो उसको स्पर्शन इन्द्रिय से छू कर जान पाते है। यह जानना है कि इसमें खट्टा-मीठा आदिक कैसा रस है? तो रसनाइन्द्रिय के संबंध से जाना जाता है। सुगंध, दुर्गंध घ्राणइन्द्रिय से; काला, पीला आदिक रूप चक्षुइन्द्रिय से, शब्द कर्णइन्द्रिय से तथा समस्त अन्य विषय नाम चाहना, इज्जत चाहना, कुछ सोचना, किसी को इष्ट-अनिष्ट समझना-ये सब बातें मन से जानी जाती हैं। तो इन्द्रिय और मन का जहाँ आलम्बन लिया गया, ऐसे ज्ञान को परोक्ष ज्ञान कहते हैं। और जहाँ इन्द्रिय-मन की सहायता नहीं है, केवल आत्मीय शक्ति से ही जाना जाता है उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। यह अर्थ शब्द में भी बसा हुआ है। प्रत्यक्ष में दो शब्द है- प्रति और अक्ष। जो इन्द्रिय-मन का आश्रय न करके उत्पन्न हो उस ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। और जहाँ इन्द्रिय मन बिना आत्मा का सहारा लेकर जो ज्ञान हो वह प्रत्यक्ष ज्ञान है और इन्द्रिय मन का सहारा

लेकर जो ज्ञान हो वह परोक्ष ज्ञान है। हम आपमें शक्ति प्रत्यक्ष ज्ञान की भी है। इस इन्द्रिय और मन का हम सहारा न लें केवल आत्मबल से ही जानें तो जान सकते है, लेकिन रागद्वेषमोह के संस्कार इतने बना रखे हैं कि जिससे पर में इतना उपयोग फँसा रहता है कि वहाँ आत्मबल प्रकट नहीं हो पाता कि हम इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मीय शक्ति से ही पदार्थों को जान लें। पर करें पौरूष तो प्रत्यक्ष ज्ञान हम आपके बन सकता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रकार- प्रत्यक्षज्ञान दो प्रकार के होते है- एक विकल प्रत्यक्ष और दूसरा सकल प्रत्यक्ष। थोड़ा-२ भी ज्ञान पाया करता हो प्रत्यक्ष, तो उसे कहते हैं कि विकल प्रत्यक्ष और तीन लोक, तीन काल के समस्त पदार्थों को एक साथ जाना जाता हो उसे कहते हैं सकल प्रत्यक्ष। तो विकल प्रत्यक्ष अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान यों दो प्रकार का है। अवधिज्ञान में तो कुछ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लेकर रूपी पदार्थों को आत्मीय शक्ति से जानना होता है और सकल प्रत्यक्ष में कोई मर्यादा नहीं है और समस्त पदार्थों को जान लिया जाता है। मन:पर्ययज्ञान का विषय यद्यपि रूपी पदार्थ नहीं हैं लेकिन रूपी मन में तिष्ठे हुए पदार्थ को जाना जाता है। तो अवधिज्ञान सम्यग्दृष्टि के भी होता है। कुअवधिज्ञान मिथ्यादृष्टि के भी हो सकता है। यह ज्ञान भी एक बड़ा ज्ञान है कि भला बतलाओ कि बहुत दूर की चीज, बहुत पहिले या बाद के समय की चीज को यहाँ जाना जाय, ऐसे ज्ञान में क्षयोपशम तो कुछ विशेष चाहिए ही। वह प्रत्यक्षज्ञान है। ये सब बातें इसलिए कही जा रही हैं कि यहाँ यह परखते जाइये कि पदार्थ के स्वरूप का ज्ञान हम जिन-जिन प्रमाणों से करते हैं वे प्रमाण किस ढंग के होते हैं? अवधिज्ञान के द्वारा जो हमने पदार्थों को समझा उसका जो ज्ञान हुआ वह पुष्ट ज्ञान है। उसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है। जैसे सामने सीप अथवा चाँदी दिख गई मगर वहाँ जो 'यह सफेद है' इस तरह का ज्ञान हुआ नेत्रइन्द्रिय से उसमें तो कोई संदेह नहीं। अब यह मन वाली बात है कि हम इसमें संदेह करें कि यह सीप है या चाँदी। आँखों से जो देखा जाता है उसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं होता लेकिन मन के द्वारा जो विचार चल रहे हैं उन विचारों ने सारे विकल्प पैदा कर दिये कि यह सीप है या चाँदी तो जैसे निर्विकल्प मतिज्ञान के द्वारा हम जो कुछ जानते है वह सही जानते हैं। इसी प्रकार अवधिज्ञान के द्वारा जो कुछ जाना जाता है वह सही जाना जाता है।

ज्ञान के पाँच प्रकारों में परोक्ष ज्ञानों की पद्धति–इस समय संक्षेप में कुछ ज्ञान का विवरण सुनो। ज्ञान 5 प्रकार के कहे गए हैं-मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इनमें से श्रुतज्ञान तो है सविकल्प, बाकी चार ज्ञान हैं निर्विकल्पज्ञान। तो केवलज्ञान निर्विकल्प है इसमें तो कोई संदेह है ही नहीं। थोड़ा यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि क्या मतिज्ञान भी निर्विकल्प होता है? चक्षुइन्द्रिय अथवा अन्य इन्द्रिय से जो हमने विषय जाना वह ज्ञान निर्विकल्प होता है,

यह प्रसंग है। तो यह बात यों समझ में आयगी कि हम वहाँ यह समझे कि एक के द्वारा जो कुछ हमने प्रतिभास में लिया वह तो है आँखों का विषय। अब उस समय में हम यह जानें कि यह काला है, पीला है, नीला है आदिक ये मतिज्ञान के विषय नहीं हैं। ये श्रुतज्ञान के विषय हैं। मतिज्ञान का विषय ऐसा निर्विकल्प है कि उसे जानकर फिर कोई तरंग उठे, शब्दों द्वारा कुछ बात आये, यह यों सीधे समझिये कि जिस ज्ञान के मूल में शब्द भी अन्तरंग में पड़ा हुआ हो वे सब सविकल्प ज्ञान हैं। इस तरह बहुत जल्दी ध्यान में आयगा। हम किसी पदार्थ को जानते हैं तो जानने के साथ भीतर में अन्तर्जल्प भी होता है, कुछ शब्द भी उठते है। उठे या न उठे मगर प्राय: करके यह लक्षण बता रहे है। जैसे हमने खम्भा देखकर जाना खम्भा, तो भीतर में खम्भा आदिक कोई शब्द उत्पन्न हो जाता है, यह सविकल्प ज्ञान की निशानी है। निर्विकल्प ज्ञान में किसी प्रकार का शब्द भी भीतर उत्पन्न नहीं होता। अपनी आँखों से देखा, क्या देखा? इसका उत्तर विकल्प में आयगा, निर्विकल्प में न आयगा। देखा और देखकर यह बोध हुआ कि यह हरा है, यह विकल्प बन गया। हरा है इस प्रकार का विकल्प न बना, उससे पहिले जो कुछ आँखों द्वारा प्रतिभास हुआ वह मतिज्ञान निर्विकल्प का सीधा विषय है, ये बातें सबकी हैं। सबका काम पड़ रहा है। सब जान रहे, सबकी पद्धति है, पर अपने आपकी सच्चे ज्ञान की पद्धति का ही बोध नहीं है। हम आपके अथवा सभी संसारी जीवों के दो ज्ञान तो होते ही हैं- मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। मतिज्ञान से तो होता है निर्विकल्प बोध और श्रुतज्ञान से उसके साथ विकल्प उत्पन्न होता है। चींटी, कीड़ा, मकोड़ा आदिक के भी श्रुतज्ञान है। उनके भी जो मतिज्ञान होता है वह निर्विकल्प है, और जहाँ कुछ भेद हो, विकल्प हो, मन न होने पर भी श्रुतज्ञान के कारण जिस ढंग के उनके विकल्प जगें, खाते हैं, कुछ मौज भी होता, उनको सुख भी होता, उनको छेड़ते हैं तो दु:ख भी होता तो कोई चित्त में ज्ञान तो आता ही है। ज्ञान बिना सुख-दु:ख तो होता नहीं। तो सुख-दु:ख होने में जो ज्ञान बना वह ज्ञान उनका सविकल्प बना। निर्विकल्पज्ञान सुख और दु:ख का उद्बोधक नहीं होता है। तो अब आप यह जानेंगे कि मतिज्ञान के द्वारा जो हमें बोध होता है वह कैसा निर्विकल्प है, जिसका कि हम बयान नहीं कर सकते। प्रतिभास हो गया आँखों से, पर जो ही हमने जाना कि यह हरा है, काला है वह श्रुतज्ञान हो गया, सविकल्प उठ गया। तो मतिज्ञान का विषय एक सूक्ष्म ढंग का विषय है। वह निर्विकल्प ज्ञान है ना? विकल्प उठता है श्रुतज्ञान में, तो संशय वगैरह जितने भी विकल्प हैं उन सबका सम्बंध श्रुतज्ञान से है। सीप है या चाँदी, ऐसा जो बोध होता है उसका सम्बंध श्रुतज्ञान से है। वहाँ जो सफेदी समझ में आयी वह भी यद्यपि श्रुतज्ञान है, उससे प्रथम जो प्रतिभास में आया वह मतिज्ञान का विषय है, उसमें संदेह नहीं, उसमें विकल्प नहीं, उसमें आकुलता नहीं।

प्रत्यक्ष ज्ञानों में विकल्प का अभाव–प्रत्यक्षज्ञान सभी निर्विकल्प होते हैं। अवधिज्ञान से जो कुछ जान लिया, अब उसका जो मुनिजन वर्णन करते है, दूसरों को समझाते है, वह अवधिज्ञान का काम नहीं। अवधिज्ञान से जानकर फिर उसकी स्मृति हुई, स्मृति के बाद श्रुतज्ञान से उसका उत्तर

दिया। अवधिज्ञान से जो जाना गया वह तो जाना गया। जानकर अपने आपके लिए भी कुछ समझना, कुछ विकल्प करना, कुछ संकल्प करना अथवा दूसरों को समझाना ये सब श्रुतज्ञान की बातें है। हम आपमें जो ज्ञान उत्पन्न हो रहे हैं वे ज्ञान किस ढंग के हैं, यह बात वहाँ कही जा रही है। तो विकल्प-प्रत्यक्ष अर्थात थोड़ा-सा प्रत्यक्ष कर लेना दो प्रकार के हैं- अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान। दूर क्षेत्र में क्या है, दूर समय में भूत अथवा भविष्य में क्या है? इन बातों को जानता है अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान जानता है कि इसके मन में क्या विचार है, यह क्या चिन्त्न कर रहा है? अवधिज्ञान का भी विषय अल्प है और मन:पर्ययज्ञान का भी विषय अल्प है। समस्त विषय, तीन लोक, तीन काल के समस्त पदार्थ तो केवल एक ज्ञान में आते ही हैं इसलिये वह सकल प्रत्यक्ष है। यह प्रमाण है। इससे जो जाना गया है वह पदार्थ सही जाना गया है।

ज्ञान में ही प्रमाणरूपता–लोकव्यवहार में जैसे लोग अदालतों में पूछते हैं कि इस घटना का क्या प्रमाण है? तो लोग पेश कर देते है कोई कागज, पर कागज तो प्रमाण नहीं हैं। प्रमाण होता है ज्ञान। सच्चे ज्ञान को प्रमाण कहते है। उस कागज में जो लिखा है उसे बांचकर जो ज्ञान बनता है वह ज्ञान प्रमाण है, न कि कागज। पर उस प्रकार का ज्ञान कागज बांचकर हुआ, कागज के निमित्त से हुआ अत: कागज में उपचार करके कहते हैं कि लो प्रमाण यह है। कागज सामने रख दिया, पर कागज अजीव चीज वह प्रमाण कैसे बन सकता है? प्रमाण होता है ज्ञान, जिसमें संशय विपर्यय और अनध्यवसाय नहीं होते। व्यवहार में लोग तीन तरह के प्रमाण मानते है- लिखितं, साक्षिणो, भुक्ति:। एक तो लिखा हुआ, दूसरा गवाह और तीसरा कब्जा। यदि किसी का कब्जा है किसी वस्तु पर तो कहते हैं कि लो हमारा यही प्रमाण है कि कब्जा चला आ रहा है अथवा कोई गवाह हो तो कहते हैं कि यह प्रमाण है अथवा कोई लिखित दस्तावेज है तो वह प्रमाण है, लेकिन ये तीनों बातें उपचार से हैं। वास्तव में तो ज्ञान को ही प्रमाण कहते हैं। लिखित कागज को देखकर जो बोध किया वह बोध प्रमाण है। गवाह की बात सुन करके जो ज्ञान किया वह ज्ञान प्रमाण है अथवा कब्जा निरख करके जो ज्ञान हुआ कि यह तो इसकी चीज है, चली आई है, इसके अधीन में है, जो भी ज्ञान हो, जितने अंश के लिये ज्ञान हो वह प्रमाण है। तो प्रमाण से पदार्थ की परीक्षा होती है।

आत्मज्ञान के उपायभूत ज्ञान के विलासों की चर्चा–भैया ! हमें करना है आत्मा का ज्ञान, आनन्द का ज्ञान। आनन्द का स्वरूप क्या है, आत्मा का स्वरूप क्या है? यह समझना है तो इसके समझने का उपाय पहिले तो लक्षण कहा था। निर्दोष लक्षण से आत्मतत्त्व का परिज्ञान होगा। लक्षण भी बताया गया था चैतन्यस्वरूप ज्ञानभाव, सहज ज्ञान। अब लक्षण की बात कहकर यहाँ प्रमाण की बात कह रहे हैं कि ज्ञान से ही पदार्थ का परिचय होता है। जिस ज्ञान से पदार्थ का परिचय होता है उस ज्ञान का विवरण किया जा रहा है कि वे ज्ञान किस-किस ढंग के होते हैं? तो प्रत्यक्ष दो प्रकार के हैं- एकदेश प्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष। एकदेश प्रत्यक्ष में तो थोड़ा-सा पदार्थ जाना जाता है, पर जाना जाता है आत्मबल से । इन्द्रिय और मन की सहायता लिए बिना ऐसे

प्रत्यक्ष दो तरह के होते हैं—अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान। अवधिज्ञान से तो दूर क्षेत्र, दूर काल के रूपी पदार्थ जाने जाते हैं। पर सम्यग्दृष्टि हो तो उसे तो सच्चा अवधिज्ञान होता है और वह होता है अवधिदर्शनपूर्वक।

मिथ्यादृष्टि के कुअवधिज्ञान की पद्धति का दिग्दर्शन—मिथ्यादृष्टि के अवधिज्ञान हो तो उसे खोटा अवधिज्ञान होता है- कुअवधिज्ञान और कुअवधिज्ञान में पदार्थ तो जाना जाता है मगर इस ही ढंग से जाना जाता है कि जो एक अहित करने की दिशा लिए हुए होता है। जैसे नरकों में नारकियों को कुअवधिज्ञान होता है तो जो सामने नारकी है वह चाहे पूर्वभव का माता का जीव हो पर उसे निरखकर वह सोचेगा तो यही सोचेगा कि इसने तो मेरी आँखों में सलाई चुभोकर मेरी आँखें फोड़ने का यत्न किया था, हालाँकि उस माँ ने आँखों में ज्योति बढ़ाने के लिए सलाई द्वारा अंजन लगाया था, पर उसे ऐसा कुअवधिज्ञान होता है, खोटा ज्ञान होता है कि इसने तो मेरा अहित ही विचारा था। एक बड़ी प्रसिद्ध घटना है आदिनाथ भगवान के पूर्वभव के समय की। आदिनाथ भगवान का जीव कोई राजा था तब उसे मंत्री प्रतिबोध रहा था निकट भव्य जानकर, तो उसमें एक कथा कह रहा था कि आपके वंशजों में एक अरविन्द नाम का राजा था। उसे एक बार बड़े जोर का ज्वर आया। ऊपर की छत में कोई दो छिपकलियाँ लड़ रही थीं तो एक छिपकली की पूँछ टूट गई, उसके खून के दो-चार बूँद उस अरविन्द राजा के शरीर पर पड़े। उन खूंन के बूंदों से राजा को बड़ा चैन-सा मिला। सो उसने अपने पुत्रों को यह आदेश दिया कि ऐ पुत्रों ! जाओ कहीं से हिरण, खरगोश, वनगायें आदि मारकर उनका खून लाओ और एक खून की बावड़ी बनाओ, हम उसमें नहाकर तृप्त होंगे। तो वे दो पुत्र बोले कि पिताजी इतना खून कहाँ से लाया जाय? वह अरविन्द राजा कुअवधिज्ञानी था, मिथ्यादृष्टि था। उसने बताया कि अमुक जंगल में जाओ, उस जंगल में बहुत से हिरण, खरगोश आदिक जानवर हैं। वे लड़के उस जंगल में गए तो वहाँ एक मुनिराज बैठे हुए थे। उन्होनें अवधिज्ञान से, मन:पर्ययज्ञान से सब कुछ जान लिया।मुनिराज बोले- देखो पुत्रो ! तुम किसका खून लेने जा रहे हो? कुछ धर्मोपदेश दिया, आत्मा का स्वरूप कहा, आत्मा के एकत्व का वर्णन किया। आखिर वे दोनों राजकुमार बोले कि हमारे पिता तो बड़े ज्ञानवान हैं, वे तो आगे-पीछे की भी बातें बता देते हैं, उन्होनें बताया है कि इस जंगल में बहुत से पशु हैं, वहाँ से खून लाओ। तो मुनिराज बोले कि वह तो मिथ्यादृष्टि है, उसके कहने में आकर जो तुम खून करोगे तो इसका पाप कौन लादेगा? इसका दु:ख किसे भोगना पड़ेगा? तो वे दोनों राजकुमार बोले कि मेरे पिता मिथ्यादृष्टि हैं यह तुमने कैसे जाना? तो मुनिराज ने कहा कि अच्छा, तुम वापिस जाओ और राजा से पूछो कि उस जंगल में और क्या है? उसे तो खराब-खराब बातें ही सूझेंगी। वह यह न बता सकेगा कि वहाँ पर कोई मुनिराज विराजे हैं। वे राजपुत्र वापिस गए। राजा से बोले कि पिताजी उस जंगल में और कौन-कौन हैं? तो राजा ने कहा वहाँ रीछ हैं, खरगोश हैं, और भी बहुत से नाम बताये, पर यह न बता सका कि वहाँ पर कोई ज्ञानी ध्यानी मुनिराज भी रहते हैं। उन राजपुत्रों को निश्चय हो गया कि हमारा पिता मिथ्यादृष्टि है। उसका

इतना पापमयी अभिप्राय है तो निश्चय ही नरक जायगा। लेकिन पिता का हुक्म तो बजाना ही था सो जीवों की हिंसा तो न की, पर खून जैसा ही लाख का रंग एक बावड़ी में भरवा दिया। परन्तु राजा जब उस बावड़ी में नहाने गया और समझ लिया कि यह खून नहीं है। तो नंगी कटारी लेकर अपने पुत्रों को मारने दौड़ा। वे राजपुत्र भागे जा रहे थे। राजा अरविन्द उनका पीछा किए था। रास्ते में उस राजा को ऐसी ठोकर लगी कि वह जमीन में गिर गया और उसकी ही कटारी उसके पेट में समा गई। वहीं वह राजा मरकर नरक गया। तो कुअवधि के विषय में कह रहे हैं कि उसमें दूरक्षेत्र की बात तो जानी जाती है पर खोटे ही खोटे दृश्य नजर आते हैं, परन्तु जो सम्यग्दृष्टि जन होते हैं उनका अवधिज्ञान सत्य अवधिज्ञान होता है। अवधि के दर्शन या अन्य दर्शनों में एक आत्मावलम्बन से सामान्य प्रतिभास होता है और उस प्रतिभासपूर्वक ज्ञान होता है छदमस्थ जीवों को, किन्तु जिन्हें कुअवधिज्ञान है उनके वह ज्ञान कुमति ज्ञानपूर्वक होता है और कुमतिज्ञान से पहिले जो दर्शन हुआ वह दर्शन परम्परया कारण बनता है।

प्रमाण के भेदों में अवधिज्ञान के प्रकार–प्रमाण के दो भेद कहे गये हैं- परोक्ष और प्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष के दो भेद बताये- एकदेश प्रत्यक्ष और सकलप्रत्यक्ष। एकदेश प्रत्यक्ष के दो भेद है अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान। इनमें से अवधिज्ञान की यह चर्चा चल रही है। अवधिज्ञान तीन प्रकार के होते हैं- देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। इनमें से परमावधि और सर्वावधि तो मुनियों को ही होता है और देशावधि चारों गतियों के जीवों को होता है। कोई तिर्यंच भी ऐसे होते हैं कि जिनके अवधिज्ञान हो सकता है। नारकी, मनुष्यों और देवों के देशावधि के सम्बंध में अब कुछ प्रकार बताये जायेंगे कि देशावधिज्ञान कितने ढंग से होता है? यह ज्ञान चारों गतियों में हो सकता है, याने थोड़ा अवधिज्ञान एक साधारण रूप का अवधिज्ञान। इन्द्रिय और मन की सहायता लिए बिना केवल आत्मबल से होता है उस अवधिज्ञान के अब भेद बताये जायेंगे।

निज ज्ञान वैभव के परिचय की व उपयोग की उपयोगिता–सभी जीव ज्ञानमय हैं। ज्ञानमय आत्मा का ज्ञान कितने तक प्रकट होता है, उस संबंध को लेकर उस ज्ञान से पदार्थ परिचय होता है, यह चर्चा चल रही है। ज्ञान-विकास के विस्तार को समझकर यह निर्णय करना है कि पदार्थों के जानने के उपाय ऐसे-ऐसे ज्ञान होते हैं। ज्ञान 5 प्रकार के बताये गये हैं। सिद्धान्त शास्त्रों में पढ़ लेते हैं, तत्त्वार्थ सूत्र में पढ़ लेते है, पर उनका क्या मतलब है, यह जानने की न उनकी इच्छा है, न प्रयत्न है। कभी जानने के लिए कहा जाय या जानने की बात बोली जाय तो वह कठिन मालूम होती है, बुद्धि पर जोर आता है और चाहते यह हैं कि यह बात क्या सुनाते, कोई ऐसी बात होना चाहिए जो चटपट हो, लेकिन अपने आपके ज्ञान की बात जो उच्च विकास की है, उसका परिचय होने से अपने अन्त: यह साहस जगता है कि अहो ! मैं तो ऐसे वैभव वाला हूँ, मेरा ज्ञान-वैभव तो ऐसा महान है, तो अपने छोटे-मोटे इन ज्ञानों में या इन थोड़े से लगावों में चित्त न रहेगा। संसार

में क्लेश अज्ञान का है। अज्ञान को छोड़कर और कोई क्लेश ही नहीं। जो जीव दु:खी हैं वे किसी न किसी प्रकार के अज्ञान में हैं, इसलिए दु:खी हैं। ज्ञान तो सही यह है जब ज्ञान में ज्ञान का विशुद्ध स्वरूप समाया हो। अब आप सोच लीजिए कि जिस जीव के ज्ञान में केवल सहजज्ञान ज्ञानप्रकाश चैतन्यमात्र निजज्योति समाई हुई हो उस उपयोग में आकुलता का कोई काम है क्या? वहाँ आकुलता रंचमात्र नहीं। राग त्यागि पहुँचूँ निज धाम। आकुलता का फिर क्या काम। बाह्य पदार्थ विषयक ज्ञानों को छोड़कर यदि सहज ज्ञान-स्वभाव मात्र इस निज तत्त्व में पहुँचे तो आकुलता का फिर कोई काम नहीं रहता। तब अपने आपके स्वरूप के विकास के वैभव के महत्ता की जानकारी तो अवश्य कर लेना चाहिए। यही जानकारी न की, निजस्वरूप की ही समझ न आई तो बाकी समझों से तो कोई काम नहीं बन सकता।

ज्ञानों में प्रत्यक्ष व परोक्षरूपता–ज्ञान के इन 5 प्रकार–मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवल, इनमें से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो परोक्षज्ञान है, इनकी जानकारी में तो इन्द्रिय और मन की सहायता लेनी होती है, पर अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान के परिणमन में इन्द्रिय और मन की सहायता नहीं होती। ये तीन प्रत्यक्षज्ञान कहलाते हैं। जैसे कि लोकव्यवहार में लोग कहते है कि हमने इसे प्रत्यक्ष आँखों देखा, तो उनका यह कहना औपचारिक है। आँखों से देखने का नाम प्रत्यक्षज्ञान नहीं, वह तो परोक्षज्ञान है, क्योंकि उसमें इन्द्रिय और मन का सहारा लिया गया है, लेकिन परोक्ष होने पर भी यहाँ एकदेश स्पष्ट प्रतिभास किया जा रहा है, इस नाते से उसे प्रत्यक्ष कहते हैं, तो भला जो प्रत्यक्ष नहीं है, परोक्ष है उसमें भी हमारा स्पष्ट प्रतिभास हो रहा तो जो सही प्रत्यक्षज्ञान है उनमें कितना स्पष्ट प्रतिभास होता होगा? इन तीन प्रत्यक्षज्ञानों में से अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान-ये दो ज्ञान तो विकल-प्रत्यक्ष हैं, एकदेश जानते हैं। उसमें अवधिज्ञान की चर्चा चल रही है कि अवधिज्ञान का कितना फैलाव है? यहाँ तो लोग अवधिज्ञान की बात सुनकर भी प्रभावित हो जायेंगे। ओह ! ये कैसे ऊँचे अवधिज्ञानी हैं। कोई मुनि अवधिज्ञानी हो और वह आगे-पीछे की बात बताने लगे तो लोगों की श्रद्धा बढ़ती है। लोगों पर प्रभाव होता है। अवधिज्ञान से भी बढ़कर मन:पर्ययज्ञान है और सर्वोत्कृष्ट है केवलज्ञान। उसकी बात भी आगे आयगी, पर इस समय अवधिज्ञान की बात सुनो।

अवधिज्ञान के तीन व दो प्रकार–अवधिज्ञान होता है तीन प्रकार का- देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। एकदेश याने थोड़ा अवधिज्ञान होना सो देशावधि है। उत्कृष्ट अवधिज्ञान होना सो परमावधि है, और सर्व का अवधिज्ञान होना सो सर्वावधि है। इन तीनों में परमावधि और सर्वावधि ज्ञान तो मुनियों के ही हो सकता है, अन्य के नहीं और वह भी उसी भव से मोक्ष जाने वाले मुनियों के हो सकता, पर देशावधिज्ञान चारों गतियों के जीवों में होता है। अवधिज्ञान के ऐसे भी

दो भेद है- भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। भवप्रत्यय का अर्थ है कि भव का निमित्त पाकर अवधिज्ञान नियम से होता ही है। जैसे देव और नारकी इन जीवों के लिए अवधिज्ञान नियम से होता है। यदि देव नारकी कोई मिथ्यादृष्टि है तो कुअवधिज्ञान होगा और सम्यग्दृष्टि है तो सुअवधिज्ञान होगा, पर वह भव ऐसा है कि उस भव में अवधिज्ञान होता ही है। इसे कहते हैं भवप्रत्यय अवधिज्ञान। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान जहाँ भव का नियम नहीं है किन्तु जैसा क्षयोपशम हो, अवधिज्ञानावरण का पर्दा हटा हो उस हटाव के माफिक अवधिज्ञान होना याने जिसमें क्षयोपशम कारण है, भव कारण नहीं, उसको कहते हैं गुणप्रत्यय, और जो उस भव का निमित्त पाकर नियम से अवधिज्ञान हो उसे कहते हैं भवप्रत्यय। भवप्रत्यय देशावधि ही होता है और गुणप्रत्यय तीनों प्रकार के होते हैं।

अवधिज्ञान के छह प्रकारों में प्रथम अनुगामी अवधिज्ञान–अब अवधिज्ञान के अन्य प्रकार से भेद सुनो। अवधिज्ञान 6 प्रकार से भी समझा जाता है। जैसे पहिला प्रकार है अनुगामी। अनु मायने पीछे-पीछे, गामी मायने चलना। जिस भव में अवधिज्ञान होता है वह अवधिज्ञान की धारा मरने के बाद अगले भव में भी जाय, एक तो ऐसा अनुगामी अवधिज्ञान होता है। जैसे ऊंचे स्वर्गों के देव अवधिज्ञानी होते है और अनेकों के अवधि ज्ञान देवों के मरने पर यहाँ मनुष्य होते हैं तो यहाँ भी साथ आते हैं। तीर्थकर जो पुरुष बनते हैं वे जैसे देवगति से आये, मनुष्य बने तो वह अवधिज्ञान वहाँ और यहाँ मनुष्य तक बराबर रहता है, अर्थात एक भव छोड़ने के बाद भी दूसरे भव में अवधिज्ञान जाय उसे अनुगामी अवधिज्ञान कहते है। यह हुआ भव-अनुगामी। अवधिज्ञान क्षेत्र-अनुगामी भी होता है। जिस क्षेत्र में, जिस देश में, वन में अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है उस क्षेत्र को छोड़कर दूसरे देश में, गाँव में कहीं भी जाय तो वहाँ भी वह अवधिज्ञान साथ जाये, इसे कहते है क्षेत्र-अनुगामी अवधिज्ञान। और किसी के अवधिज्ञान ऐसा पुष्ट होता है कि दूसरे भव में और दूसरे क्षेत्र में भी जायगा उसे कहते हैं अनुगामी अवधिज्ञान।

अननुगामी अवधिज्ञान–दूसरा अवधिज्ञान होता है अननुगामी। मरने के बाद दूसरा जन्म जहाँ लिया जाय वहाँ अवधिज्ञान न जाय, ऐसे अवधिज्ञान को भव-अननुगामी अवधिज्ञान कहते हैं। जिस क्षेत्र में, वन में, देश में अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है उस क्षेत्र को छोड़ने के बाद दूसरी जगह जाने पर अवधिज्ञान न रहे उसे क्षेत्र-अननुगामी अवधिज्ञान कहते हैं। देखिये- कितना कमजोर यह अवधिज्ञान है कि मान लो, एक वन में विराजे हुए किसी जीव को अवधिज्ञान हो गया हो तो हो गया, चल रहा, अब उस जगह को छोड़कर दूसरे गाँव चला जाय तो अवधिज्ञान न रहे। जैसे बहुत से ऐसे कमजोर दिल के व्यक्ति रहते हैं कि जिस कमरे में रोज सोते वहाँ तो नींद आती है और कारणवश दूसरे कमरे में खाट बिछानी पड़े तो नींद नहीं आती, बहुत देर में आती है। यहीं के

श्रुतज्ञानों में भी यही बात देखी जाती है। जैसे किसी के सत्संग में रहकर ज्ञान चलता है, बुद्धि चलती है, बड़े तत्त्व की बात भी समझ में आती है। वह सत्संग छूटने के बाद, वह वातावरण, वह क्षेत्र छूटने के बाद बुद्धि नहीं चल पाती। तो ऐसे भी अवधिज्ञान होते है कि जिस जगह में अवधिज्ञान होता है वह जगह छूटने के बाद, दूसरी जगह में पहुंचने पर अवधिज्ञान नहीं रहता। और, कुछ उभय अननुगामी अवधिज्ञान होते है, न दूसरे भव में जाये, न दूसरे क्षेत्र में जाये।

अवधिज्ञान का आत्मरूप–यह अवधिज्ञान क्या चीज है? अवधिज्ञान द्वारा इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मबल से रूपी पदार्थों का स्पष्ट प्रतिभास होता है, जिस समय अवधिज्ञान से कोई बात जानी जा रही है उस समय में जीव के कोई विकल्प नहीं है। विकल्प के मायने श्रुतज्ञान में जो बात होती है वह नहीं, क्योंकि ज्ञान तो सविकल्प का ही नाम बताया गया है। निर्विकल्प दर्शन कहा गया, लेकिन ज्ञानमय श्रुतज्ञानजन्य विकल्प न हो तो उसे निर्विकल्प ज्ञान कहते हैं। जान लिया बस अवधिज्ञान से, अब जानने के बाद चूँकि आत्मा वही है, एक स्मरण हो गया, अब उस स्मृति के बल पर दूसरे लोगों को बताते भी हैं कि तुम अमुक थे, यह हो। ऐसा अवधिज्ञान कुछ लोगों को लगता होगा कि बड़ी ऊँची बात है, बड़ा विकास है, ऐसा होना बड़ी कठिन बात है, लेकिन जिनको इसकी कुञ्जी प्राप्त हुई है और उस कुञ्जी पर चलते है उनके लिए ऐसा ज्ञान होना कोई कठिन बात नहीं है। ज्ञानविकास की कुञ्जी है असली रागद्वेष, मोह तजकर अपने आपके ज्ञानस्वरूप का उपयोग बना। यह एक ऐसा अग्नि का कण है कि जिसके द्वारा आवरण कर्म जल जाते हैं और ज्ञानविकास सहज हो जाता है। हम आपको करने लायक केवल एक ही काम है, वह काम यही कि अपने सहज ज्ञानस्वरूप को जाने और ज्ञान में उस सहज ज्ञानस्वरूप को ही अपनायें, इसके अतिरिक्त और कोई काम करने योग्य है ही नहीं और करना पड़ रहा है वह सब एक कर्मोदय की प्रेरणा पर।

सांसारिक समागमों से शान्ति की आशा रखने की दुराशा–भैया ! क्या रखा है यहाँ की बातों में? जिस घर में आप रहते हैं वह घर आपका नहीं है। कुछ समय बाद छूटेगा। आपका दिल माने या न माने, पर दूसरे की बात स्पष्ट जानते हैं कि जिस घर में रहते हैं यह घर कभी छूटेगा ही। जीव न जाने कहाँ जायेगा? उसे पक्षी चोंट जायेंगे या जला दिया जायेगा। देह की बात देह से, जीव की बात जीव से । घर रहेगा नहीं, जिस धन-वैभव को इतना सम्हाल करके रख रहे हैं यह धन-वैभव आपका नहीं है। सम्हाल कर रखते भी पाप का उदय आयगा तो किसी तरह से यह निकल जायगा, सम्हाल न सकेंगे। और कहो, किसी समय एकदम सभी का राष्ट्रीयकरण हो जाय तो लो सबकी सम्पदा गई, किसी की भी न रही। तो यह तो अच्छी बात है। तुरन्त जरूर बात बुरी लगती है कि तब कुछ न रहेगा, और अच्छा यों है कि फिर ममता न रहेगी तो उस समय अवकाश मिलेगा कि आत्मध्यान में ज्यादा लगें। यह कोई निश्चय नहीं हैं कि आत्मध्यान में लगेंगे ही, यह

तो उसके ज्ञान पर निर्भर है। लेकिन एक अवकाश तो है, और अवकाश तो परिग्रह के रहते हुए भी है। ज्ञानी पुरुष तो परिग्रह के बीच रहकर भी उसे अपना कुछ नहीं मानते। चक्रवर्ती तो छह खण्ड़ की विभूति का स्वामी होने पर भी उससे उदास रहता है, तो यह तो अपने-अपने ज्ञान की बात है, और इतना तो जरूर चित्त में लाना चाहिए कि ऐसा लोभ न बनायें कि चाहे कुछ भी हो पर खर्चा न होगा। जैसे कोई मजदूर आटा खरीदने के लिए गया। वह एक हाथ में एक रुपया लिए था, तो जब आटा ले लिया और रुपया देने लगा तो वह रुपया तो मुट्ठी में बाँध कुछ पसेव से गीला हो गया था, सो वह मजदूर सोचता है- ओह ! देखो यह रुपया तो रो रहा है। सो बोला- ऐ रुपये ! हम मर जैहैं पर तुम्हें न भजै हैं। सो वह बिना आटा लिए ही वापस लौट आया और भूखा ही रहकर सो गया। यों ही समझिये कि जिन परपदार्थों के पीछे इतनी अधिक ममता रखते हैं, वे दु:ख के ही कारण बनेंगे। इससे उन परपदार्थों की चिंता न करें, उदयानुसार जो आना हो आये। चिंता करने से भी होना क्या है? जहाँ रागद्वेष, मोह ढीले हुए और ज्ञान में अपना सहज ज्ञानस्वरूप समाया तो वहाँ भी ये ज्ञानविकास होगा, सच्चा वैभव बढ़ेगा। झूठे वैभव की ममता में सच्चे वैभव की बरबादी हो रही है। सत्य वैभव अपना ज्ञान है। तो जो लोग अपने वैभव की बात सुनने में भी आलस्य करें उनके लिए फिर आगे कल्याण की बात भी क्या है? अन्य राग-भरी बातों में चित्त रमें और रागरहित ज्ञानस्वरूप कथनी सुनने में चित्त न जमे, उसका तो स्पष्ट परिणाम है कि उसका संसार में ही चित्त रहा है, संसार में ही वह जमना चाहता है।

वर्द्धमान और हीयमान अवधिज्ञान–हाँ, यह अवधिज्ञान की चर्चा चल रही है कि अवधिज्ञान कोई अनुगामी भी होता है और कोई अननुगामी भी होता है और अवधिज्ञान के दो भेद ये हैं- वर्द्धमान और हीयमान। जब जितने रूप का ज्ञान प्रकट हुआ है उससे वह बढ़ता ही जाय, न घटे और न ज्यों का त्यों ही रहे ऐसे अवधिज्ञान को वर्द्धमान अवधिज्ञान कहते है। होता है ऐसा। जब विकास और निर्मल परिणाम जीव के बढ़ते है तो सहज ही बढ़ता चला जाता है अवधिज्ञान। बढ़ने के मायने क्या कि कोई जीव मानो अभी दो हाथ दूर तक की बात अवधिज्ञान से जानता था। पीछे दो हाथ में क्या है? अवधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र तो बिल्कुल नजदीक है। यों समझिये कि अंगुल के असंख्यातवें भाग दूर की बात जाने ऐसा भी अवधिज्ञान है, उसमें भी क्षयोपशम चाहिए। इन्द्रिय, मन की सहायता के बिना हम एक अंगुल पीछे की भी बात जान जायें यह तो क्षयोपशम-साध्य बात है। तो क्षेत्र भी बढ़े और 10 हाथ दूर की भी बात जान गये, 10 कोस की बात जान गये, 10 हजार योजन की बात जान गये, सागरों योजन की दूर की बात जान गये। काल में भी एक मिनट पीछे की बात जान गये, 10 साल पीछे की बात जान गये, सागरों वर्ष पीछे की बात जान गये। यों अवधिज्ञान बढ़ता जाता है। तो जो अवधिज्ञान बढ़ता ही जाय उसे वर्द्धमान अवधिज्ञान कहते हैं और जो अवधिज्ञान घटता ही जाय, जितने परिणाम में अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ था बस ज्यों समय बीतता जाता हैं त्यों उनका ज्ञान कम होता जाता है, ऐसे अवधिज्ञान को हीयमान अवधिज्ञान कहते हैं।

अवस्थित और अनवस्थित अवधिज्ञान–अब दो प्रकार के ज्ञान हैं- अवस्थित अवधिज्ञान और अनवस्थित अवधिज्ञान। जितनी दूर तक का जानने वाला, जितने लम्बे समय तक का जानने वाला, जितना सूक्ष्म से सूक्ष्म चीजों को जानने वाला अवधिज्ञान होता है उतना ही रहे, न घटे, न बढ़े, उसे अवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं और जो अवधिज्ञान घटे भी, बढ़े भी, जितने रूप में उत्पन्न हुआ था उससे कुछ घट भी जाय, इससे कुछ बढ़ भी जाय ऐसे अनवस्थित घटने-बढ़ने वाले अवधिज्ञान को अनवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं। यह अवधिज्ञान क्या है? आत्मा में जो एक ज्ञानशक्ति है, ज्ञानगुण है उस ज्ञानगुण से एक निरपेक्ष परिणमन है याने इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रखे बिना परिणमन है। सर्वथा निरपेक्ष नहीं, क्योंकि अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम के अधीन इसका विकास है। यही मैं ज्ञानमय पदार्थ हूँ, यही मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, जब रागद्वेष मेरे कम हों, और मुझे अपने स्वरूप में रुचि जगे और इस ही ज्ञानस्वभाव का र्स्पश बनाये रहने में भाव जगें तो ऐसे-ऐसे ज्ञान प्रकट होते हैं। इस चर्चा को सुनकर इतनी बात तो मन में लायें कि यदि मैं इस घर, धन, वैभव, परिजन आदिक की ममता को छोड़कर रहूँ और अपने आपके ज्ञानस्वभाव के ज्ञान में यत्न करूँ तो मेरे अतुल वैभव प्रकट होता है। सच्चा वैभव तो इस ही पुरुषार्थ में मिलेगा, बाकी जो और काम किए जा रहे हैं वे सब व्यर्थ के काम हैं, संसार में रूलाने वाले काम हैं।

अवधिज्ञान में प्रयुक्त अवधि शब्द का प्रकाश–अवधिज्ञान इस शब्द का अर्थ क्या है? अवधि कहते है मर्यादा को। जिस ज्ञान में मर्यादा पड़ी हुई है कि यह ज्ञान इतने मोटे या इतने बारीक पदार्थ को जान सकता है, यह ज्ञान इतने दूर क्षेत्र की बात जान सकता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं। मर्यादा सहित ज्ञान का नाम अवधिज्ञान है। देखिये, मर्यादा तो मन:पर्ययज्ञान में भी है, ढाई द्वीप तक का इसका क्षेत्र है। और, किसके मन की बात जान सके, किसके मन की बात न जान सके यह भी मर्यादा है। अत: मन:पर्ययज्ञान भी अवधि वाला है लेकिन अवधिज्ञान इतने मात्र से दोनों को कहा जाय तो स्पष्टता तो नहीं आती कि क्या स्वरूप है? ऐसे मन:पर्ययज्ञान का जो खास विषय है उस विषय की मुख्यता से नाम धरा है मन:पर्यय। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान ये इन चारों ज्ञानों में निरवधिज्ञान तो केवलज्ञान है सिर्फ और इस दृष्टि से 5 ज्ञानों के नाम इस क्रम से लिए जाये तो बहुत ही उत्तम है- मति, श्रुत, मन:पर्यय, अवधि और केवलज्ञान। इस क्रम में यह जाहिर हो जायगा कि अवधिज्ञान के पहिले के ज्ञान अवधि वाले है और उसके बाद का केवलज्ञान निरवधि है। अवधि की दृष्टि से 5 ज्ञानों का क्रम यह होना चाहिए लेकिन चूंकि मन:पर्ययज्ञान मुनियों के ही हो सकता है। तो जो चारों गतियों में सम्भव है उस दृष्टि से नाम रखा गया तो मति, श्रुत, अवधि और जो केवल मुनियों में ही सम्भव हैं सो है मन:पर्यय और केवलज्ञान। ये 13वें गुणस्थान के केवली भगवान हैं ना। हैं वे भगवान और मुनि से ऊँचे हैं, परमात्मा हैं, लेकिन एक धारा में इन्हें भी निंग्रन्थ मुनि में शामिल किया है, जहाँ कि निर्ग्रन्थ में 5 भेद किए, वे 5 भेद कौन-कौन से हैं? भगवान स्नातक हैं। भगवान ने अपने

ज्ञानसमुद्र में भरपूर स्नान कर लिया है। अब ये त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को स्पष्ट जानते है। ऐसे इन 5 प्रकार के ज्ञानों में अवधिज्ञान की बात बताई जा रही है।

मन:पर्ययज्ञान–जिन साधु पुरूषों को कोई विशिष्ट ऋद्धि उत्पन्न हो जाती है उनके किन्हीं के मन:पर्ययज्ञान होता है, अर्थात दूसरे के मन में जो विचार हो अथवा कभी विचार किया था, अथवा कभी विचार उत्पन्न होगा, वह सब मन:पर्ययज्ञानी साधु पुरुष जान लेते हैं। यद्यपि ऐसा लगता होगा कि दूसरे के मन की बात तो यहाँ भी अनेक लोग समझ लेते हैं लेकिन यह उनकी समझ प्रत्यक्ष और स्पष्ट नहीं है। मन:पर्यय ज्ञानी को प्रत्यक्ष और स्पष्ट ज्ञान होता है। यहाँ हम आप जो दूसरे के मन की परख करते है कोई चिह्न देखकर, कोई वचन देखकर, कोई शकल-सूरत देखकर, इन्हीं चिह्नों से हम विचार का अनुमान करते हैं, यह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। अवधिज्ञान की अपेक्षा मन:पर्ययज्ञान में विशेष निर्मलता है। अवधिज्ञान तो चारों गति के जीवों को हो सकता हैं, लेकिन मन:पर्ययज्ञान मनुष्यों के ही होगा। मनुष्यों में साधुओं के ही होगा, और साधुओं में भी जो विशिष्ट ऋद्धिधारी साधु हैं उनके ही होगा। यों विशेष निर्मलता कारण है मन:पर्ययज्ञान उत्पन्न होने में। मन:पर्ययज्ञान में भी सीमा पड़ी हुई है, क्योंकि यह विकल-प्रत्यक्ष का भेद है। यह बात पहिले बता दी गई थी कि मन:पर्ययज्ञान में भी सीमा पड़ी हुई है और नियमित ज्ञान होने के कारण 5 ज्ञानों का क्रम इस प्रकार भी रखा जाये तो भी संगत है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, अवधिज्ञान और केवलज्ञान। अवधिज्ञान और अवधिज्ञान के पहिले के समस्त ज्ञान मर्यादा रखकर जानते हैं और अंतिम केवलज्ञान निरूपाधि है, लेकिन मन:पर्ययज्ञान की विशेषता, मन:पर्ययज्ञान में स्वामी की पूज्यता ऋद्धिधारी मुनीश्वरों में ही हो सकती है। इस पूज्यता के नाते से मन:पर्ययज्ञान को केवलज्ञान के पास रखा गया है। तो यह बताया जा रहा है कि हम आप ज्ञानमय पदार्थ हैं और हम आप में कितना विशिष्ट ज्ञान करने का वैभव पड़ा हुआ है, उसका तो ख्याल नहीं करते और जड़पदार्थो में जड़ता बना-बनाकर रागद्वेष कर-करके अपने जीवन के इन दुर्लभ क्षणों को व्यर्थ खोया जा रहा है। जिस ज्ञान से हम पदार्थ जानते हैं वे ज्ञान कैसे-कैसे हैं इसकी चर्चा यहाँ चल रही है। तो मन:पर्ययज्ञान, दूसरे के मन में जो विचार आया था, आया होगा, आयगा, उस सबको जाना जाता हैं मन:पर्ययज्ञान से।

मन:पर्ययज्ञान के प्रकार–मन:पर्ययज्ञान दो प्रकार के होते हैं-एक ऋजुमति और दूसरा विपुलमति। सरल मन में रहने वाले विचार को जाना जावे उसे ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान कहते हैं और जो कठिन से कठिन मायाचरण में रहने वाले विचारों को जान जावे सो विपुलमति मन:पर्ययज्ञान है। सरल मन की बात जानने में जितना क्षयोपशम है उससे विशिष्ट शक्तिविकास मायाचारी के मन की बात परखना है। तो चाहे कैसा ही कुटिल मन हो, उसने जो बात विचारा, जो बात विचार रहा है वह सब मन:पर्यय विपुलमति ज्ञान में बराबर आता है। देखिये- मन में तो हो और कुछ, वचन

से बोला जा रहा है और कुछ, ऐसे पुरुष की विचारधारा को परखना बड़े ज्ञानी का काम है, और सरल मन में जो विचार आये उनको जानना सुगम है। तो इन दो ज्ञानों में जो विपुलमति मन:पर्ययज्ञानी हैं वे नियम से मोक्ष जायेंगे। मन:पर्ययज्ञान के बाद केवलज्ञान होगा, उसके बाद मुक्ति होगी। मोक्षगामी पुरूषों के ही विपुलमति मन:पर्ययज्ञान हो सकता है और जिनके ऋतुमति मन:पर्ययज्ञान हो अर्थात जो सरल मन की बातों को जानें वे मोक्षगामी हों अथवा न हों। जायेंगे अवश्य कभी न कभी मोक्ष क्योंकि सम्यग्दृष्टि हो चुके। सम्यग्दृष्टि साधु संयमी मुनियों के ही मन:पर्ययज्ञान हो सकता है।

केवलज्ञान अनुपम प्रकाश–अब अंतिम ज्ञान है निरवधि केवलज्ञान। जरा अपने आपको सम्हाल कर सुनना है। केवलज्ञान सबका स्वभाव है। हम आप सब जीव केवलज्ञानमय बन जायें ऐसा स्वभाव पड़ा हुआ है। ज्ञानमय हैं ना हम आप? ज्ञान ही आत्मा है, वह ज्ञान ही ज्ञान आत्मा रह जाय, ज्ञान पर पर्दा कुछ न रहे, लो केवलज्ञान हो गया। केवलज्ञान होने में कोई चीज बाहर से जोड़नी नहीं पड़ती, किन्तु जो कुछ रागद्वेष, विकार, अपराध आदि लगे हुए हैं उनको दूर हटाने की आवश्यकता है। तो केवलज्ञान तो स्वभाव की चीज रही, विकार हटे कि स्वभाव प्रकट हो जायगा। ऐसा केवलज्ञान हम आपका स्वभाव है। इतना बड़ा वैभव है। हम आप जिन परमात्मा की मूर्ति के दर्शन करने रोज आते हैं, घुटने टेकते हैं, विनती करते हैं, ऐसा हो जाना तो हम आपका स्वरूप है। तो क्यों जी ! ऐसा दास बना रहना, ऐसा रोज विनती-पूजन आदि करते रहना, यही हमेशा चाहिए या जैसा प्रभु का ज्ञानानन्दमय स्वभाव है उस स्वभाव का विकास चाहिए? इन दोनों का निर्णय तो करो। भगवान के चरणों में भक्ति तब तक के लिए है जब तक कि इस स्वभाव का विकास न हो। पूजन के अन्त में उपासक लोग बोलते भी हैं-

तव पद मेरे हिय में, मम हिय तव पुनीत चरणन में ।

तब लौं लीन रहो प्रभु हिय में, जब लौं मुक्ति न पाऊँ ।।

हे प्रभो ! तुम्हारे चरण कमल मेरे हृदय में विराजें। तब तक विराजे रहें जब तक कि मैं मुक्ति न प्राप्त कर लूँ। तो सुनने में ऐसा लगता है कि जो भक्ति की पद्धति है उस पद्धति में न तो शर्त लगती है, न कोई खुदर्गज की बात कही जाती है, लेकिन इस पद में तो शर्त सीधी लगा दी कि जब तक मुझे मोक्ष न हो तब तक आपके चरणों में मेरा हृदय रहे, और फिर खुदगर्जी भी साबित होती है। जब तक कि भगवान न हो जाये तब तक भगवान के चरणों में मेरा चित्त रहे। अगर कोई वस्तुस्वरूप का सही जानकार ज्ञानी पुरुष है तो वह सही स्वरूप से कभी अपना मुख मोड़ नहीं सकता। वह जानता है कि प्रभु के चरणों में भक्ति करते रहना यह भी तो संसार का रूप है। ज्ञानी तो विकार भाव को स्वीकार ही नहीं करता। जो विकार है सो परभाव है, अन्य है, अधर्म है, और जो अविकार ज्ञानस्वभाव है सो निज है, धर्म है उस धर्म को स्वीकार करना है। तो ऐसी पवित्र भावना और पवित्र निर्णय रखने वाला ज्ञानी कैसे सही सिद्धान्त से अपना मुख मोड़ सकता

है? तो केवलज्ञान की बात कही जा रही है कि ऐसा केवलज्ञान जिस प्रभु के प्रकट हुआ है, तीन लोक, तीन काल के समस्त पदार्थों को एक साथ स्पष्ट जानते हैं। ऐसा ज्ञान हो जाना हम आपके स्वरूप में है, स्वभाव में है। रुचि करें स्वभाव की, तो स्वभाव की बात प्रकट होगी। रुचि करें विकारी की, तो विकार की बात प्रकट होगी।

आत्महित के लिए अपनी वृत्ति की हितरूपता व अहितरूपता के निर्णय की आवश्यकता—भैया ! निर्णय कर लो कि विकार में, विषय में हित है या अविकार ज्ञानस्वभाव में मग्न होने में हित है? धर्मपालन करने के लिए बड़े-बड़े प्रोग्राम बनाये जाते हैं, बड़े श्रम किये जाते हैं, पसीना भी आने लगता हैं, लोग थक भी जाते हैं और बहुत बोलना भी पड़ता है। प्रबंध, लड़ाई-झगड़े भी बीच-बीच में आते हैं, ऐसे धार्मिक समारोह उत्सव, धर्मपालन, विधान आदिक करने वाले लोग चाहे इन बातों से विश्राम ले लें लेकिन एक बार यह निर्णय तो कर ही लें कि धर्म क्या चीज है और धर्म का पालन होता किस प्रकार है? धर्म है मेरे आत्मा का स्वभाव जो सहज है, शाश्वत है, स्वत:सिद्ध है उस धर्म की अथवा कहो कि आत्म स्वभाव की दृष्टि रखना, उसकी ही रुचि करना, उसका ही उपयोग बनाना और उसके ही उपयोग में रमे रहना, यही है धर्मपालन। क्योंकि धर्म उसे कहते हैं जो प्राणी को दु:खों से छुटाकर उत्तम आनन्द स्वरूप में स्थिर कर दे। तो यही धर्मपालन संसार के समस्त दु:खों से छुटाकर जीव को इस आनन्द में धारण करा देता है। धर्म नाम उसका है कि जो बात पदार्थ में स्वभाव रूप से रहे। तो मुझमें स्वभाव रूप से रहने वाला चैतन्यभाव है, ज्ञानभाव है, उस ज्ञानभाव में दृष्टि होना, उपयोग होना, उसमें रमना यही धर्मपालन है। अब सोच लीजिए जहाँ विकार रूचते हैं अथवा धर्म के नाम पर दिल बहलावा की बातें ही रूचती हैं, अपने ज्ञानस्वभाव में पहुँचने का पौरूष भी नहीं करते हैं, उनकी क्या धर्मपालन की स्थिति है? वे तो अधर्म की रुचि करते हैं, विकार की रुचि करते हैं। तो धर्मपालन का प्रभाव है यह कि केवलज्ञान प्रकट हो जाता है। केवलज्ञान पाने के लिए केवलज्ञान की दृष्टि चाहिए। केवल मायने सिर्फ ज्ञान, ज्ञानभाव, केवल जाननस्वभाव, ज्योति। उसकी दृष्टि चाहिए कि केवलज्ञान हो जायगा। इसको सकल प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं। तीन लोक, तीन काल व अलोक सम्बन्धी समस्त द्रव्य, गुण, पर्यायों को एक साथ केवल आत्मशक्ति से स्पष्ट जान लेना सकल प्रत्यक्ष कहलाता है।

ज्ञान का सौक्ष्म्य और विस्तार—ज्ञान का स्वरूप कितना सूक्ष्म है, देखिये सूक्ष्म चीज वह होती है जिसका विस्तार बहुत अधिक हो। बहुत अधिक विस्तार वाला ही सूक्ष्म बन सकता है। अल्प परिणाम वाला सूक्ष्म नहीं होता। इसी कारण यदि यह कह दिया जाय कि सूक्ष्म में स्थूल चीज समा जाती है, लोगों का तो यह ख्याल है कि स्थूल में सूक्ष्म चीज समाती है मगर विवेकपूर्वक विचार करने से यह ज्ञात होगा कि सूक्ष्म चीज में स्थूल चीज समाती है। विस्तार सूक्ष्म का अधिक होता है, स्थूल का परिमाण थोड़ा होता हैं। जैसे आजकल के वैज्ञानिक लोग कहते हैं कि

पृथ्वी का भाग थोड़ा है और जल का भाग अधिक है। पृथ्वी के चारों ओर जल है, पृथ्वी एक द्वीप की तरह है। इसको यदि यह कह दिया जाय कि जल में पृथ्वी समाई हुई है तो यह कोई अत्युक्ति न होगी। अब जरा सिद्धान्त को लेकर भी देखो, तो यहाँ मध्य लोक में पृथ्वी का हिस्सा थोड़ा है, जल का हिस्सा अधिक है। बीच में जम्बूद्वीप है जो एक तरफ एक लाख योजन का है, उससे दूना घेर कर लवण समुद्र है, तब समझ लो कि जम्बूद्वीप से लवण समुद्र कितना बड़ा है। यों दो-दो लाख सभी तरफ बड़ा है तो जरा सोचो तो सही कि उसका कितना बड़ा परिणाम हो गया? उससे दूना दूसरा द्वीप है, उससे दूना उसे घेर कर तीसरा द्वीप-समुद्र है। इस तरह दूने-दूने परिणाम वाले द्वीप और समुद्र होते गए है। अन्त में एक समुद्र है, जिसका नाम स्वयंभूरमण समुद्र है। तो हिसाब करके देखो कि जितना विस्तार उस अंतिम समुद्र का है, सारे द्वीप-समुद्र का मिलकर भी उतना विस्तार नहीं हो सकता। फिर समझ लो कि बाकी में आधे समुद्र और आधे द्वीप। तो पृथ्वी से उस समुद्र की संख्या 4-6 गुना से भी अधिक हो जायगी। तो समुद्र के जल का परिणाम अधिक है। क्यों अधिक है? वैज्ञानिक ढंग से तो कोई यों उत्तर देगा कि चूँकि पृथ्वी से जल पतला होता है इसलिए पृथ्वी में जल समाया है। पतले में मोटी चीज समाई हुई है। सूक्ष्म में स्थूल चीज गर्भित हो जाती है। अब देखो जितना जल का परिणाम है वह सारा जल, सारी पृथ्वी, सब हवा में समाई है। हवा का विस्तार जल से अधिक है। उस समुद्र से बाहर भी हवा है और सारे लोक में हवा है और जहाँ पौद्गगलिक पिण्ड नहीं पाया जाता वहाँ भी हवा है वातवलय के रूप में।

तो हवा का विस्तार अधिक है और हवा में जल भी समाया है और पृथ्वी भी। और हवा से पतला है आकाश। तो आकाश का विस्तार हवा से भी अधिक है। हवा ज्यादा से ज्यादा तीन लोक तक ही है, परन्तु आकाश लोक से भी बाहर है, अलोकाकाश जिसे कहते हैं। आकाश का विस्तार असीम है। उसका अन्त ही नहीं है। और वह इन सबसे पतला है। हवा को रबड़ में बन्द करके रख लिया जाता है। उसे मोटर के ट्यूबों में भरकर हजारों मील तक ले जाया जाता है। मगर आकाश को रोककर किसी थैले में भरकर कोई कहीं ले जा सकता है क्या? नहीं ले जा सकता। तो यह आकाश हवा से भी पतला है। अब देखिये कि सारी पृथ्वी, सारा पानी, सारी हवा, सारा आकाश ये सब केवलज्ञान के एक कोने में समाये हुए हैं। ज्ञान का इतना बड़ा विस्तार है कि ये सब एक अंशरूप मालूम पड़ रहे हैं। उस केवलज्ञान में इतनी सामर्थ्य है कि ऐसे-ऐसे समस्त आकाश, हवा आदिक कितने ही हों, अनन्त भी हों तो भी केवलज्ञान में झलक जाते हैं। क्यों ऐसा होता है? ज्ञान जो जानने का काम करता है सो पदार्थ में जा-जाकर जानने का काम नहीं करता किन्तु ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा हो जो सत् हो, जो है वह सब ज्ञान में आयेगा ही। तो अगर ऐसे अनन्त पदार्थ, अनन्त लोक और भी सत् होते तो सत्व के नाते से उन सबको ज्ञान में आना ही पड़ता। इस कारण यह कहा जाता है कि केवलज्ञान का इतना बड़ा विषय है कि उस केवलज्ञान में ऐसे लोक अनन्त भी होते तो वे सब उस ज्ञान में प्रतिभास हो जाते। तब समझिये कि ज्ञान कितना सूक्ष्म है और कितने महान विस्तार वाला है? ऐसा ज्ञान प्रकट हो जाता।

केवलज्ञान की महिमा–जिस ज्ञान में आनन्द ही आनन्द बसा हुआ है, जहाँ सब कुछ जान लिया, अब उसे आकुलता क्या? प्रथम तो वीतराग भगवान को इस कारण आकुलता नहीं कि उनके रागद्वेष, मोह नहीं है। जहाँ रागद्वेष, मोह हो आकुलता वहाँ ही हो सकती है, एक बात। दूसरी बात साथ-साथ यह भी जान लीजिए कि जिसमें समस्त त्रिलोक, त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को जान लिया, तो ऐसा जानने के कारण भी आकुलता का अवकाश नहीं रह सकता। हम आप लोग आकुलित क्यों हैं? सब बातों का ज्ञान भी नहीं है, सब बातों की जानकारी की जिज्ञासा भी नहीं है।

जब कोई काम करते है तो काम करने का राग है इस कारण भी आकुलता है। पर साथ ही साथ उस कार्य के बारे में जिज्ञासा भी है कि इतना हो गया, इतना और होना चाहिए, यों उसके ज्ञान की भावना भी बनी हुई है। तो आकुलता में कारण साक्षात् और परम्पर्या ये दोनों हैं। प्रभु सर्वज्ञ हैं और वीतराग हैं इस कारण उनकी ऐसी महिमा है कि उनके कोई आकुलता नहीं जगती। जहाँ आकुलता न हो, केवल आनन्दस्वरूप ही बना हुआ हो, ऐसा वैभव पा लेना योग्य है या यहाँ के विनाशिक कर्म के प्रेरे इन परिजन और इन वैभवों में लगाव रखना, यह योग्य है? जरा विवेकपूर्वक सोचो और अपने आप पर दया करते हुए तो सोचो तो यह सहज विदित हो जायगा कि अपने आपके का इस ज्ञानवैभव का विकास करने में ही बुद्धिमानी है, बाकी काम तो बेकार हैं और उनमें तो समय गँवाना है। समय गँवाने के बावजूद भी अन्त में हाथ कुछ नहीं रहता। कितना ही धन कमा लिया जाय, कितना ही परिचय बना लिया जाय, आखिर आखिरी सबकी यही है कि हाथ कुछ न रहेगा, सब कुछ छोड़कर जाना पड़ेगा। लगे भी रहें जिन्दगी भर और जिनमें लगकर ऐसी आकुलता मचाई, ऐसे दुर्लभ मानव जीवन को गमाया और फल यह हुआ कि मिला कुछ नहीं, बल्कि पाप-कोपला, दुर्गति ये ही हाथ लगे। भला बतलाओ- ऐसे कार्य करना क्या कोई विवेक का कार्य कहा जा सकता है? विवेक तो इसमें है कि ऐसी अपने ज्ञानस्वभाव की आराधना बना लें कि जिस स्वभाव की उपासना करने से केवलज्ञान प्रकट होगा, सर्वज्ञ वीतराग दशा बन जायगी, सदा के लिए संसार के संकट छूट जायेंगे। उस ज्ञान की बात यहाँ चल रही है जो कि मोही जनों को रूचिकर न होगा, पर ज्ञानप्रेमियों को रूचिकर होगा|

परोक्षज्ञान–पदार्थ का स्वरूप परखने का उपाय प्रमाण है, इसकी चर्चा चल रही है। सच्चे ज्ञान से पदार्थ का स्वरूप जाना जाता है। सच्चे ज्ञान कैसे होते हैं? उनके जितने भी प्रकार हैं उन सब प्रकार के ज्ञानों में मूल बात यह रहना चाहिए कि संशय, भ्रम और अनध्यवसाय ये तीन दोष ज्ञान में न रहना चाहिए, तो वह ज्ञान सच्चा ज्ञान है। तो ज्ञान के प्रकारों में प्रत्यक्ष ज्ञानों का वर्णन अभी तक हुआ है। अब परोक्ष ज्ञानों का वर्णन चल रहा ये परोक्ष ज्ञान हम आप सभी संसारी जीवों के पाये जाते है। इसका वर्णन यों अधिक चित्त लगाकर सुनना है कि ये सब बातें हम आप पर जो बीत रही है उसकी कथनी है। हम आपके ज्ञान किस तरह में चल रहे हैं वह सब इस परोक्षज्ञान के प्रसंग में मिलेगा। हाँ परोक्षज्ञान- जो ज्ञान इन्द्रिय व मन की सहायता से पदार्थों

को जाने उसे परोक्षज्ञान कहते है। हम आप जितने भी इस समय ज्ञान कर रहे हैं, परखते जायें- या तो उसमें किसी इन्द्रिय का व्यापार है या मन का व्यापार है। जब किसी पदार्थ को छूकर ठंडा, गर्म, रूखा, चिकना आदिक ज्ञान करते हैं तो स्पर्शन इन्द्रिय का व्यापार है। जब घट, मिट्टी आदिक पदार्थों को जानते हैं तो रसना इन्द्रिय का व्यापार है, सुगंध, दुर्गंध जानते हैं तो वह घ्राणइन्द्रिय का व्यापार है। काला, पीला आदिक रंगो को निरखते समय जो जानते है वह कर्ण इन्द्रिय का व्यापार है। इन इन्द्रियों का व्यापार यदि बन्द कर दें तो इन विषयों का ज्ञान नहीं हो पाता और मन का विषय है नाना प्रकार का। न जाने क्या-क्या विचार बनते, क्या-क्या ख्याल बनते। इज्जत चाहिए, प्रतिष्ठा चाहिए और भी अनेक प्रकार के छल, षड़यन्त्र वगैरह बनाते ये सब मन के विषय हैं। तो इन 6 विषयों में से किसी न किसी विषय में रहा करते हैं। यद्यपि ऐसा लगता है कि हम आज कुछ नया ही काम कर रहे हैं, नई चीज छू रहे हैं, नई चीज देख रहे हैं, नई चीज खा रहे हैं, लेकिन ऐसा तो कल भी किया था, वर्षों से करते आये, भवों से करते आये, फिर भी मोह का ऐसा रंग चढ़ा है कि यह ध्यान में नहीं ले सकते ये जीव कि ये भोग तो अनेक बार भोगे। यह तो भोगे हुए ही भोग हैं, जब जो विषय मिलता है उस समय यह इसे नवीन अपूर्व मालूम होता है। यह सब मोह के कारण ही हो रहा है। तो हम आपका ज्ञान है परोक्षज्ञान।

परोक्षज्ञान के मूल प्रकार–परोक्षज्ञान दो प्रकार के होते हैं- मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। मतिज्ञान तो इन्द्रिय मन के निमित्त से दर्शनपूर्वक पदार्थों का जानना सो तो मतिज्ञान है और मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ में अन्य कुछ विशेष जानना सो श्रुतज्ञान है। देखिये, मतिश्रुतज्ञान कीड़े मकोड़ों के भी पाया जाता है। ये चींटियाँ ऊपर रखी हुई मिठाई के पास पहुँच जाती हैं। तो उन्हें जो गंध का ज्ञान हुआ वह तो मतिज्ञान है और वह गंध इष्ट है, उसे अपना खाद्य पदार्थ समझा। देखिये, मन न होने पर भी कितनी समझ बनी हुई है। एकेन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक मन नहीं होता। मन न होने पर भी उन कीड़ियों को कितनी समझ बन रही है कि वे सब एक कतार से (उसी रास्ते से जिसमें कि दो सूत की भी दूरी नहीं हो) ठीक एक कतार में वे चलती जाती हैं, एक दूसरी कीड़ी से भेंट करती जाती है और सही रास्ते का निश्चय करती जाती है। कितनी ही तरह के बोध चलते रहते हैं। और मन नहीं है तो मन के बिना भी यह श्रुतज्ञान कहाँ-कहाँ तक चल जाता है? तो इससे यह ज्ञात होता है कि जो चार संज्ञायें जीवों में लगी हैं- आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, इन चार संज्ञाओं से ही इन जीवों को ये सब ज्ञान चल रहे हैं। मन का उपयोग तो वहाँ है जहाँ हित-अहित का विवेक कर सके। इससे मेरे आत्मा का कल्याण है, इससे अकल्याण है, इस प्रकार का विवेक कर सकना मन का काम है। फिर मन पाकर भी यह न कर सके तो वह इन्द्रिय के विषयों में सहकारी हो जाता है। हम उसका सदुपयोग न कर सकें तो वह इन्द्रिय विषयों के साथ लग बैठता है और तब ऐसा मालूम होता है कि मन से ही हम इन्द्रिय विषयों को भोग रहे हैं। पर विषयों का उपयोग मन के बिना भी चल रहा है, यह इन विकलत्रय और स्थावर जीवों की वृत्ति से समझ सकते हैं। तो इन्द्रिय और मनके निमित्त से हुए ज्ञान का नाम मतिज्ञान है।

मतिज्ञान की विकल्पदूरता–मतिज्ञान के संबंध में इतनी बात जान लेना चाहिए कि इन इन्द्रिय के द्वारा जो हम सीधा जानते हैं वह मतिज्ञान है, फिर जो विचार बनाते हैं वह सब श्रुतज्ञान है। काला रंग दिख गया, दिखने पर भी यह काला है ऐसा बोध मतिज्ञान का नहीं है वह श्रुतज्ञान का है। काला दिखने पर काला ही जाना गया। यों समझिये कि जैसे तुरन्त का (दो-तीन दिन का) जाया हुआ बालक अपने मकान में देख तो सब रहा है, पर किसी चीज के बारे में उसे शाब्दिक विकल्प नहीं हो पाता, इतना तक भी नहीं समझ पाता कि यह अमुक चीज है, अमुक रंग की है। ज्ञान में आकर भी यह छत है, यह अल्मारी है, यह अमुक चीज है, अमुक रंग की है इस प्रकार का विकल्प उस बालक के नहीं जगता। अब आप जानते जाइये। केवलज्ञान में ऐसा ही प्रतिभास है। जो चीज है वह सब ज्ञान में आ गई। तीन लोक, तीन काल के समस्त पदार्थ ज्ञान में आ गए, इसे द्वीप कहेंगे, इसे समुद्र कहेंगे, यह इससे दूना है, शास्त्रों में वर्णन आया है, मगर केवलज्ञान में ये विकल्प नहीं है, फिर आप कुछ ऐसी शंका कर सकते- तो फिर शास्त्रों में कैसे आया? तो भाई श्रुतज्ञान की भी महिमा कम नहीं है। केवलज्ञान से जो जान रहे हैं ऐसे परमात्मा से निकट जो श्रुतकेवली गणधर विराजते हैं, तो केवलज्ञानी का सान्निध्य पाना, यह मात्र है निमित्त, लेकिन अपने आपका इतना महान श्रुतज्ञान हो जाना यह सब श्रुतज्ञान की महिमा है। केवलज्ञान में भी दिव्यध्वनि में जो बात समझी, दिव्यध्वनि भी केवलज्ञान की अपेक्षा सविकल्प है, वह वचनात्मक है, केवलज्ञान ज्ञानात्मक है, जान लिया सब पर उसके बारे में विकल्प न करना कि यह अमुक है, यह इतना लम्बा चौड़ा है इससे ज्ञान की महिमा घट जायेगी। ज्ञान की विशुद्ध महिमा वहाँ ही है जहाँ किसी प्रकार के विकल्प न रहकर केवल शुद्ध सहज सामान्य प्रतिभास रहे, क्योंकि ज्ञान से आनन्द का सम्बंध है। ज्ञान के साथ आनन्द भी विराजता है। ज्ञान वही सही ज्ञान है जिसके साथ आनन्द भी वृद्धिंगत है। यदि बाह्य आनन्द कम हो तो समझो कि ज्ञान में कुछ दोष आ गया है। तो मतिज्ञान से ऐसा ही विकल्परहित प्रतिभास होता है। ज्ञान का स्वरूप है सविकल्प, पर सविकल्प होकर भी मतिज्ञान में विकल्प नहीं जगता। ज्ञानाकार का विकल्प है, ज्ञान ज्ञेयाकार रहे, उसकी एक जाननरूप स्थिति रहे यह विकल्प है ज्ञान में, पर शब्दात्मक कोई विकल्प उठे यह सब श्रुतज्ञान में ही बात पायी जाती है।

मतिज्ञान की विकल्पदूरता का उपसंहार–अभी मतिज्ञान की बात चल रही है। हम आप में मति और श्रुत दो ज्ञान विराजते हैं। तो मतिज्ञान वह हुआ, जैसे कि अभी दो-तीन दिन के जाये हुए बालक के दृष्टान्त से समझाया है। बस जान गए कि क्या है, कैसा है, किस ढंग का है? हित है, अहित है, चीज है, गलत है, सही है आदिक ये सब बातें मतिज्ञान में नहीं हैं। लेकिन मतिज्ञान का जो भेद-प्रभेदों में वर्णन चलेगा, उस वर्णन को सुनकर ऐसा लगेगा कि इसमें विकल्प तो ऐसे हो रहे हैं। जब सुनेंगे कि ऐसा जानना कि यह वही देवदत्त है जिसे कलकत्ता में देखा था, एकत्व प्रत्यभिज्ञान हुआ, इतने तेज विकल्प चल रहे हैं, मगर वहाँ निर्णय करना मतिश्रुतज्ञान साथ है। मतिज्ञान के विकल्प से श्रुतज्ञान का निर्णय किया गया है, इस बात को न भूलना चाहिए। तब

असलियत कितनी है? जब श्रुतज्ञान के विकल्प में बताया गया, पर इस रूप के वह विकल्प कर रहा है यह असलियत नहीं है। जैसे- आँख से हमने हरा जाना और हम बतला रहे हरा रंग, तो हरा रंग बतला रहे एक तो यह स्थिति है और हरा जाना गया यह दूसरी स्थिति है। दूसरी स्थिति में जो हरा रंग बताया ऐसे ही मतिज्ञान में आया मगर हरा है, इस प्रकार का शाब्दिक विकल्प करते हुए ज्ञान में नही आया। तब उसके विषय का पार्थक्य न करके सीधा ही समझ लेते हैं। संकेत है, समझा वही गया। जैसे माँ ने अंगुली उठाकर बालक को चन्द्रमा दिखाया तो वह अंगुली मददगार है, उसके रास्ते से चन्द्रमा दिखा है। यह बालक उस अंगुली को नहीं देखता है नहीं तो चन्द्रमा न दिखे। इसी तरह इतना जो विकल्पों द्वारा समझाया गया है वह सब संकेत है। समझा तो यों गया, मगर उनमें विकल्प उठाकर नहीं समझा, समझा वही। और, समझिये- जैसे पंक्तिबद्ध 100 कंकड़ लगातार पड़े हुए हैं। उन सबको देख लिया, जैसा है वैसा ही देखा मगर इतने पर भी यह विकल्प नहीं उठ रहा है कि इस कंकड़ के बाद यह कंकड़ हैं, इसके बाद यह है। अथवा जैसे किसी गेहूँ के ढेर को देखते हैं तो ऐसा ही दिखने में आता कि इस दाने के बाद यह दाना है, इस दाने के बाद यह दाना है, मगर ऐसा देखकर भी क्या कोई इस तरह का विकल्प भी करता है? नहीं करता। ऐसा ही जानकर भी विकल्प नहीं किया, यह भी स्थिति होती है। ऐसे ही केवलज्ञानी ने समस्त पर्यायें जान ली, अब जैसी बात है वैसी जान ली, तिस पर भी यह विकल्प नहीं उठता कि इस पर्याय के बाद यह पर्याय होगी, इसके बाद यह होगी। जाना ऐसा है, ऐसा जानने के बावजूद भी इसका विकल्प नहीं रहता। तब जानना चाहिए कि निर्विकल्पज्ञान किसे कहते हैं।

मतिज्ञान के प्रकार–मतिज्ञान की बात चल रही है। मतिज्ञान है 5 प्रकार का। सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान। तत्त्वार्थ सूत्र में आप एक सूत्र पढ़ते हैं- मतिस्मृतिसंज्ञा चिन्ता अभिनिबोध- इत्यनर्थान्तरं, जिसका कि अर्थ है- मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, तर्क और अनुमान। ये पाँचों भिन्न-भिन्न अर्थ वाले नहीं हैं, भिन्न-भिन्न ज्ञान नहीं हैं, अर्थात् एक मतिज्ञान की ही पर्यायें है। अब एक तो वह मतिज्ञान जिसके ये 5 प्रकार बताये और उन 5 प्रकारों में भी मति रख लो। मतिज्ञान के 5 प्रकार हैं- मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, तर्क और अनुमान। तो सुनने में लगेगा कि मतिज्ञान के प्रकारों में पहिला प्रकार जब मति बता दिया तो सब आ गया। प्रकार तो अंश-अंश को कहते है। तो उन 5 प्रकारों में जो मति शब्द पड़ा है उसका अर्थ सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। तब मतिज्ञान के ये 5 प्रकार हुए- सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्याभिज्ञान, तर्क और अनुमान। ये पाँचों बातें हम सब में होती रहती हैं, मगर उसका ख्याल नहीं करते। भेद समझना कि कैसे ज्ञान हो, इसका क्या ढंग है, इसका क्या विकास है? इसका ज्ञान नहीं करते। वे सब बातें इसमें आयेंगी।

ज्ञान की बात समझनें में अनुत्साह न करने का अनुरोध–भैया ! कुछ लोग होंगे ऐसे के जिन्होंने न ज्ञान चर्चा सुनी, या एक साधारण रूप से ही सुना, समझा, जाना, उन्हें इस प्रकरण के सुनने में कुछ कठिनाई लगेगी, कुछ चित्त घबड़ायेगा। मगर एक बात तो बताओ- जो अपने जीवन में

एक रटन लगा रखा कि जो बातें सरल हों, तुरन्त दिलचस्प हों, जो दूसरों को तुरन्त हँसा दें, वे बातें तो हम सुनेंगे, तो इस ही बात पर जीवन भर अड़े रहने से पाओगे क्या? कुछ नहीं। बड़ा श्रम किया, सब तरह से व्याख्यानों के सुननें की लगन भी की, खूब सुना भी मगर ढंग ऐसा ही बनाया कि जो बातें सरल, रूचिकर, मनोरंजक हों उन्हें ही सुनेंगे, तो भाई ठीक है। इसी आग्रह में बने रहो, न सुनो जीवनभर, मगर एक यह फैसला तो कर लो कि मुझे इससे जीवन में मिलेगा क्या? और, फिर मरण समय के लिए मुझे आलम्बन क्या मिलेगा, जिसमें कि वे अपने उपयोग की स्थिरता से टिकायें ऐसे शुद्ध तत्त्व में कि जीवन सफल हो जाय और भविष्य भी सुन्दर बन जाय। ऐसी बात पाने के लिए हम इसे श्रम समझें और जो बेकार की बातें हैं, वैभव, इज्जत आदिक बढ़ाने की बातें है, अथवा अन्य बड़ी से बड़ी समस्याओं के सुलझाने की बातें है। उनके लिए तो ये सुभट बन रहे हैं और अपने भीतर की ज्ञान की बात सुनने, समझने, परखने के लिए बड़े कातर बन रहे हैं, तो यह तो कोई भली बात नहीं है। अब तो कुछ चेतना चाहिए। कुछ साहस बनायें, कुछ बल बनायें, अपने मन की ढिलाई को खतम करें और अपना एक ऐसा निर्णय बनायें कि क्या हम अपने आपकी खुद की न समझ सकेंगे? बल्कि पर के सम्बंध में कही हुई बात का समझना कठिन है। कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है| कोई पर को समझता नहीं| पर के बारे में जो यह ज्ञान बनता, विकल्प बनता उसका ही समझने वाला है, पर को कोई समझ ही नहीं सकता। लेकिन इस रहस्य के न जानने वाले लोग यह धारणा रखते हैं कि मैं इतना विज्ञान में बढ़ गया, मैं इतने परतत्त्वों को समझने लगा, परन्तु परमार्थतः पर को कोई समझ नहीं सकता। व्यवहार में पर की समझ माने भी तो भी वह पर की समझ कठिन है और अपने आपमें जो अपनी बात वर्त रही है, स्वरूप है उसकी बात समझना सुगम है, मगर मोह के वश होकर जब निर्णय ही पहिले से उल्टा कर बैठे हैं कि यह बात तो सरल है और यह बात कठिन है तो उनके लिए तो कठिन ही रहेगा। एक अपने उस निर्णय को बदल दें तो निज की बात समझना सरल हो जायगा। एक मामूली-सा तो यह काम है मगर लोग ऐसा डर गये कि यह काम तो मुझसे बन ही नहीं सकेगा। अरे ! एक साहस बनाओ। जैसे कि किसी कमरे की छत गिर गई तो है यद्यपि वह एक बहुत बड़ा बोझ, पर समझते हैं कि इस काम को तो हम ही को करना है इसलिए तुरन्त उस काम को करने में जुट जाते हैं। हाँ, अगर पास में पैसा हुआ तो नौकरों से वह काम करवा लेते हैं। तो जिस काम को अपना काम समझ रखा है उस काम को करने का कितना बड़ा साहस बना लेते हैं। सोचते है कि यह कितना-सा काम है, इसे तो हम अभी झट किए लेते हैं। और जिस काम को ऐसा समझ लिया है कि यह काम मेरे करने को नहीं हैं, ये तो साधुसंत जनों के काम हैं, ऊँचें विद्वान लोगों के काम हैं, इनको तो वे ही लोग समझें और करें। मगर बतलाओ विद्वान लोग भी कहीं आकाश से उतरकर आते हैं क्या? या वे पेट से ही सब कुछ सीखकर आते है? या वे विद्वान लोग कोई अन्य प्रकार के मनुष्य हैं? बात वही है, विद्वानों की तो बात क्या है? 'मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान', बात तो यह आना चाहिए। तो यह बात कोई कठिन नहीं है, सुगम है। इसमें किस-किस प्रकार के ज्ञान जगते हैं और वह मतिज्ञान किस-किस

ढंग से होता है? हम अपने आपके होने वाले ज्ञानों को ही परख करने की बात कह रहे हैं। यह कोई कठिन बात नहीं है।

सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष नामक परोक्षभूत मतिज्ञान का प्रकार–मतिज्ञान के 5 प्रकार बताये गए हैं**-** ये पाँचों के ही पाँचों प्रकार के ज्ञान हम आपके करीब-करीब बराबर होते रहते हैं। पर उनमें परख करें। यह ज्ञान किस प्रकार का है, इन 5 भेदों में से यह छटनी कर लो- यह ज्ञान इस प्रकार का है, यह ज्ञान इस प्रकार का हैं, यह बात बतायी गई। सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष जिसका अर्थ यह है कि हम इन इन्द्रियों से, मन से जो स्पष्ट जानते हैं, वह सब सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष है। काला, पीला, मीठा, खट्टा आदिक जो कुछ जाना, बिना विकल्प किए, बिना उन शब्दों को उठाये हुए, वह सब सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है। देखिये परोक्षज्ञान के भेद बता रहे हैं, और उन भेदों में नाम लिया है सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष। तो बात यह है कि वस्तुत: है तो वह परोक्ष, क्योंकि यह इतना सीधा इन्द्रियजन्य ज्ञान भी, चूंकि इन्द्रियजन्य है, इन्द्रिय मन की अपेक्षा रख रहा है, अतएव परोक्ष है। लेकिन अवधिज्ञान वगैरह जैसे किसी पदार्थ को पूरे रूप से स्पष्ट जानते हैं उनकी तरह हमारा यह इन्द्रियजन्य ज्ञान भी एकदेश रूप से जो सामने है उसे स्पष्ट जानता है। इतनी सदृशता के कारण इसको प्रत्यक्ष कह दिया है। तो यह प्रत्यक्ष जो कहा गया है वह व्यवहार से कहा गया है, न कि परमार्थ से। वस्तुत: तो यह परोक्षज्ञान ही है। तो व्यवहार से जो प्रत्यक्ष ज्ञानरूप है उसे कहते हैं सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष। इन इन्द्रियजन्य ज्ञानों को जो कि सीधे एकदम होते हैं ये सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष हैं। अब अन्य प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञानों को फिर कहेंगे।

आभिनिबोधिक और सांव्यावहारिक का परिचय–षट्खण्डागम में मतिज्ञान का दूसरा नाम बताया है आभिनिबोधक। ज्ञान 5 प्रकार के बताये हैं, आभिनिबोधक, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। आभिनिबोधिक शब्द का अर्थ यह है कि अभिमुख और नियमित पदार्थों का ज्ञान करना। इसमें दो उपसर्ग लगे हैं- आभि और नि। जो पदार्थ सामने है, जिस ओर से अभिमुख चाहिए उसका ज्ञान करना और नियमित विषय का ज्ञान करना। स्पर्शनइन्द्रिय के द्वारा ठंडा, गर्म आदिक का ज्ञान किया जाता है। अनियमित खट्टे-मीठे का ज्ञान नहीं होता। रसनाइन्द्रिय के द्वारा खट्टे मीठे आदिक का ज्ञान होना नियमित है, अन्य पदार्थों का ज्ञान न होगा। यों अभिमुख और नियमित पदार्थों का ज्ञान करने को आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं। आज चर्चा इस मतिज्ञान की ही चल रही है। मतिज्ञान की 5 पर्यायें हैं- सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान। अब इन 5 ज्ञानों में, सभी ज्ञानों में कुछ न कुछ शंका सी बनी हुई है कि परोक्षज्ञान के तो भेद कर रहे और पहिले मतिज्ञान का नाम रख दिया सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष। उसका समाधान यह है कि प्रत्यक्ष तो इस कारण है यह कि अन्य प्रत्यक्ष ज्ञानों की तरह पूर्णरूप से तो नहीं किन्तु एकदेश स्पष्ट प्रतिभास होता है। जैसे आँखों जो कुछ देखा वह तो प्रमाण रूप होता प्रत्यक्ष। दूसरा उसके खिलाफ कुछ कहे तो यह मान ही न सकेगा। वाह ! मैंने आँखों प्रत्यक्ष देखा। मैंने खुद

खाकर देखा कि ऐसा ही है। तो यह ज्ञान प्रत्यक्ष की तरह है। सांव्यावहारिक शब्द यों लगा है कि वास्तव में प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु व्यवहार में ही प्रत्यक्ष है।

स्मरणनामक मतिज्ञान–अब स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान की बात सुनो। स्मरण कहते हैं- पहिले अनुभूत पदार्थ का ख्याल होने को। जैसे कहते ही हैं कि ख्याल आ गया, स्मरण हो गया, याद आ गई। तो किसी भी बात की याद आती कब है कि उसका पहिले अनुभव किया हो और कुछ स्मरण हो रहा हो, ऐसे ज्ञान के प्रति यह कहा जा सकेगा कि स्मरणज्ञान तो श्रुतज्ञान जैसा लग रहा है। उसका समाधान यों करना चाहिए कि ये स्मरण और बाकी के प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान भी जब तक स्वयं के अर्थ बनते हैं तब तक तो मतिज्ञान हुए और जब दूसरे के समझने के लिए शब्दात्मक विधि को ले लेते हैं तब ये श्रुतज्ञानरूप हो जाते हैं। तो स्मरण ज्ञान उसे कहते हैं कि पहिले अनुभूत किए हुए पदार्थों की याद हो जाना। तो ये जब तक स्वार्थ है तब तो ऐसा बोला जाता है और जब ये परार्थ होते हैं, श्रुतज्ञान जैसा रूप रखते हैं तब भी ये परोक्ष कहलाते हैं।

अब यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब ये चारों मतिज्ञान रूप भी बन सकते, श्रुतज्ञान रूप भी बन सकते तो इनका मतिज्ञान में क्यों सम्बंध जोड़ा, श्रुतज्ञान में जोड़ते? उसका समाधान यह होगा कि इसकी उत्पत्ति विशेषतया प्रथम स्वार्थ रूप से होती है इसलिये जब तक ये स्वार्थरूप रखते हैं तब तक ये मतिज्ञान कहलाते हैं। इनके मतिज्ञान में व्यापकता अधिक है। श्रुतज्ञानरूप तब होता है जब दूसरे को समझाने के लिए प्रयत्न किया जाता है। स्मरणज्ञान पहिले सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष से जाना हो और फिर उसकी याद आती हो तो उसे स्मरण ज्ञान कहते हैं। किसी चीज का रस चखा था, आज वह याद आ रहा है, या किसी वस्तु को कल देखा था, आज वह याद आ रहा है। कभी सुना था, आज याद आ रहा है। तो सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष से पहिले किसी पदार्थ को जान लिया गया हो, फिर उसका स्मरण हो रहा हो तो उसे स्मृतिज्ञान कहते हैं। जैसे जहाँ-जहाँ यात्रायें की हों, कोई श्रवणबेलगोल गया हो, वहाँ जाकर बाहुबलि स्वामी की मूर्ति के दर्शन किए हों और आज उस मूर्ति का स्मरण हो रहा है, तो आज सामने तो वह मूर्ति नहीं है लेकिन पहिले अनुभव किया था, जान लिया था उसका स्मरण हो रहा है उसे स्मरण ज्ञान कहते हैं। देखिये, यह स्मरण ज्ञान पद-पद पर हम आपके होता रहता है, पर उसका हम कुछ विशेष रूप नहीं रख पाते और यों ही छोड़ देते हैं। स्मरण बिना हम यहाँ से घर नहीं जा सकते, खाना नहीं खा सकते, कुछ बोल ही नहीं सकते। हर बात में बीच-बीच में स्मरण लगा ही रहता है। स्मरण न हो तो हम कुछ कर ही नहीं सकते। तो इसको कहते है स्मरणज्ञान। ये हम आप लोगों के ज्ञान की किस्में हैं। हम आप सबमें ज्ञान का वैभव है, वह वैभव आजकल किस-किस रूप में प्रकट हो रहा है, यह समझना है और साथ ही यह भी जानें कि वास्तविक रूप में किस तरह प्रकट होना चाहिए था? जो हमारा शुद्ध रूप कहलाता, हमारी प्रभुता कहलाती, हम आनन्दमय होते ऐसा कौनसा विकास था? वह है केवलज्ञान। केवल हम पदार्थों के जानकार ही होते, उनमें कोई हमारे

रागद्वेष, मोह के विकल्प न जगते, हमारा सम्बंध न बनता तो हमारा वह विकास बड़ा उत्तम था और हम सुखी कहलाते। देखिये- कुछ रागद्वेष जगे बिना स्मरण हम कर ही नहीं सकते। किसी बात का थोड़ा-बहुत रागद्वेष है तब जाकर हमारा स्मरण बनता है। वहाँ भी स्मरण होता है मगर वहाँ भी आप परख लो, किसी न किसी सम्बंध का थोड़ा भी राग होगा तो स्मरण बनेगा। पर रागद्वेष, मोह रहित जो ज्ञान है जहाँ स्मरण आदिक के विकल्प नहीं है, केवल जाननमात्र है, ऐसा विकास हमारे लिए किस समय होगा ऐसी प्रतिक्षा करें? आज जो हमारा विकास है वह रागद्वेष भाव से मिला हुआ है और यह हमारा आखिरी कदम नहीं है। इसलिए यहाँ कभी मौज का सन्तोष न करना चाहिए कि हमको सब कुछ मौज मिला है, सर्व आनन्द है, जो चाहिए था वह सब मिल गया, यह बात नहीं है। अगर सर्वस्व मिल गया होता तो कुछ समय बाद उत्तर काल में हमें कमी महसूस न होना चाहिए थी। तो स्मरणज्ञान है यह।

प्रत्यभिज्ञान नामक मतिज्ञान का एकत्वप्रत्यभिज्ञान नाम का प्रकार–अब तीसरा प्रकार है मतिज्ञान का प्रत्यभिज्ञान। देखिये- रोज-रोज हम आपके काम आते रहते हैं ये ज्ञान के विकास हैं, मगर हम परख नहीं पाते। परख होती जाय और साथ ही यह भी जानते जायें कि ऐसे छुटपुट विकास तो हमारे रागद्वेष भाव के कारण हो रहे हैं, हम वहाँ रागद्वेष की परख करें उस राग को मिटाने का यत्न करें यहाँ हमारा पौरूष जगता है। प्रत्यभिज्ञान किसे कहते हैं? सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष से जिसका जिस समय ज्ञान किया जा रहा हो और किसी का स्मरण किया जा रहा हो तो स्मरण और प्रत्यक्ष का जो जोड़रूप ज्ञान है वह प्रत्यभिज्ञान है। जैसे यह वही मूर्ति है जिसको हमनें दो वर्ष पूर्व देखा था। श्रवणबेलगोल में दुबारा पहुँच गए। वहाँ जाकर यह ज्ञान हुआ कि यह वही मूर्ति है जिसको हमने दो वर्ष पहिले देखा। तो यह प्रत्यभिज्ञान का रूप है, इसे कहते है, एकत्वप्रत्यभिज्ञान। आज जो दिख रहा है, और जो जाना गया था उसमें एकत्व जोड़ना, यह वही है जिसे हमने पहिले देखा था। अब स्मरण में और इसमें कुछ अन्तर है ना? स्मरण में जोड़ नहीं है, केवल ख्याल है और प्रत्यभिज्ञान में जोड़ हो रहा है। जैसे आज यहाँ बैठे हुए मानो मूर्ति का स्मरण कर रहे हैं, जैसा का तैसा स्मरण कर रहे हैं यह तो स्मरण है, और वहाँ पहुँचने   के बाद जो हम यह ज्ञान करते हैं कि यह वही है जिसको हमने पहिले देखा था, इसमें जोड़ हो गया। तो प्रत्यभिज्ञान भी चलता रहता है। अब जरा अपने व्यवहार की स्थितियों में भी परखो कि यह ज्ञान भी कितनी जल्दी-जल्दी हो रहे हैं? मोटे रूप से तो ऐसा सोच लेते है कि जब कभी कोई चीज सामने आयी और हम उसके बाद स्मरण करें और उसे फिर जोड़े तो यह प्रत्यभिज्ञान होता है। प्रत्यभिज्ञान हुए बिना हम अपना व्यवहार कर ही नहीं सकते। भोजन कर रहे हैं, हाथ में कौर उठाते हैं क्योंकि हमें उसमें प्रत्यभिज्ञान का संस्कार बराबर बना हुआ है कि यह वही भोजन है, यह वैसा ही भोजन है, जिससे कि हमारी भूख मिटेगी। हम उनका कोई प्रकट रूप नहीं ला पाते, लेकिन बनाते हैं वह भीतर निरन्तर तब जाकर हम व्यवहार कर पाते हैं।

ज्ञान का विकास और स्रोत–देखिये, कैसे-कैसे ज्ञान विकास हम आपमें निरन्तर चलते रहते हैं? उनके विकास का मूल आधार तो सहज ज्ञान है। ज्ञानस्वभाव है। जैसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य वाले पदार्थ में जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होते हैं उनका आधार ध्रुवता है। कुछ चीज है जिसमें नया परिणमन होता है और एक परिणमन विलीन हो जाता है। ऐसे ही हमारे जितने भी ज्ञान-विकास होते हैं वे हैं किसके? विकास होकर इससे आगे नया विकास हुआ, वह मिट गया, फिर नया विकास हुआ। यह विकास की परम्परा किसमें होती है? वह तो एक है। जैसे एक अंगुली अभी सीधी है, फिर टेढ़ी की गई है, फिर और कुछ हुआ तो ये सब जितने किस्म हो रहे हैं इस एक अंगुली में। इस प्रकार जो छुटपुट ज्ञान हमारे चलते रहते हैं यह सब ज्ञानविकास की परम्परा किसमें होती है? वह आधारभूत कोई एक ज्ञानभाव है? लोग तो ज्ञानविकास की खूब चर्चा भी कर लेंगे, उनका विकास भी बता देंगे पर ये सब विकास आखिर है किसमें? इसका उन्हें कुछ पता नहीं। ये सब विकास उस एक ज्ञानस्वभाव के ही हैं। उस एक पर जिसकी दृष्टि पहुँच गई उनको सम्यक्त्व हो जाता है। उन्होंने यह आश्रय पाया जिसके आश्रय से उनको मुक्ति प्राप्त होगी। हम चाहते हैं कि हमें बहुत ऊँचा आनन्द मिले मगर उस आनन्द को पाने के लिए आनन्दमय का आश्रय नहीं लेते हैं, किन्तु आनन्दरहित का आश्रय लेते हैं।

जैसे बाह्य पदार्थ, पंचेन्द्रिय के विषय मन के विषयभूत विकल्प ये परपदार्थ हैं, पर तत्त्व हैं। इनका आश्रय लेते हैं, उपयोग इनमें फँसाते हैं, इनमें अपनी आशा बनाते हैं तो आश्रय लेते हैं, पर इन बाह्यपदार्थों का जो कि आनन्दरहित है, कदाचित् किसी जीव का भी आश्रय लें जैसे कि मोही रागी जन लेते ही रहते हैं, घर के बच्चों का, स्त्री का, इनका भी आश्रय लेते हैं, तो वे आनन्दरहित आश्रय लेते हैं| आनन्द का आश्रय नहीं लेते| अथवा जो भी बाह्य चीजें हैं, पौद्गलिक हैं, मूर्तिक हैं उनमें ही अपना उपयोग रखते हैं, आनन्दरहित चीजों का ही आश्रय लेते रहते है, और कदाचित जीवस्वरूप पर भी जायें तो वहाँ भी अपने आनन्दस्वरूप का आश्रय नहीं लिया वह जीवरूप ज्ञानानन्दमय है मगर हमारा आनन्द नहीं है, हमारा ज्ञान नहीं है। एक पदार्थ का ही आश्रय लिया, और वस्तुत: यदि हम उस आनन्दरूप का आश्रय लें तो व्यक्ति उसके उपयोग में न रहेगा और जो स्वयं अपने आनन्दमयस्वरूप में आ जायगा। तो हम चाहते तो आनन्द हैं, पर उपाय करते हैं आनन्दरहित पदार्थ का आश्रय लेने का। कैसे प्राप्त हो? सदा के लिए आनन्द मिले, सदा के लिए संकट टलें, इसका उपाय तो आनन्दमय तत्त्व का आश्रय लेना है, अन्य उपाय न कभी हुआ, न कभी हो सकेगा। जब भी हम आप इस आनन्द की स्थिति में आयेंगे तो इस ही उपाय के द्वारा इस आनन्द की स्थिति में आयेंगे तो जो ये हमारे ज्ञानविकास हो रहे हैं इनका आधार सहज ज्ञानस्वभाव है। उस पर दृष्टि नहीं देते। जब कभी कोई समस्या आती है तो वहाँ तो बहुत समझाते हैं- अजी मूल तत्त्व पर आइये उस मूल बात पर आने से ये सब समस्यायें हल हो जायेंगी। व्यवहार में हम इन समस्याओं के लिए मूल का बहुत आदर करते हैं। हममें जो बात गुजर रही है, जो विकास हो रहे हैं, उसके मूल पर नहीं जाना चाहते। अजी, इन बातों में उपयोग न फँसाइये, जरा मूल तत्त्व पर आइये मूलतत्त्व पर आने से सारा झगड़ा मिट जायगा,

सभी समस्यायें सुलझ जायेंगी। तो हम आपके जितने परिणमन हैं, जितने विकास हैं, जितने ज्ञानरूप हैं उन सबका मूल रूप है यह सहज ज्ञानस्वभाव। इस सहज ज्ञानस्वभाव का आश्रय लेने से ये सारे संकट हमारे टल जायेंगे।

सादृश्य प्रत्यभिज्ञान, वैलक्षण्यप्रत्यभिज्ञान और प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान–यहाँ चीज चल रही है प्रत्यभिज्ञान की बात। प्रत्यक्ष और स्मरण के विषय में जोड़ लगाने को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। ये जोड़ चूँकि अनेक प्रकार से होते हैं इसलिए प्रत्यभिज्ञान के अनेक भेद हैं। एक तो एकता का जोड़। यह मनुष्य वह मनुष्य है जिसे हमने अमुक नगर में देखा था। तो यहाँ जोड़ किया गया एकता का। यह वही है। यह सामने की बात और वह पहिले की बात इनमें जोड़ लगा दिया, यह वही है आदिक जोड़ होता है सदृशता का। यह उसके समान है, यह उसकी तरह है। यहाँ यह देखा, यह तो हुआ प्रत्यक्ष। प्रथम दौर में यह हुआ स्मरण। उसमें इस तरह का, समानता का जोड़ किया गया। यह उसकी तरह है, इसे पारिभाषिक शब्दों में कहते हैं सादृश्यप्रत्यभिज्ञान। सदृशता का जोड़ करना प्रत्यभिज्ञान है। जितने भी ज्ञान होंगे उनके आधारभूत ये दो ज्ञान हैं- प्रत्यक्ष और स्मरण। प्रत्यक्ष और स्मरण में आने वाले जो दो तत्त्व हैं उन दो तत्त्वों में जोड़ लगा देने को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। चाहे एकता का जोड़ करें, यह वही है, चाहे समानता का जोड़ करें, यह उसके समान है और चाहे विलक्षणता का जोड़ करें, यह उससे बिल्कुल न्यारी चीज है, यह भी प्रत्यभिज्ञान है। "यह" यह तो हुआ प्रत्यक्ष ज्ञान और "उससे" यह हुआ स्मरण बिल्कुल निराला है, यह हुआ विलक्षणता का जोड़। इसे कहते है वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञान। देखिये- ये सब ज्ञान की किस्में हैं। हम आपमें जब चाहें चलती रहती हैं और इनमें परस्पर में अन्तर भी हैं और नहीं भी हैं। अन्तर तो यों है कि सूक्ष्मरूप से विचारों तो इनका विषय जुदा-जुदा है। जैसे एक ने एकता का जोड़ किया, एक ज्ञान ने समानता का जोड़ किया, एक ज्ञान ने विसदृशता का जोड़ किया और अन्तर यों नहीं हैं कि बात एकसी होती है। क्या कि प्रत्यक्ष से जाने हुए पदार्थ और स्मरण के जाने हुए पदार्थ में कुछ जोड़ दिया गया इसे कहते है प्रत्यभिज्ञान। कहीं-कहीं जोड़ प्रतियोगीरूप से होता है। जैसे कहना कि यह उससे अधिक लम्बा है, यह उस चीज से छोटी चीज है। इसमें "यह" तो हुआ प्रत्यक्ष, "उससे" यह हुआ स्मरण, और उसमें जोड़ क्या किया गया? प्रतियोग, अपेक्षा, संतुलन, मुकाबला जोड़ा गया है। यह उससे छोटा है, यह उससे बड़ा है, यह उससे दूर है, यह उससे हल्का है, यह उससे भारी है-इन सबको कहते हैं प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान।

आत्मसम्यक्त्व होने पर स्मरणादिकों की उच्च श्रेणी–हम आपके ज्ञानों में जैसे-जैसे विशेष योग्यता बढ़ती है वैसे ही वैसे ये प्रत्यभिज्ञान आदिक ऊँची श्रेणी में आते रहते हैं। देखिये- कभी स्वानुभव का भी स्मरण चलता है। स्वानुभव क्या है? सहज शुद्ध आत्मतत्त्व । उसका अनुभव कर लिया। अनुभव के काल में खूब अमृतपान किया था, खूब आनन्द पाया था। अब वह स्थिति तो थोड़े समय के लिए थी। स्थिति हुई और विलीन हो गई। अब आज हम उसका स्मरण करते है तो उस अनुभव के स्मरण में भी बहुत सामर्थ्य है। वहाँ भी बड़ी कल्पनायें कर रहे हैं, आखिर

स्वानुभव का ही तो स्मरण किया जा रहा है। किसी भी प्रकार प्रत्यक्ष हुआ हो, उसका स्मरण हो सकता है, चाहे वह सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष हो और चाहे पारमार्थिक। मुनिजन अवधिज्ञान से कोई बात जानकर दूसरों को जो बताते हैं, वह किसी आधार पर बताते हैं। अवधिज्ञान तो निर्विकल्प है, उससे तो जान लिया। जान चुके, अवधिज्ञान का उपयोग न रहा, मगर उसके निकट तुरन्त ही उसका स्मरण कर लिया। अब स्मरण करके श्रुतज्ञान के आधार से वे मुनि दूसरों से बताते हैं कि ऐसा होगा। जिस समय बता रहे हैं उस समय अवधिज्ञान का उपयोग नहीं है, अवधिज्ञान से जान लिया, अब उस ज्ञाततत्त्व का स्मरण हो रहा है और ज्ञाततत्त्व का स्मरण हुआ और वर्तमान में स्मरण हुआ, उनमें जोड़ करना उसका प्रत्यभिज्ञान है। यों सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष, स्मरणज्ञान और प्रत्यभिज्ञान-इन तीन क़िस्मों का वर्णन किया है। ये तीन किस्म मतिज्ञान के प्रथम प्रकार के बताये हुए ज्ञान की किस्म हैं। परोक्षज्ञान में जो मतिज्ञान बताया है उसके ये भेद चल रहे हैं। इन भेदों को सुनते हुए अपने आप में ऐसा निरीक्षण करना चाहिए कि इस ज्ञान के जितने प्रकार के विकास हैं ये सब ज्ञानविकास इस सहज ज्ञानस्वरूप के विकास हैं। तो एक ही चीज है, कभी बढ़ गया विकास, कभी घट गया, पर जिसके विकास है वह है ज्ञानस्वरूप, और वह है शाश्वत। उस पर दृष्टि पहुँचती है तब समझिये कि हमने आत्मा का सच्चा परिचय प्राप्त किया। प्रमाण की इस पद्धति से ज्ञान करें तो हम आत्मा का सच्चा परिचय पा सकते हैं।

तर्कज्ञान नामक मतिज्ञान के वर्णन का उपक्रम—सच्चे ज्ञान से वस्तु के स्वरूप का निर्णय होता है। इस प्रकरण को लेकर सच्चे ज्ञान की किस्में बताई जा रही हैं कि ये सम्यग्ज्ञान होते किस तरह के हैं? सम्यग्ज्ञान के दो भेद पहिले बताये कि ऐसा ज्ञान जो ज्ञान केवल आत्मा से प्रकट हो, इन्द्रिय और मन की सहायता न ले। दूसरा ज्ञान ऐसा जो इन्द्रिय और मन के निमित्त से प्रकट हो। दोनों ही प्रकार के ज्ञानों में उपादान कारण आत्मा ही है। इन्द्रिय और मन का निमित्त करने पर भी आत्मा ने जाना अपने ज्ञानस्वभाव के आधार से, कहीं इन्द्रिय के द्वारा नहीं जाना। जाना आत्मा ने अपने ज्ञानस्वभाव के बल पर किन्तु वहाँ ऐसी कमजोरी है, ऐसा आवरण छाया है कि निमित्त के न पाये बिना नहीं जान सकते। तो एक ज्ञान तो है प्रत्यक्ष और दूसरा ज्ञान है परोक्ष। अब परोक्षज्ञानों में भी किस-किस ढंग के ज्ञान होते हैं उसकी चर्चा चल रही है। सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान-इन तीन प्रकार का वर्णन किया जा चुका है। अब आज तर्कज्ञान की बात कहते हैं। बहुत से लोग ऐसा कहते भी हैं कि भाई तर्क मत करो, तो मालूम होता है कि तर्क करने में कुछ बुद्धि विशेष लगती है। तर्क के आधार पर ही सब कानून चलते हैं। तो तर्क ज्ञान को एक सुगम समझने के लिए आधार पद दिया जाता है- 'यदि' और 'तो'। 'यदि' और 'तो' शब्दों के योजनपूर्वक विचार चल रहा हैं, ज्ञान चल रहा है, ऐसी स्थितियों में तर्क ज्ञान होता है। जिसे पारिभाषिक शब्दों में कहते हैं- व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं। व्याप्ति होती है दो प्रकार की। एक तो हाँ के साथ हाँ लगाना और एक न के साथ न लगाना। विधि की व्याप्ति का नाम है अन्वयव्याप्ति। और निषेध की व्याप्ति का नाम है व्यतिरेकव्याप्ति।

जैसे ऐसी व्याप्ति बनाना कि जहाँ धुवाँ होता है वहाँ अग्नि होती है, यह अन्वयव्याप्ति का रूप है। यदि अग्नि न हो तो धुवाँ नहीं हो सकता, यह है व्यतिरेकव्याप्ति की बात । तो वास्तविकता क्या है, वह तर्क के आधार से जाना जाता है?

अनुमान-प्रमाण में प्रमाणता का आधार तर्कज्ञान–अनुमानज्ञान को लोग सच्चा ज्ञान-सा नहीं समझते। जब कभी पूछा जाता है कि भाई ! यह बात तुमने कैसे समझी? तो कह देते हैं कि हमने तो अनुमान से समझी। उसका कुछ ऐसा दृष्टिकोण है कि बात सही है या नहीं। लेकिन शास्त्रीय प्रकरण के अनुसार अनुमानज्ञान बड़ा पक्का ज्ञान है। लोक व्यवहार में अनुमान को संशय जैसा रूप देते है, लेकिन अनुमानज्ञान बड़ा पक्का ज्ञान है। उसमें बल दिया तर्कज्ञान ने। तर्क-शून्य अनुमान तो संशय जैसा ज्ञान हो गया, पर तर्कपूर्वक जो अनुमान होता है वह प्रबल ज्ञान होता है। तो तर्कज्ञान व्याप्ति के ज्ञान का नाम है और व्याप्ति दो किस्म की होती है। साधन के होने पर साध्य का होना, यह बात हमारे रोज-रोज काम में आती है, पर उसे पकड़ नहीं पाते। कहीं धुवाँ उठ रहा हो तो उसे देखकर तुरन्त कह देते हैं कि भाई ! आग लग गई। उसके बारे में पूरा निर्णय कर लेते हैं, संदेह नहीं करते। अब कहाँ आग लगी, कितनी लगी, इसमें चाहे विवाद रहे मगर बहुत धुवाँ देखकर यह निर्णय कर ही लेते है कि इसमें आग है। वहाँ कोई संशय तो नहीं रहता क्योंकि रोज-रोज धुवाँ और अग्नि एक साथ देखा करते हैं। और यह जान रहे हैं कि धुवाँ से आग नहीं पैदा होती, आग से धुवाँ पैदा होता है। तो अग्नि है कारण और धुवाँ है कार्य। तो जहाँ कार्य होगा वहाँ कारण अवश्य है। कारण के बिना कार्य कहाँ? तो कार्य जब दिखने में आया तो कारण जरूर ज्ञात होगा और कारण दिखने में आया उससे कार्य की सिद्धि हो अथवा न हो, क्योंकि अनेक जगह ऐसी अग्नि है कि जिसमें धुवाँ नहीं होता। तो अग्नि के दिखने से धुवाँ के सद्भाव का निर्णय हो या न हो, पर धुवाँ के निरखने से अग्नि का निर्णय होता ही है। यह सब तर्कज्ञान का प्रताप है। इन सब बातों को समझने के लिए अनुमानज्ञान का जब प्रकरण चलेगा उसमें तर्क और अनुमान का सम्मिलित रूप से वर्णन होगा।

अनुमान प्रमाण नामक मतिज्ञान का वर्णन–अब अनुमान ज्ञान को सुनो ! अनुमान ज्ञान किसे कहते हैं? साधन को देखकर साध्य का ज्ञान करना ! किसी चीज को देखकर जो सिद्ध करते हैं उसका अनुमान करना अनुमान है। जैसे धुवाँ निरखकर अग्नि का अनुमान करना। यहाँ अग्नि है धुवाँ होने से, यह अनुमान रूप हुआ।

अब इस अनुमान में कितनी तरह के अंग हैं, इस पर दृष्टिपात करें। इस पर्वत पर अग्नि है धुवाँ होने से। जहाँ-जहाँ धुवाँ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धुवाँ भी नहीं होता। और, धुवाँ है, इससे सिद्ध है कि अग्नि जरूर होनी चाहिए। देखिये- यह सब अनुमान की एक रचना बताया है। अनुमान में इतनी बातें होती हैं। जो लोग बड़े अभ्यासी हैं वे लम्बी बातें नहीं बोलते। इतनी लम्बी बात सोचने का उनके पास समय नहीं है। धुवाँ देखा और झट जान गए कि यहाँ आग हैं। लेकिन कोई कम अभ्यासी पुरुष हो तो उसे बहुत-बहुत विस्तार से समझाया जाता है। बुद्धिमान पुरुष तो दो-तीन बातों से ही सारा ज्ञान कर लेते हैं। यहाँ अग्नि है धुवाँ होने

से। तो सब ज्ञान हो गया। क्या व्याप्ति, क्या तर्क, क्या उदाहरण? मगर कम बुद्धिमान को समझाने के लिए इतने रूप से बोलना पड़ता है। तो अब जो यहाँ रूप बोले गए उनमें 5 अंग आये। इस पर्वत में अग्नि है। यह तो हुई प्रतिज्ञा। इसमें दो बातें मिली हुई हैं, पर्वत में अग्नि। पर्वत हैं पक्ष जिसकी सिद्धि करना हैं, अग्नि है साध्य और हेतु दिया है- धुवाँ होता है। जहाँ-जहाँ धुवाँ होता हैं वहाँ-वहाँ अग्नि होती है यह है अन्वयव्याप्ति। जैसे रसोई घर, यह है अन्वयव्याप्ति का दृष्टान्त। जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धुवाँ नहीं होता जैसे तालाब यह है व्यतिरेकव्याप्ति और यहाँ धुवाँ हैं यह है उपनय। इसलिए यहाँ अग्नि हैं यह निगमन हुआ। इस प्रसंग में यह समझिये कि ये अनुमान आदिक के लक्षण और इन सबका परिज्ञान हमारे किस काम में आयगा? तो सुनो ! जब आप अपने आत्मस्वरूप का परिचय करना चाहते हैं तो निरखते हैं न कि यह आत्मा है, क्योंकि इसमें ज्ञान है। अब देखिये- अनुमान का रूप बन गया। जहाँ-जहाँ ज्ञान होगा वहाँ-वहाँ आत्मा का अस्तित्व हैं। जहाँ आत्मा का अस्तित्व नहीं वहाँ ज्ञान भी नहीं। जहाँ ज्ञान का अस्तित्व नहीं वहाँ आत्मा भी नहीं। और आपको सब तरह के उदाहरण मिल जायेंगे। ये चौकी, बैंच, चटाई आदिक जो कुछ सामने पड़े हैं ये आत्मा नहीं हैं क्योंकि इनमें ज्ञान नहीं है। तो कोई चिह्न देखकर किसी वस्तु का बोध किया जाय तो उसमें अनुमान प्रमाण की आवश्यकता होती हैं। उसी अनुमान के लक्षण की बात कही जाती है।

वास्तविक ज्ञान की सम्पन्नता–ज्ञान की ये सब बातें जब विधिपूर्वक हम बहुत ज्ञानसम्पादन का प्रयत्न करें तो उसमें ये आवश्यक हैं। जानने में उपाय हमारे मजबूत न हों तो हम जानने की दिशा में बड़ नहीं सकते। भले ही हम एक साधारण ज्ञान बराबर एक मनबहलावा उत्पन्न कर लें, और इतने मात्र से संतोष कर लें कि हमने सब कुछ सुना, कुछ जान लिया, जानने के लिए कितना पड़ा हुआ है? किन्तु जिसे जानने के बाद फिर जानने का प्रयत्न न करना पड़े वहाँ तक जानना पहुँच जाय तो समझो कि हमने अब सर्वस्व जाना। देखिये-लोग काम किसलिए करते हैं? इसलिए कि इस काम से फुरसत हो और फिर आराम मिले, इस काम से फिर झगड़ा न रहे और मेरे सामने काम पड़ा न रहे। सभी के अन्दर काम करने का यही भाव रहता है।

तो जानना भी एक काम है। जानने से फायदा क्या? जानना यह पुरूषार्थ, यह कामकाज करना चाहिए, यों करना चाहिए। हमें ऐसा जानन बनाना है कि जिस जानन के बाद फिर जानना बनाने की आवश्यकता न रहे। ज्ञान का काम फिर आगे पड़ा न रहे। जो हो तो सहज हो, वह बात अलग है, मगर यहाँ जो हम ज्ञान किया करते हैं तो जान-जानकर पुरूषार्थ करके, रागद्वेष करके, आकुलतायें करके जाना करते हैं, ये सारे जानने के श्रम मुझे न करने पड़ें, इसके लिए जानन होना चाहिए। तो किस तत्त्व का हमें ज्ञान बने कि ऐसी स्थिति मिले कि कुछ जानने का श्रम न करना पड़े, वह तत्त्व क्या है? वहाँ तक पहुंचना है। अब तो सोच लीजिए कि क्या हम अपने ज्ञान द्वारा उस तत्त्व तक पहुंचे? उस तत्त्व तक पहुँचने के लिए एक विधिपूर्वक ज्ञान बनाना होगा, और एक मूल को पुष्ट करते हुए ज्ञान बनाना होगा। यों तो कोई पुरुष नाव को खेवे और

उद्देश्य कुछ न बनाया हो कि हमें किस दिशा में जाना है, तो वह तो कभी पूरब की ओर जायगी, कभी पश्चिम की ओर, कभी उत्तर की ओर व कभी दक्षिण की ओर। नाव खेने का काम तो वह दिनभर करेगा मगर वह अपने निर्दिष्ट स्थान में न पहुँच सकेगा। ठीक इसी तरह जानने का उद्देश्य जब हमारा कुछ नहीं है तो जानने के लिए हम बहुत यत्न करेंगे, खूब भ्रमण करेंगे, बड़ा परिश्रम करेंगे, मगर उस जानने से लाभ कुछ न पाया। बात त्यों की त्यों रही। तो ज्ञान करना है और हमें उस तत्त्व तक जाना है जिस तत्त्व तक जाकर फिर हमें ज्ञान का भी श्रम न करना पड़े, ऐसी स्थिति पायें। वह तत्त्व क्या है? सहज ज्ञानस्वरूप, एक सहज ज्योति। एक ऐसा ज्ञानप्रकाश कि जहाँ कोई तरंग नहीं, उमंग नहीं, जहाँ किसी प्रकार का क्षोभ नहीं, केवल एक सामान्यतया जाननप्रकाश चलता रहता है, ऐसी स्थिति में रागद्वेष मोह का काम ही नहीं। अगर रागद्वेष, मोह किसी ओर जग रहा है तो उसको ऐसी ज्ञातापना की स्थिति मिलती ही नहीं। तो सर्वकल्याण, सर्ववैभव, सर्वसम्पन्नता इस ही तत्त्व में प्रवेश करने में है, बाकी के जो जितने भी प्रकार के ज्ञान हों वे सब ज्ञान चूँकि अपने आत्मा का आधार छोड़ कर हो रहे हैं, मायने आत्मा का उपयोग न बनाकर हो रहे हैं, इसलिए वे सब क्षोभ को साथ लिए हुए हैं।

परतत्त्व के लगाव के आशय का मिथ्यापन–संसार में दु:ख इतना ही तो है कि हम अपने आपके आश्रय में ज्ञान नहीं बनाते हैं और पर की दृष्टि करके, पर में कुछ चाह करके, पर का लगाव रख करके कुछ ज्ञान बनाते हैं। उसका असर क्या होता है कि चूँकि हमारा यह उपयोग इस आनन्दमय स्वरूप को छोड़कर बाहर चला जाय तो जो अपने घर को छोड़कर दूसरे के घर में रहना चाहे वह टिक तो न सकेगा। उसे तो हर एक कोई भगायेगा। ऐसे ही हमारा उपयोग अपने द्वार को छोड़कर बाह्यपदार्थों में लगा रहे तो टिक तो न सकेगा। वहाँ स्थिरता नहीं मिलती। यदि ऐसे तत्त्व की ओर हमें जाना है कि जहाँ जाकर हम आनन्दमय हो जायें, उस तत्त्व की श्रद्धा जिसे होती है या इस तरह की रूचि जिसके जगी है उसको कहते हैं सम्यग्दृष्टि। और जिनको इन तत्त्व की श्रद्धा-रूचि नहीं है, किसी बाह्य में ही परिज्ञान करने की, कुछ प्रयत्न करने की लालसा है उन्हें कहते हैं मिथ्यादृष्टि। मिथ्यादृष्टि के मायने मिथ में दृष्टि जाना। मिथ मायने पर में। मिथ धातु मिथुन अर्थ में आती हैं। इसी के जोड़ने से तो जहाँ दूसरे का जोड़ रखा ज्ञान द्वारा वहाँ मिथ्यादृष्टि बन गई। और जहाँ केवल निज का ही लगाव रखा, सत्य स्थितियाँ रखीं, वहाँ मिथ्यादृष्टि न रही किन्तु एकत्वदृष्टि, कैवल्यदृष्टि, स्वदृष्टि अथवा स्वयं ही स्वयं सब कुछ। वहाँ दूसरे की बात नहीं आयी। बस इस स्थिति में ही सच्चा आनन्द है और ऐसी श्रद्धा बनाकर कुछ क्षण कभी भी, किसी भी समय इसकी याद तो रखना चाहिए। जिसको श्रद्धा है उसको जहाँ कहीं भी याद आ सके, घर में हो, दूकान में हो, बाहर हो, चलता-फिरता हो, सोता हो, किसी भी क्षण जब उसकी कषाय मंद होती है, श्रद्धालु पुरुष अपने इस अन्तस्तत्त्व के श्रद्धालु ऐसी दृष्टि बना लेते हैं कि वहाँ तक जाना है। वहाँ तक जाने के लिए हमें कितना ज्ञान बनाना है, कितने ढंग से हमें अपनी तैयारी करना है? यहाँ लौकिक कामों के लिए तो कितनी-कितनी तैयारियाँ लोग बनाते

हैं? कोई समस्या आ जाय, किसी से विवाद हो जाय तो उसको निपटाने के लिए लोग दसों तरकीबें सोचते हैं, पर ऐसे तत्त्व को जानने के लिए जिस तत्त्व को जानने पर सदा के लिए संसार के संकट छूटें उसके लिए कितना यत्न करना चाहिए? यों कहो कि सारा यत्न इसी के लिए होना चाहिए।

आत्मोपलब्धि का साधनभूत सुगम मंत्रण–मैं ज्ञानमात्र हूँ, यह एक सच्चा निजी मंत्र है। इसमें कल्याण की सारी बातें समाई हुई हैं। मैं ज्ञानमात्र हूँ, अन्य कुछ नहीं हूँ, केवल एक ज्ञानज्योति ही मैं हूँ। तब मेरा कहीं कुछ नहीं है यह उसकी श्रद्धा में आ ही जायगा। मैं ज्ञानमात्र हूँ, इसके मायने बस मेरा सब कुछ ज्ञान में है। ज्ञान को ही करना है, ज्ञान को ही भोगना है, ज्ञान का ही अनुभव है, ज्ञान ही मेरा घर है, ज्ञान ही मैं साथ लिए हुए था। ज्ञान को ही मैं साथ लिए रहूंगा, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है। इसका अर्थ यह हुआ कि मैं किसी भी अन्य पदार्थ को न करता हूँ और न भोगता हूँ। मैं ज्ञानमात्र हूँ। इस ज्ञानमात्र स्वरूप में, इस ज्ञानस्वभाव में निरन्तर होता क्या है? ज्ञान ही ज्ञान, जानन जानन ही चलता रहता है। जब जानन जानन ही चलता रहता है तो फिर अधीरता और आकुलता क्यों? अधीरता और आकुलता लोगों को यों होती हैं कि आगे का कुछ बोध नहीं है, भविष्य के परिणमन का कुछ बोध नहीं है। क्या करना है, कैसे करना है? उसका कुछ पता ही नहीं है, क्योंकि उन्हें यही पता नहीं है कि भविष्य में मुझे क्या होना है? जब भविष्य के ज्ञान का कुछ पता नहीं रहता तब आकुलता होती है। लो, हमें तो भविष्य का सब पता हो गया। क्या पता हो गया? बस यही कि मैं जानना जानना ही करूँगा और कुछ करूँगा ही नहीं। पक्का निर्णय हो गया। बस मेरा काम है जानन। जानन जानन ही चलता रहेगा और कुछ बात ही मुझमें नहीं आयगी। मुझे तो भविष्य का पूरा पता हो गया। अब आकुलता और गम्भीरता न रह सकेगी। मैं जानन ही कर पाता हूँ और कुछ नहीं कर पाता। यदि आकुलता समाती है तो समझिये कि हम अपने निर्णय पर नहीं टिक रहे। मैं जानन जानन ही कर सकता हूँ, अन्य कुछ नहीं। मेरा भविष्य पूरा मुझे मालूम है, इस बात पर अगर टिके रहे तो आकुलता न होगी। तो मैं ज्ञानमात्र हूँ, यह एक ऐसा मंत्र है। शब्दों को नहीं कह रहे, उसमें जो कुछ दृष्टि में आये, उसकी बात कह रहे कि यह सर्वस्व भला कर देने वाला है। और यों समझिये कि शास्त्रों में जितने भी मंत्र कहे गए हैं, मंत्रों की आराधना करो- परमात्मा की, अरहन्त सिद्ध की अथवा पंचपरमेष्ठी की अथवा अमुक अमुक मंत्र की। सभी मंत्रों का परिसमापन इस भाव में है कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, यह बात आयी कि सब कुछ मुझे प्राप्त हो गया। तो उस ज्ञानमात्र सहजज्ञानस्वरूप तत्त्व की ओर पहुँचने का काम हम कब कर पायेंगे? जब कि उसकी तैयारी में हमें जानने के उपाय बहुत-बहुत अच्छी प्रकार से विदित होंगे, उन्हीं उपायों से हम जानने चलेंगे।

अनुमानप्रमाण के अवयव–पदार्थ परिचय के उपायों में अनेक प्रमाण के भेद बता-बताकर अब यहाँ बता रहे हैं अनुमान प्रमाण। एक पूरा वाक्य पुन: स्मरण किया जाय, उदाहरण के रूप में जैसे बोला उस बोलने और सुनने में एक प्रकार भी गिनते जाइये। एक बात यह कहा, अब यह कहा।

इस पर्वत में अग्नि है धुवाँ होने से। जहाँ-जहाँ धुवाँ होता हैं वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। जैसे यह रसोई घर। जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धुवाँ भी नहीं होता जैसे तालाब। और धुवाँ है यहाँ पर इसलिए यहाँ पर अग्नि होनी चाहिए। इसमें 9 अंश हुए। इस अनुमान को पूर्ण रूप से समझने के लिए 9 भाग हुए। उन 9 भागों का नाम क्या है? तो अब नाम समझ लीजिए। 'इस पर्वत में'- यह पक्ष है, 'अग्नि है'-यह साध्य, 'धुवाँ होने से'-यह हेतु है। 'जहाँ-जहाँ धुवाँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है'-यह अन्वयव्याप्ति है। 'जैसे रसोई घर',-यह अन्वय दृष्टान्त है। 'जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धुवाँ भी नहीं होता'-यह व्यतिरेक व्याप्ति है। 'जैसे तालाब',-यह व्यतिरेक दृष्टान्त है, और 'इस पर्वत में धुवाँ है'-यह है उपनय। 'इस कारण पर्वत में अग्नि होनी ही चाहिए',-यह निष्कर्ष अथवा निगमन है।

आत्मबोध की प्राथमिक आवश्यकता–देखो, जब आत्मा का बोध करने जायेंगे कि मैं आत्मा क्या हूँ, उस आत्मा को पहिचानने के लिए जो भी साधन बनेगा, वहाँ भी अनुमान बनेगा तो इन 9 भागों में बनेगा। यह आत्मा है, ज्ञान होने से। जहाँ-जहाँ ज्ञान होता है वहाँ-वहाँ आत्मा होती है। जहाँ आत्मा नहीं होती वहाँ ज्ञान नहीं होता। जैसे ये चटाई, बैंच वगैरह। और यहाँ ज्ञान है इसलिए यह आत्मा है। देखिये- इस प्रयोग की कैसे आवश्यकता है। किन्तु हमें इसे जानना चाहिए कि यह उपाय है वस्तु के जानने का। तो हम अपने जीवन में यह उद्देश्य बनायें कि अपने आत्मस्वरूप को जान लें। देखिये- समय-समय पर सब उपयोगी हैं। जब घर में आप बस रहे हैं तो घर की व्यवस्था भी उपयोगी है, उसके बिना भी काम न चलेगा। जब आप देश में रह रहे हैं तो देश की व्यवस्था भी उपयोगी है, उसके बिना भी काम न चलेगा। जब आप समाज के बीच रह रहे हैं तो समाज की व्यवस्था भी उपयोगी है, उसके बिना भी काम न चलेगा। मगर इन सब बातों में विचारिये कि इनका आंशिक उपयोग भी कब तक के लिए है? ज्यादह से ज्यादह जब तक कि मेरा यह जीवन है, जब तक हम इस मनुष्यभव में है, तभी तक देश, समाज, घर, मित्रजन, संगी आदिक आवश्यक हैं, लेकिन यह मैं खुद केवल इतनी जिन्दगी तक ही नहीं हूँ, मरण के बाद भी मैं होऊँगा, तो बस यह श्रद्धा जिसे हो गई उसने सब परखा और जिसको ये श्रद्धा नहीं है उसने तो अपने बारे में कुछ परखा ही नहीं, केवल बाह्य विडम्बना में ही है। तो जो मरकर आगे जायगा उसकी भी तो सुध लेना है। उसकी रक्षा करो। उस क्षण में भी आनन्दमय रहूँ इसका यत्न करना है। इसका यत्न होगा सम्यग्ज्ञान से। उस ही ज्ञान की बात यहाँ चल रही है !

अनुमानज्ञान के अंग–सच्चे ज्ञान से वस्तु का परिचय होता है, अतएव सच्चे ज्ञान के परिज्ञान का वर्णन चल रहा है। मतिज्ञान के प्रकारों में अंतिम प्रकार अनुमान बताया जा रहा है और उसमें कहा जा रहा था कि देखिये 5 अंग होते है। अनुमान- जैसे अनुमान किया कि इस पर्वत में अग्नि है धुवाँ होने से। जहाँ जहां धुवाँ होता है वहाँ वहाँ अग्नि है, जैसे रसोई घर। जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धुवाँ भी नहीं होता, जैसे तालाब। और यहाँ धुवाँ है अत: अग्नि होनी चाहिए। जैसे किसी चीज का अनुमान बनाया गया। अनुमान के मायने संशय नहीं होता, यह तो एक लोक रूढ़ि

हो गई है अनुमान को संशय मानने की। अनुमान का अर्थ लोग अंदाजा से करते हैं, पर अंदाजा और अनुमान में अंतर है। अंदाज सही हो, न भी हो, लेकिन अनुमान पूर्णतया सही होता है। और यदि उस अनुमान में दोष है तो दोष होने के कारण अनुमान झूठा है। तो किसी भी चीज का अनुमान करना हो तो कोई मुख्य चीज निरखकर ही अनुमान किया जायगा, उस चिन्ह का नाम तो हेतु है और अनुमान में जो बात रखी है उसका नाम प्रतिज्ञा है। तो प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अंगो का होना आवश्यक है, बाकी के अंग कहे जायें या न कहे जायें यह तो श्रोताओं की चतुराई पर निर्भर है। कोई श्रोता ऐसे कम कुशल होते है कि उनको 5 अंग कहकर ही समझाया जाय तो समझते हैं। उन्हें कहते हैं बालक। बालक को समझाने के लिए तो 5 अंग कहे जायेंगे। बालक मायने छोटी उमर का नहीं किन्तु जो जिस विषय का ज्ञान नहीं रखता उसे उस विषय का बालक कहते हैं। ऐसे जो बुद्धिमान हैं, विद्वान हैं उनको केवल प्रतिज्ञा और हेतु दो बातें कहने से ही काम चल जाता है। तो यहाँ तक ज्ञान के प्रकारों में अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान इन तीन प्रत्यक्ष ज्ञानों का वर्णन हुआ, और मतिज्ञान का भी वर्णन समाप्त हुआ।

श्रुतज्ञान नामक परोक्षज्ञान–अब इसके बाद परोक्षज्ञान में शेष बचा है श्रुतज्ञान। यहाँ 5 ज्ञानों में चार में तो विकल्प नहीं बने, श्रुतज्ञान में विकल्प होता है। श्रुतज्ञान किसे कहते हैं? मतिज्ञान से जानकर उसी पदार्थ के संबंध में और विशेष जानकारी होना सो श्रुतज्ञान है। कहते हैं ना कि सब संसारी जीवों के मति और श्रुतज्ञान हैं। हम आप सबमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो होगा ही। जब तक यह जीव भगवान नहीं होता तब तक उसके मतिज्ञान और श्रुतज्ञान जरूर होते हैं। मुनि भी हो गए, मन:पर्ययज्ञानी हैं, गणधर हैं उन तक के भी मतिज्ञान, श्रुतज्ञान होते हैं। केवलज्ञान होने पर सभी ज्ञान विलीन हो जाते हैं। जैसे सूर्य के नीचे बादल आयें हो तो उनका आवरण जैसे-जैसे हटता जाता है वैसे ही वैसे प्रकाश का विस्तार बढ़ता जाता है। अभी बहुत अधिक बादल थे तो केवल 10 मील तक का प्रकाश था, कुछ और अधिक बादल हट गये तो 100 मील तक प्रकाश फैल गया, फिर और अधिक बादल हट गए तो 1000 मील तक प्रकाश फैल गया और जब बादलों का आवरण नहीं रहता तो पूर्ण प्रकाश फैल जाता है। आप सोच सकते हैं कि ये छुटपुट प्रकाश उस पूर्ण प्रकाश में शामिल हो जाते हैं। जैसे २0 हजार कोश का प्रकाश है तो उसमें 5 कोश का भी प्रकाश है, 500 कोश का भी प्रकाश है। तो वे छुटपुट प्रकाश पूरे प्रकाश में शामिल हो गए। यहाँ चाहे ऐसा कह लो। और एक दृष्टि से ऐसा भी कह सकते हैं, लेकिन ज्ञान में यह बात नहीं। केवलज्ञान में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि ये सब केवलज्ञान के सदृश वीतराग निर्विकल्प ज्ञान अंशरूप से होते तो समा जाना कहना ठीक था, लेकिन ये ज्ञान तो विकल्प लिए हुए हैं। इनमें आवरण का क्षयोपशम भी कारण है। जिन-जिन चीजों में क्षयोपशम कारण होता है, वे चीजें पूर्णतया शुद्ध नहीं होती, क्योंकि उनके साथ उदय लगा होता है। छुटपुट ज्ञान जो हम आपको हो रहे हैं ये आवरण के विनाश से नहीं हो रहे है, आवरण का विनाश भी है, साथ में उदय भी है। जिसे कहते हैं देशघाती स्पर्धकों का उदय और सर्वघाती स्पर्धकों का उदय। इस कारण समाया हुआ

नहीं कह सकते, लेकिन सामान्यतया यह कह सकते हैं कि मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्ययज्ञान में जो बात समझी, केवल समझ-समझ की बात अगर ले लें, उदय की बात न लें, विकल्प वाली बात न लें, केवल जानन मात्र उनमें से खींचकर देखें तो कह दें कि केवलज्ञान में सब ज्ञान समा गये, परन्तु परमार्थत: देखो तो केवलज्ञान एक अपने प्रकार का ज्ञान है, समस्त विश्व का जाननहार है, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदिक की तरह क्षयोपशमाधीन ज्ञान नहीं है। इतना सब कुछ वर्णन होने के बाद अब बड़े उपकारी श्रुतज्ञान का वर्णन कर रहे हैं। देखिये- हम आप लोगों का उपकार करने वाला श्रुतज्ञान है। जैसे अरहंत और सिद्ध भगवान में यह कह देते हैं कि हमारे उपकारी तो अरहंत भगवान हैं। सिद्ध भगवान यद्यपि उनसें भी उत्कृष्ट हैं, अरहंत भी सिद्ध होंगे लेकिन अरहंत का कितना बड़ा उपकार हैं कि उनका समवशरण होता है, दिव्यध्वनि होती है, गणधर उनके ही निमित्त से रचना बनाते हैं। इन समस्त शास्त्रों का मूल आधार तो ये अरहंत देव हैं, यह हमारे मूल उपकारी हैं। यदि आज यह जिनवाणी हम आपको सुनने को न मिलती तो एक कीचड़ में जैसा फँसे होते, दुर्गति की परम्परा में ही पड़े होते। आज समझिये, हम आपका कितना अच्छा भवितव्य है कि इस भव में हम आपको जिनवाणी का सुयोग मिला है और जिसके द्वारा हम आप कष्ट से भी दूर रहते हैं और मोक्षमार्ग भी पा लेते हैं। कोई विपदा आये तो जहाँ आत्मस्वरूप पर दृष्टि हो, प्रभुस्वरूप का परिचय है अतएव वहाँ सब संकट दूर हो जाते हैं।

काल्पनिक संकटों को हटाकर आत्मवैभव के दर्शन का अनुरोध–यहाँ के इन काल्पनिक संकटों में कुछ दम भी तो नहीं हैं, हाँ संकट मान लो तो पहाड़ हैं, ठीक-ठीक समझ लिया तो कोई संकट नहीं है। क्या संकट है, नाम लेकर तो बताओ? अधिक से अधिक शरीर में कोई विशेष बाधा हुई उसे कुछ संकट कहो तो थोड़ा मान लिया जाय, क्योंकि देह का वर्तमान में निकट सम्पर्क है, तब भी वस्तुत: यदि उपयोग विशुद्ध है तो वह भी संकट नहीं है, लेकिन धनहानि होना अथवा कोई चीज नष्ट हो जाना, इष्ट का वियोग हो जाना, यह सब क्या कोई संकट है? ये तो मन के ऊधम हैं। मान लो लखपति है और 2000 की हानि हो गई तो यह दु:खी होता है। दु:खी क्यों होता? अरे ! 98000 तो अभी रखा है, वहाँ मौज क्यों नहीं मानता? अथवा उसका भी मौज क्या? उसे पर जानकर, जो आता हो आये, जैसा रहना हो रहे, जो कुछ आज है उसका आधा भी रहे तो रहे, मेरा क्या गया और कभी कुछ भी न रहे तो न रहे, मेरा क्या नुकसान हुआ? मैं तो ज्ञानमात्र अमूर्त एक चित्स्वरूप हूँ। इसमें कुछ आता-जाता नहीं। यह एक भावमात्र पदार्थ है, इसका क्या नुकसान है? तो संकट तो मानने की बात है। संकट मान लिया तो संकटों का पहाड़ बना लिया और जब सम्यग्ज्ञान किया, सच्ची दृष्टि जगायी तो वहाँ संकट का नाम ही नहीं। तो ये सब हितकारी बातें, ये उपदेश, ये हमें श्रुतज्ञान से प्राप्त होते हैं। उस श्रुतज्ञान का विस्तार बताते हैं। श्रुतज्ञान दो प्रकार से विभक्त है- एक अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान और दूसरा अक्षरात्मक श्रुतज्ञान। अक्षरों का उपयोग हुए बिना जो श्रुतज्ञान होता हैं वह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है, एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय

तक के जीवों में पाया जाता है। अक्षरात्मक भी पंचेन्द्रिय में है पर अनक्षरात्मक भी है। हम जान लेते हैं और किसी अक्षर का आलम्बन भी नहीं लेते, ऐसे भी जानकारी होती है, और ये कीड़ा, मकोड़ा, वृक्ष, पत्ते ये क्या कुछ जानते नहीं? इनके जानने का हम कुछ प्रकट रूप नहीं बता सकते लेकिन आत्मा है, ज्ञानवान है इसलिए उनमें भी जानकारी अवश्य है। तो ये भी जानते हैं पर इनके कोई अक्षर का उपयोग है क्या? अथवा कोई वर्णमाला का भी ज्ञान है क्या? तो अक्षरों का उपयोग किए बिना जो श्रुतज्ञान है वह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है और जो अक्षरों का उपयोग लेकर भीतर ज्ञान बनता है वह सब अक्षरात्मक ज्ञान है। तो हम आप लोगों का हित अक्षरात्मक श्रुतज्ञान से है।

ज्ञान की प्रियतमता–देखिये- यह छाँट करके तो बताओ कि दुनिया में सबसे अधिक प्रिय चीज क्या हो सकती है? सबसे अधिक प्यारी वस्तु क्या है, जिसके बाद यह न कहना पड़े कि इससे प्रिय चीज तो यह है। तो दुनिया में प्रियतम चीज क्या है? बच्चे को प्यारी है माँ की गोद। उससे बढ़कर उसे कुछ नहीं सुहाता। आपके दुकान, धन, वैभव आदि से उसे कुछ प्रयोजन नहीं। माता की गोद से बढ़कर उसे और कुछ नहीं। जब कोई संकट आता तो झट वह बच्चा माँ की गोद में छिप जाता और अपने को संकटरहित समझ लेता हैं। लेकिन वही बच्चा जब कुछ बड़ा होता है, खेलने लगता है तो उसे खेल की चीजें प्रिय हो जाती है। अब उसे माँ की गोद प्रिय नहीं रहती। माँ कितना ही जबरदस्ती गोद में रखना चाहे पर वह बालक उस माँ से छूटकर खेलने भाग जाना चाहता है। तो उसे प्रिय हो गए खेल। वही बालक जब कुछ और बड़ा हुआ तो उसे स्कूल प्यारा हो गया। झट अपना बस्ता उठाया और स्कूल चल दिया। अब उसे खेल भी प्रिय न रहे। कुछ और बड़ा हुआ तो उसे परीक्षा में पास होना प्रिय हो गया। चाहे जिस ढंग से पास हो पर पास होना चाहिए। और बड़ा हुआ तो उसे डिग्री प्रिय हो गई। डिग्री के बाद कुछ और बड़ा हुआ तो उसे स्त्री प्रिय हो गई। फिर धन प्यारा हो गया, बच्चे प्यारे हो गये। तो ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता जाता है त्यों त्यों प्यार बदलता जाता है? किसी स्थिति में कुछ प्यारा है, आगे चलकर कुछ और प्यारा हो जाता है। वही पुरुष जब 40-50 वर्ष का हो गया, मान लो दफ्तर में वह बैठा हुआ था। घर से फोन आया तो वह तुरन्त घबराकर घर भागा। पहिले तो रास्ते में मिलने वाले लोगों से कुछ बातें करके जाया करता था, परन्तु अब उसे खड़ा रहने की भी फुरसत नहीं। बड़ी जल्दी-जल्दी में घर पहुँचा। वहाँ जाकर देखा कि घर में आग लग गई है। घर के अन्दर से धन, स्त्री, पुत्रादिक को निकाला, आग बढ़ गई। अन्त में एक बच्चा घर के अन्दर ही रह गया। उसे घर के अन्दर जाने की हिम्मत न हुई तो दूसरों से कहता है, भैया ! हमारे बच्चे को निकाल दो, हम तुम्हें २० हजार रूपये देंगे।

अब देखिये–उसे अपने प्राण प्यारे हो गये। इसी प्रकरण में कदाचित उसके वैराग्य जग जाय, वह साधु हो जाय, आत्मध्यान में रत हो जाय तो उस समय चाहे कोई शत्रु अथवा कोई क्रूर जानवर प्राण लेने भी जावे तो क्या वह साधु अपने प्राणों की रक्षा करने की बात सोचेगा? वह

तो अपने नेत्र बन्द किए हुए आत्मध्यान में लीन है। कोई पूछे कि क्यों भाई आत्मध्यान में लीन हो? जरा एक मिनट को इस ध्यान को छोड़कर सामने खड़े प्राण लेने वाले शत्रु को हटा दो, बाद में निश्चिंत होकर ध्यान करो। तो वह साधु मानो जवाब देता है, (जवाब तो नहीं देता पर मान लो) कि मैं क्यों अपने आत्मध्यान को छोड़कर इस विकल्प में आऊँ? यों सोचकर वह साधु प्राणों की भी परवाह न करके अपने ध्यान को भंग नहीं करता। वह समझ गया कि यह देह तो विनाशीक चीज है। जीव तो जीव है। जब मेरा ज्ञानोपयोग एक ज्ञानस्वभाव के चिन्तन में लग गया तो अब मैं अन्यत्र नहीं जाना चाहता। मानो यह उत्तर है उस साधु का। लो अब उसे क्या प्यारा रहा? ज्ञान। अब उसे अपने प्राण भी प्यारे नही रहे। तो ज्ञान से बढकर और कोई हित और प्रिय चीज नहीं होती| तो समझिये कि हित, प्रिय और सर्वोत्कृष्ट वैभव वाली चीज है ज्ञान। जिस ज्ञान के लिए मोही जीव कुछ महत्त्व नहीं देते, और ज्ञानसम्पादन की बात तो फालतू समय की बात समझते हैं। अजी हमको समय नहीं मिलता, बड़े फँसे हैं। कहाँ से ज्ञान सम्पादन करें? ज्ञान की बात सोचने का अवकाश कहाँ से लायें?

ज्ञान को महत्त्व देने की आवश्यकता–देखिये लोग कितना फँसे हुए रहते हैं, फँसाव कही कुछ नहीं, पर अपने विकल्पों में फँसे रहते है। और, फिर जब मरण हो जाय तब फुरसत तो मिलेगी ना? यहाँ के कामों से तो फुरसत मिल जायगी, पर अगले भव में जाकर वहाँ क्या करना है? इस पर भी तो कुछ विचार करना चाहिए। वहाँ भी तो समय न मिलेगा। तो ज्ञान ही हम आपका वैभव है। इस ज्ञान को ही सर्वप्रिय और हितकारी समझकर अन्य की उपेक्षा करनी चाहिए। ज्ञान को ही महत्त्व देना है, उस ज्ञान के लिए ही अपना तन, मन, धन, वचन सर्वस्व न्यौछावर करना है। यदि ज्ञान पा लिया तो समझो कि सब कुछ पा लिया और एक ज्ञान ही न पाया तो समझो कि कुछ नहीं पाया। तो हमारा हितकारी यह श्रुतज्ञान है, जिसके दो भेद बताये गए है- अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान और अक्षरात्मक श्रुतज्ञान। अक्षरात्मक श्रुतज्ञान के दो भेद हैं- परार्थानुमान और आगम। जैसे अभी अनुमान ज्ञान की बात बताई थी कि कोई एक चीज निरखकर दूसरी चीज का ज्ञान करना अनुमान कहलाता है। यही अनुमान जब दूसरे के लिए बोला जाय, दूसरे के लिए जाना जाय तो बात अक्षरात्मक बन जाती है और तब यह परार्थानुमान कहलाता है। और, आगम भी अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। जो आप्त आत्मा है उनके द्‌वारा जो निरूपित शास्त्र हैं उनका ज्ञान ही तो श्रुतज्ञान है। आप्त के मायने क्या है? आप्त का शुद्ध अर्थ है पहुंचे हुए। आप्त का ज्ञान मायने पहुंचे हुए का ज्ञान। जो सर्वत्र पहुँच चुके हैं, जिनका ज्ञान निर्मल हो गया है वे अरहंत आप्त हैं। वे आप्त क्यों कहलाते है? इसलिए कि वे सर्वत्र पहुंचे हैं। कही भी उनकी कमजोरी नहीं है। ज्ञान पर पूर्ण अधिकार है। ऐसे आप्त पुरूषों के द्‌वारा, सशरीर भगवान के द्‌वारा प्ररूपित जो शास्त्र हैं, उनके ज्ञान को आगम कहते हैं। आगम मायने मोटे रूप से समझिये शास्त्र। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग ये चार प्रकार के वेदों में विभक्त जो कुछ ज्ञान हैं वे सब श्रुतज्ञान कहलाते हैं। यहाँ तक मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान

का वर्णन हुआ। ये ज्ञान कुछ हम आपमें हैं और उनको उत्पन्न करने की हम आपमें बराबर योग्यता है। उन ज्ञानों से हमें वस्तु का परिचय मिलता है।

प्रसन्नता का साधन, ज्ञान–वस्तु का जहाँ यथार्थ ज्ञान है वहाँ ही आनन्द है। किसी बालक से किसी ने गणित का एक प्रश्न पूछा- बतलाओ 15×6= कितने होते हैं? तो जब तक वह बता नहीं पाता तब तक उसके अन्दर बड़े विचार चलते हैं, उसको बड़ी घबराहटसी रहती है। लज्जा, भय आदि की बातें भी आ सकती हैं, किन्तु जब पहाड़ा पढ़कर 15×6=90 उत्तर दे दिया तहां झट उसकी मुख-मुद्रा में प्रसन्नता छा जाती है। तो उसकी वह प्रसन्नता किस बात की है? किसी ने न उसे पैसा दिया, न लड्डू खाने को दिया, न उसका सत्कार कर दिया। तो उसकी वह प्रसन्नता है अज्ञाननिवृत्ति की। जो उत्तर नहीं आ रहा था उसका सही ज्ञान हो गया, इस बात की उसे प्रसन्नता है। यह तो एक लौकिक बात है, परमार्थत: यह पूर्ण सत्य बात है कि जहाँ हमारा ज्ञान पूर्ण सत्य होगा, निर्मल होगा वहाँ हमें आनन्द अवश्य है। यदि आनन्द की कमी है तो यह निर्णय रखना चाहिए कि अभी हमारे अन्दर ज्ञान की कमी है। हमारे ज्ञान में दोष आ रहा है। तब ज्ञान का दोष ढूँढें और दोष को दूर करने जैसा अपना भीतरी भाव बनायें तो तत्काल संकट मिट सकते हैं। इन्हीं 5 ज्ञानों की बात चलने के पश्चात् यह प्रश्न होता है कि कितना ज्ञान तो सही कहलाता है और कितना ज्ञान मिथ्या कहलाता है? तो देखिये- मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये तो सदा सम्यक् होते हैं और अवधिज्ञान मिथ्यादृष्टियों के हो तो वह कुअवधि होता है, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी मिथ्यादृष्टियों के हों तो वे कुमति, कुश्रुत आदि कहे जाते हैं। सम्यग्दृष्टियों के हों तो वे सम्यक्मतिज्ञान और सम्यक्श्रुतज्ञान कहलाते हैं। अब इस प्रसंग में एक यह बात समझना है कि स्वानुभव, जिसका कि वर्णन शास्त्रों में बहुत आता है, स्व का अनुभव, आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अनुभव। यह स्वानुभव कैसे ज्ञान में आता है? और इसकी क्या पद्धति होती है? यह बहुत जानकारी का विषय है। इसका वर्णन आगे किया जायगा।

सम्यग्दृष्टि की निजभूमिका–स्वानुभव का किस ज्ञान में अर्न्तभाव है इसका वर्णन करने से पहिले यह बताया जाता है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान-ये सम्यक् होते हैं, मिथ्या होते हैं, इसका वर्णन किया जाता है। मतिज्ञान से जैसे वह जान लिया किसी ने कि यह चौकी है, यह पुस्तक है, तो मिथ्यादृष्टि ने भी ऐसा ही जाना कि यह चौकी है, पुस्तक है, फिर उसमें सम्यक् और विपर्यय का अन्तर क्या आया? पहली बात यह समझना है। उसका समाधान यह है कि यद्यपि मिथ्यादृष्टि ने भी सब समझा कि यह चौकी है, सम्यग्दृष्टि ने भी चौकी को चौकी ही जान लिया, चौकी क्या द्रव्य है, यह किस चीज से बनी है, इसमें क्या गुण है? इन सब बातों का ज्ञान नहीं है मिथ्यादृष्टि के। सम्यग्दृष्टि को प्रतिबोध है। क्या वजह है कि बड़ी विडम्बना, अनर्थ, आपत्ति, उपसर्ग, कष्ट सब कुछ आने पर सम्यग्दृष्टि धीर रहता है। उसका कारण यह है कि स्वरूप-भेदाभेद और कारण के विषय में सम्यग्दृष्टि को सच्चा बोध है, वैभव नष्ट हुआ तो हुआ, इष्ट वियोग हुआ तो हुआ, कुछ आपत्ति उपसर्ग आये तो आया, क्या है? ये सब बाह्य पदार्थ हैं और

इनका कारण यह ही है, इनकी बात इनमें ही उत्पन्न होती है, ये मुझसे अत्यन्त निराले हैं, मैं अपने स्वरूप में ही अभिन्न हूँ। यह सब प्रकाश इस सम्यग्दृष्टि के बना हुआ है, इस कारण उसको इस स्थिति में अधीरता नहीं रहती। मिथ्यादृष्टि को अधीरता हो जाती है। वह जो निरख रहा है उस पर्याय को, उस ही को सर्वस्व समझ रहा है और भेदाभेद का निर्णय नहीं है तो परपदार्थ से अपना हित मानता है, अपने आपके हितधाम का पता नहीं है, ऐसी स्थिति में रहने वाला मिथ्यादृष्टि भी यदि चौकी को चौकी ही जाने तो इससे उसे कोई शान्ति का आधार तो न मिल जायगा। पदार्थ के सम्बंध में स्वरूप-भेदाभेद और कारण का यथार्थ ज्ञान न हो तो भी शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। यह चौकी अनेक परमाणुओं का पुंज है, उन परमाणुओं के प्रतिसमय परिणमन होते हैं अतएव ये सब मुझसे अत्यंत निराले हैं। इनका मैं कर्ता नहीं, भोक्ता नहीं, इनसे मेरे में कुछ होता नहीं। ये जड़ हैं, मैं चेतन हूँ। यह सब प्रतीति भी तो पड़ी हुई है। इस कारण से सम्यग्दृष्टि का मतिज्ञान श्रुतज्ञान खोटा नहीं कहलाता है। जहाँ कुमति, कुश्रुत ज्ञान है वहाँ तो स्वानुभव का अवकाश ही नहीं है।

स्वानुभव का निर्देशन–स्वानुभव का अर्थ क्या है? स्व का अनुभव। अनुभव का अर्थ क्या है? परिज्ञान। वह परिज्ञान भी इस ढंग का कि जिस परिज्ञान से परिज्ञान का वास्तविक फल भी तुरन्त मिलता जाय। जिसे कहते हैं एक चित्त होकर एक उपयोग से मात्र ज्ञान में ही रहना। ऐसे परिज्ञान का नाम है अनुभव। और स्व का अर्थ है आत्मा, सही आत्मा। मिला नहीं, पर्यायरूप नहीं, किन्तु जो शुद्ध है, सहज है, शाश्वत है, ऐसे निज आत्मा के अनुभव को स्वानुभव कहते हैं। मुझमें सत्य क्या है? जो सत् हो उसे सत्य कहते है। मेरे सत् में, मेरे अस्तित्त्व में, मेरे ही कारण मेरे ही सत्त्व होने से जो कुछ हूँ वह मेरा तत्त्व है। वह क्या है? सहज ज्ञानस्वरूप चैतन्यभाव। एक ऐसा ज्ञानप्रकाश जो एक सामान्य है, उसका बोध होना है तो अति सुगम, मगर कठिन बना रखा है। कठिन बनने का कारण यह है कि अनादिकाल से मोहवासना के ऐसे संस्कार लगे हैं कि बाह्य की ओर दृष्टि है। जो पहिले जमाना था पुराण पुरूषों का, उस समय की स्थिति और आज की स्थिति में कितना अन्तर है? यह अन्तर भी मोह लगाव, अज्ञानवृद्धि के कारण हुआ है। पहिले समय में घर भी था, रहते थे, ज्यों ही उम्र अधिक हुई, घर छोड़ा, त्यागी हो गए, साधु हो गए और अपनी आत्म-साधना में लग गए। क्या उनका घर बिगड़ गया? उनके जो उत्तराधिकारी पुत्रादिक थे क्या उन्होनें सम्हाला नहीं? अरे ! ऐसी ऐसी स्थितियों के भी लोग कि स्त्री के गर्भ में बच्चा था, पहिला ही बच्चा था और विरक्त होकर चल दिए। उनको विश्वास था कि मैं दूसरे का करने वाला नहीं। दूसरे तो उतने ही पर हैं जैसे कि जगत के सभी जीव पर हैं। आज यहाँ रोना इसलिए पड़ता है कि बूढ़े भी हो गए, पर जिम्मेदारी और भी बढ़ा ली, लगाव-फँसाव और अधिक बढ़ गया, व्यवसाय भी और अधिक बढ़ाने की बात सोच रहे, तनिक भी फुरसत नहीं। चिंतायें बहुत, शोक बहुत और शरीर में शक्ति नहीं, दिमाग भी उतना चलता नहीं, लड़के लोग कुछ करें तो उनके करने में भी बाधा देते। अपने दिमाग से जो समझ में आया उस

तरह का वहाँ करना देखना चाहते हैं, ये सब विडम्बनायें बनाते हैं। और मोह तजा होता, कुछ अपने आप में आत्मबल बढ़ाया होता, घर-द्वार आदि सबको छोड़कर जाना तो होगा ही। यदि विवेक पूर्वक 10-5 वर्ष पहिले ये भी झगड़े छोड़कर अकेलेपन का आनन्द लिया होता तो ये सब बाधायें न होतीं। तो स्व का अनुभव करने के लिए पात्रता जगायें, उसके लिए क्या कर्तव्य है उस पर भी तो कुछ विचार करें। जैसे चलते आये, जैसी परिग्रह में वासना बनी है, तृष्णा-लालसा बनी है, उनमें किसी में अन्तर नहीं आया, धर्म का लाभ भी नहीं मिला। रोज शास्त्र पढ़ते रहे, शास्त्र सुनने मंदिर में भी आते हैं, उससे संतोष मत करो। स्व का अनुभव न जगे, ऐसी स्थिति न बने तब तक संतोष का काम ही नहीं। तो स्व का अनुभव जगने के लिए पात्रता आयगी, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि को कम करने से। तो करना क्या है? शाश्वत अथवा सदाकाल रहने वाला, सत्य अपने ही सत् में अपने ही सत्त्व के कारण रहने वाला जो एक चैतन्यभाव है उसका स्वरूप है कि रूप का प्रकाश रहे, उस रूप का ही ज्ञान रहे, वहाँ होगा क्या? किसी पर का ख्याल नहीं, किसी पर का उपयोग नहीं, किसी पर का अवकाश नहीं, ऐसे एक निज आनन्दधाम, कल्याणधाम, सत्य सहज ज्ञानस्वरूप का उपयोग रहे, अनुभवन रहे, उसे स्वानुभव कहते हैं।

स्वानुभव का भवन–स्वानुभव किस ज्ञान में आता है यह बात पीछे कही जायगी, किन्तु स्वानुभव का स्वरूप तो पहिले समझ लो। स्वानुभव का स्वरूप तो वस्तुतः अनुभव हुए बिना नहीं समझा जा सकता है। वचनों से स्वानुभव का ज्ञान नहीं किया जा सकता, क्योंकि वचन किसी विकल्प की ओर ले जाते हैं, किसी एक धर्म की ओर ले जाते हैं। उस वचनयोग के काल में कुछ अन्य प्रकार के योगश्रम चलते रहते हैं, पर स्वानुभव तो धीरे से, समता से, धैर्य से और जैसे कि मौका मिल रहा, उसकी गैल मिल रही, ज्ञानप्रकाश की ओर उपयोग चल रहा तो ऐसा चलने में और उसी तरह का साम्य भाव रखकर उसमें और आगे बढ़ना ये सब स्थितियाँ उस स्वानुभव की पात्रता लाती हैं। जहाँ केवल एक ज्ञानप्रकाश का ही अनुभव है, दूसरे पदार्थ का उपयोग नहीं उसे स्वानुभव कहते हैं। जिस जीव को सम्यग्दर्शन होता है वह सम्यग्दर्शन स्वानुभवपूर्वक ही होता है। जैसे बताया गया है कि सम्यक्त्व तो रहता है सागरों पर्यन्त, पर स्वानुभव होता है कभी-कभी अन्तर्मुहूर्त को। तो स्वानुभव व्याप्त है, सम्यक्त्व व्यापक है। सम्यक्त्व रहता है बहुत काल, स्वानुभव होता है कभी कभी। तो स्वानुभव हो रहा हो उस समय में भी सम्यक्त्व है, स्वानुभव है, उस समय में भी सम्यक्त्व है, लेकिन सम्यक्त्व का प्रथम समय स्वानुभव सहित ही होता है। वहाँ यह बात नहीं कि स्वानुभव न हो और सम्यग्दर्शन हो जाय। स्वानुभव होने के बाद जो सम्यक्त्व जगा, स्वानुभव में जो सम्यक्त्व जगा वह सम्यक्त्व रहेगा और स्वानुभव न रहे, मगर प्रथम बार में जब सम्यक्त्व होगा तो स्व की अनुभूति सहित ही होगा। क्या जाना सम्यक्त्व में? किसकी प्रतीति की? प्रतीति तो अनुभव के बाद होती है। आपने कभी देखा हो श्रवणबेलगोला की मूर्ति को तो आप अब भी प्रतीति कर रहे हैं, उसे आप यहाँ आँखों से देख नहीं रहे हैं, लेकिन प्रतीति बराबर बनी है, तो प्रतीति कब से बनी? जब से उस मूर्ति के दर्शन किये। तो मूर्ति के दर्शन के समय

साक्षात् देखा ना तो उस साक्षात् दर्शनपूर्वक प्रतीति बनी। प्रत्येक स्मृति भी बनती है तो अनुभूतिपूर्वक बनती है। किसी चीज को देखा, सुना, चखा तब उसकी स्मृति बनती है। तो सम्यक्त्व है प्रतीति और स्वानुभव है अनुभूति। एक बार अनुभूति हुए बिना उसकी प्रतीति नहीं हो सकती। तो स्वानुभव के लिए हमें कैसी पात्रता चाहिए? भेदविज्ञान का अभ्यास करें और बाह्य पदार्थों से लगाव रखने की वासना मिटावें, बाह्य पदार्थों से लगाव रखने से अपना कुछ भी हित न होगा।

विभाव का लगाव तोड़कर स्वभाव की रूचि की उपकारिता—दुनिया में देखो, सैकड़ों आये, चले गए। सब अपनी करामात दिखाकर चले गए। और, हम आप सब भी क्या करते हैं? करते हैं विकल्प और विकल्प मचाकर संक्लेश करते हैं, दु:खी होते हैं, जीवन दु:ख में बिताया, संक्लेश किया और आगे का जीवन भी दु:खमय हो इसकी रजिस्ट्री कर ली। तब फिर इस भव को छोड़कर चला गया। यही काम करते चले आये हैं, इसके अतिरिक्त और काम क्या है? नाम ले-लेकर बताते जाइये, वैभव देख-देखकर खुश होते हैं, लालच का रंग बड़ा गहरा बना रखा है। देखो- जब किसी अच्छे कार्य के लिए उपदेश दिया जाय तो सबसे अधिक लोभकषाय को भंग करने की बात कही जाती है। क्यों कही जाती है? लोभ का बहुत बड़ा रंग है। क्रोध तो प्राय: हरदम नहीं रहती, मौका आया तो क्रोध हो गया। मान भी हरदम नहीं रहता, मायाचार उससे थोड़ा और देर तक रहता है, लेकिन लोभ का रंग तो चौबीसों घंटे चिपका रहता है। घर में, मंदिर में या अन्य किसी भी स्थान में सर्वत्र लोभकषाय चलता रहती है, इसीलिए सम्भव है कि अगर लोभ-त्याग की बात कहें तो कुछ बात बुरी भी लगती हो, क्योंकि लोभ के रंग में जब रंग चढ़ा हुआ है तो उसके विपरीत बात करें सो बात खटकेगी, लेकिन कुछ भी आत्म-हित की यदि वांछा हो तो इस रंग को तो मिटाना ही पड़ेगा। मिटेगा, पर एक मिटने का ढंग मरकर होता है, और एक मिटने का ढंग ज्ञानपूर्वक, त्यागपूर्वक पहिले करने से होता है। अब लोभ किस ढंग में है उसका, निर्णय कर लीजिए। स्वानुभव की पात्रता जगाने के लिए सच्चे दिल से भेदविज्ञान का अभ्यास करें| जैसे कोई चीज बनाते हैं तो उसका प्रयोग भी करते जाते हैं। मान लो पेंसिल बनाते हैं चाकू से। जब उस पेंसिल की धार कुछ मोटी होती है तो उसे पत्थर आदिक पर रगड़कर उसकी धार को रगड़ते हैं, फिर पेंसिल चलाकर उसका प्रयोग करते हैं, यह देखने के लिए कि अभी ठीक हुई या नहीं। यदि ठीक नहीं हुई तो फिर उसे चाकू से छीलकर पत्थर पर रगड़ते हैं, फिर उसका प्रयोग करते हैं। तो उसका प्रयोग करते जाते हैं। यों ही समझिये कि हम अपने जीवन में प्रयोग करने का एक अपना स्वभाव बनायें। क्रोध न करना। प्रयोग रूप दें उसको। क्रोध का वातावरण आये और फिर क्रोध न जगे। अब क्रोध के वातावरण नहीं आते तो आप क्रोध का कोई वातावरण बना लें, दूसरे लोग नाराज हों या कुछ भी हो, और अपने न लगे, इसकी अपनी परीक्षा कर लीजिए। यों ही किया करो। मान का बुरा वातावरण देखिये। लोभ मेरा दूर हुआ है इसकी परीक्षा करिये। त्याग कीजिए, सब कुछ छोड़कर जाइये। अथवा जिनको यही समझा कि ये मेरे हैं उनको अगर कोई कष्ट हो, उनके लिए खर्च कर डालो। ये लोभ-त्याग की परीक्षायें हैं। आपको उससे यह परिचय मिलेगा कि

मेरे लोभ का रंग कम हुआ कि नहीं। कुछ कीजिए तो सही। छूटना तो है ही, मगर कुछ करें और इस दुर्लभ नरजन्म का लाभ उठा लें तो यह बड़ी अच्छी बात है| ।

दुर्लभ नररत्न के सदुपयोग की ओर दृष्टि–अहो, संसार में रुलते-रुलते कितना काल व्यतीत हो गया? जिसे कहेंगे अनन्तकाल। कितने ही जन्ममरण किए। उस जन्ममरण की परम्परा में पड़े हुए आज बड़ी मुश्किल से यह नरजन्म पाया है। कोई पूर्वभव में बहुत अच्छा पुण्यकर्म में किया होगा जिससे आज यह दुर्लभ मानवजीवन पाया है। मनुष्य होकर यदि कुछ धर्म की ओर आयें, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोहादिक को कम करके आगे चलें तब तो मैंने लाभ पाया और यदि ऐसा न किया तो जैसे अनन्त जन्ममरण किए वैसे ही यह मानवजीवन भी गया। इस मानवजीवन का सदुपयोग है स्वानुभव का वातावरण बनाना। कैसे स्व का अनुभव जगे? तीन लोक तीन काल के संसारी जीवों का सारा सुख मिलाओ वह भी स्वानुभव के आनन्द के बराबर नहीं। उसकी तो कोई तुलना ही नहीं। आखिर आनन्द ही तो चाहिए। जिस विधि से मिले, जो आनन्द स्वाधीन हो, निर्विघ्न हो उस आनन्द को पावें। वह आनन्द मिलेगा स्व के अनुभव में। यह मैं केवल शुद्ध ज्ञानमात्र हूँ। शुद्ध के मायने केवल जाननमात्र हूँ, जिसमें रागद्वेष, मोह, विकल्प, विचार, वितर्क कुछ नहीं बसे हैं। केवल जानन क्या? केवल प्रकाश। जैसे नीला लट्टू लगा दिया तो प्रकाश नीला हो गया। अरे ! इसमें जो नीलापन है वह विकार है, और जो शुद्ध प्रकाश है वह खुद प्रकाश है। अब हम उस नीले प्रकाश में इस भेद का रहस्य पाने में असमर्थ हैं। नीलत्व है विकार और प्रकाशत्व है एक शुद्ध चीज, यह भेद आप आँखों से न परख सकेंगे, ज्ञान से ही परख सकेंगे। कोई सफेद लट्टू लगा दिया तो सफेद, जिस पर कुछ रंग जैसा ही सफेद रहता है। प्रकाश बहुत सफेद हो गया तो वहाँ जो सफेदी है वह है विकार और जो प्रकाश है वह है बिजली की निजी चीज। तो ऐसे ही हमारे ज्ञान में जितने ज्ञान चल रहे हैं उन ज्ञानों में विकार कितना पड़ा हुआ है, और शुद्ध ज्ञान क्या है? उस शुद्ध ज्ञान की ओर दृष्टि नहीं। उसका जो बोध है वह एक सहज शुद्ध बोध है। उसका परिचय नहीं पाया चीज में। भोजन का, धन-वैभव का, स्त्री पुत्रादिक परिजनों का, इज्जत आदिक का तो बहुत-बहुत परिचय बनाया जो कि देखे हुए स्वप्न की तरह नि:सार, एक बरबादी के ही कारण हैं, लेकिन अपने आप में नित्य अन्त:प्रकाशवान जो एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप है उसको नहीं जान पाया, क्योंकि इसने कषायों के लगाव से उस प्रकाश को दबा दिया। वह इसके उपयोग में नहीं आ पाता। तो ऐसे सत्य सहज ज्ञानस्वभाव का अनुभव करने को स्वानुभव कहते हैं।

स्वानुभव के आनन्द की वचनागोचरता–स्वानुभव के समय क्या होता है, इस बात का वर्णन नहीं किया जा सकता है। यों तो वर्णन किसी भी प्रत्यक्ष में जाने हुए पदार्थ का नहीं हो पाता। यह भी तो प्रत्यक्ष है स्वानुभव। मानो मिश्री खाई तो उसमें कितना मिठास है, इसको काई वचनों से बतायें तो बता न सकेगा कि कैसी मिठास है? हाँ, वह अनुमान बनायेगा कि गन्ने से भी मीठा, गुड़ से भी मीठा, शक्कर से भी मीठा इस मिश्री का मिठास है, क्योंकि जितना-जितना उसके

विकार हटते रहते हैं उतना उतना ही उसका मिठास बढ़ता रहता है। यों अनुमान करके अपेक्षा लगाकर उसके आनन्द की बात तो कोई बता देगा लेकिन वास्तविक अनुभव नहीं हो सकता कि मिश्री में मिठास कैसा है? उसका उपाय तो मिश्री की एक डली मुख में रखकर समझ लेना है। यों ही स्वानुभव की बात को अनुमान से भले ही बता दिया जाय। वह स्वानुभव क्या है? समस्त इन्द्र, तीनों लोक के पुण्यशाली जीव उन सबका सांसारिक सुख मिला लिया, और इतने ही नहीं, जितने भी सांसारिक सुख भविष्य में होते रहेंगे उन सबको मिला लो, तिस पर भी उस सुख से अधिक आनन्द है स्वानुभव में। पर इन बातों से उस अनुभव की बात समझ में नहीं आती। उसका उपाय तो यही है कि खुद की तैयारी की जाय। क्रोध, मान, माया, लोभ, मोहादिक से उपेक्षा कीजिये, इनका लगाव तोड़िये और इनका लगाव तोड़कर एक स्व के प्रकाश के मैदान में आ जाइये, बाहर के ख्याल छोड़ दीजिए। मानो मैं इस मनुष्यभव में हूँ ही नहीं, न था, न होऊँगा, कुछ भी विचार न लाकर एक गुप्त ही गुप्त इस मनुष्यभव में पाये हुए समागमों से लाभ लूट लीजिए। इस स्व का अनुभव अपने आपकी तैयारी बिना नहीं हो सकता। अब इससे यह परख होगी कि ज्ञान और चारित्र का कितना निकट सम्बंध है? तैयारी करना, यह चारित्र का ही तो एक रूप है। बाह्य विकल्प हटाना, कषायों को दूर करना, अपने उपयोग को केन्द्र में लाना यह संयम का रूप है। ये सब अंतरंग की बातें हैं। तो अंतरंग की इस क्रिया द्वारा, उसके उपयोग द्वारा हम स्व का अनुभव कर पाने में समर्थ हैं, तो यों समझियें कि जैसे मिश्री का स्वाद केवल बातों से नहीं मिलता, वह तो खाने से मिलता है ऐसे ही स्व का अनुभव भी बाह्य ज्ञानों से नहीं मिलता, किन्तु अंत:क्रिया के प्रयोग द्वारा मिलता है। अब ऐसे ही स्वानुभव की बात कहेंगे कि स्वानुभव नामक ज्ञान-परिणमन किस ज्ञान में शामिल होता है, मतिज्ञान में, श्रुतज्ञान में, अथवा अवधि आदिक ज्ञानों में।

स्वानुभव की दशा में चूँकि कोई विकल्प नहीं है तो वहाँ मन का आश्रय नहीं रहता, ऐसा ध्यान में रहता है। यद्यपि उस स्वानुभव की स्थिति में आने से पहिले जो भिन्न था वह मन से उत्पन्न हुआ था। ऐसा न हो सकेगा कि उससे पहिले का प्रथम कोई विशिष्ट मानसिक विकल्प न हो और स्वानुभूति हो अब तो इस दृष्टि से चूँकि वह ज्ञान एक मन से उत्पन्न हुआ था जो ही ज्ञान अब मन का आश्रय छोड़कर स्व के अनुभव में आया है, इस दृष्टि से उसे मन से उत्पन्न हुआ ज्ञान कह सकते हैं, पर परमार्थत: जिस काल में सहज शुद्ध शाश्वत ज्ञानस्वरूप का अनुभव हो रहा है, उस काल उसे मन से उत्पन्न हुआ नहीं कह सकते, क्योंकि मन तो विकल्प का ही उत्पादक है। विकल्परहित अवस्था का उत्पादक मन नहीं हैं ऐसी स्थिति में चूँकि निर्विकल्पता का साधर्म पाया जा रहा है तब मति और श्रुत इन दो ज्ञानों में से किस ज्ञान की निकटता है और किस ज्ञान की धारा है? इस पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि वह मतिज्ञान की धारा है। स्वानुभव के लिए जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह केवल उत्पत्ति में उसमें मन निमित्त है, किन्तु उत्पन्न होने के बाद वही ज्ञान अतीन्द्रिय चैतन्यस्वभाव के अनुभव रूप होता है। तो उस ही ज्ञान को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते है।

अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष। स्वानुभव तो स्वयं अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है लेकिन उसके पूर्ववर्ती ज्ञान अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष है। इसका ज्ञान मतिज्ञान में किया जा सकता है। यद्यपि स्वानुभव उत्पन्न होने के लिए श्रुतज्ञान और मतिज्ञान दोनों पूर्वापर साधक होते हैं। श्रुतज्ञान से वस्तुस्वरूप जो जाना उस ही चिन्तन की धारा में विकल्परहित होकर स्वानुभव होता है। मतिज्ञान से जो जाना उस ही धारा में निर्विकल्प होकर यह स्वानुभव होता है फिर भी चूँकि श्रुतज्ञान सविकल्प ज्ञान है। श्रुतज्ञान में विशेष विकल्प नहीं हैं। ऐसे ही शेष चार ज्ञानों में भी नहीं हैं। तो निर्विकल्पता प्राप्त होने से एकदम पहिले शेष मतिज्ञान का रूप आता है और उसके ही अनन्तर यह स्वानुभव की स्थिति उत्पन्न होती है। स्वानुभव है अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष। यह चीज चल रही है प्रमाण के संबन्ध में। वस्तु के स्वरूप को जानने का उपाय हैं लक्षण, प्रमाण, नय और निक्षेप। उसमें से प्रमाण की बात चल रही है। प्रमाण 5 प्रकार के कहे गये हैं- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। हम आपको यहाँ मतिज्ञान है। तो मतिज्ञान के क्या क्या प्रकार हैं, इसका वर्णन किया है। पर एक यह विशिष्ट प्रकार है स्वानुभव का, जिसमें इन मतिज्ञान, श्रुतज्ञान की बात कहकर भी मतिज्ञान, श्रुतज्ञान से निराला इसका रूप है और स्वानुभव एक ऐसा प्रबल प्रमाण है कि अन्य प्रमाणों में किसी अपेक्षा किसी समय कुछ कभी कमी भी आ सकती है, पर स्वानुभव की प्रमाणता में कभी भी कमी नहीं आ सकती। कहते भी हैं लोग कि यह तो अपने हृदय से माना गया है। यह तो एक अनुभूत बात है। देखी बात गलत हो जाय, सुनी बात गलत हो जाय, पर हृदय में उतरी हुई अनुभव की बात गलत नहीं हो पाती। पर होना चाहिए वह अनुभूति। ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलेंगे कि सुनी हुई बहुत सी बातें गलत भी हो जाती हैं, एक ने दूसरे को सुनाया, तीसरे ने चौथे को और शब्दों में सुनाया। जो मूल बात है उससे कहो उल्टी ही बात सुनने में आ जाय। तो कानों सुनी बात प्रमाणभूत नहीं होती, अथवा आँखों देखी बात भी प्रमाणभूत नहीं होती। इसके भी अनेको दृष्टान्त मिलेंगे कि दिखने में कुछ आया है और वहाँ परिणाम और घटना है और कुछ, पर अपने अनुभव में उतरी हुई बात पूर्णतया प्रमाण होती है। उसे अब कोई भी भ्रम में नहीं डाल सकता। यों वस्तु के स्वरूप को जानने का उपाय प्रमाण है, इस विषय का वर्णन हुआ।

वस्तु-परिचय के उपायों में नयनामक उपाय–अब वस्तु के स्वरूप का परिचय कराने वाला तीसरा उपाय है नय। नयों का विशेष विवरण जैनदर्शन में ही पाया जाता है। कारण यह है कि जैनदर्शन अनेकान्तात्मक वस्तु की प्रसिद्धि करता है। मायने कोई लोग कहते हैं कि जो वस्तु है वह कभी परिणमती नहीं, ध्रुव है, नित्य है, लेकिन यहाँ दिखने में तो यह नहीं आ रहा। जो भी पदार्थ है वह प्रतिसमय परिणमता रहता है। उसमें परिणमन पाया जाता है। परिणमें बिना वस्तु रह ही नहीं सकती। उसका अस्तित्व भी नहीं रह सकता। क्या है वह वस्तु? उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक वस्तु का स्वरूप है, और कोई माने की वस्तु तो एक समय में होती है, दूसरे समय में नष्ट हो जाती है तो ऐसी वस्तु फिर है क्या? कहीं असत् से सत् बनता है? और जो सत् है वह किस रूप में नष्ट होगा, कैसे समूल नष्ट होगा? तो वस्तु का ध्रौव्य भी स्वरूप है। तो वस्तु में ये अनेक स्वरूप पाये

जाते हैं उनका वर्णन जैनशासन में है। तब उनको समझाने के लिए नयप्रक्रिया चाहिए। किसी अपेक्षा से कहीं हुई बात किसी अन्य अपेक्षा से मान ले तो वस्तु का स्वरूप सही न हो सकता। जिस अपेक्षा से जो धर्म है उस अपेक्षा से उस धर्म को बतावे तभी तो वस्तु की बात सही बनेगी। उसी को प्रसिद्ध करने वाला नय है। नय केवल एक धर्म को ग्रहण करता है अन्य धर्मों का निषेध करता है ऐसी बात नहीं है। यदि नय अन्य धर्मों का निषेध करते हुए अपने धर्म का प्रतिपादन करता है तो वह नय नहीं, किन्तु एकान्त है, कुनय है।

नय तो प्रमाण से ग्रहण किए हुए पदार्थ का अभिप्रायवश प्रयोजनवश उसमें से एक देश जानता है अथवा जो बताता है उसे नय कहते हैं। इसे यदि सीधे शब्दों में कहें तो जानने वाले के अभिप्राय को नय कहते हैं। इन दोनों लक्षणों में अन्तर कुछ नहीं है, पर एक कहने का ढंग है। और, जो लक्षण कहा था उसके प्रमाण से जाने हुए पदार्थ में प्रयोजनवश, अभिप्रायवश एक देश धर्म को ग्रहण करना सो नय है। तो वहाँ नय के विषयभूत पदार्थ का वर्णन किया। वह पदार्थ की ओर से कथन है। और दूसरा जो लक्षण कहा तो उस पदार्थ के सम्बंध में जो ज्ञान हुआ उस ज्ञान की ओर से कथन है। बात तो दोनों ही बोली गई- पदार्थ और ज्ञान। जब ज्ञान रहे है तो उसका सम्बन्ध, उसका विषय, उसका प्रसंग पदार्थ से भी है, नय से भी है। तो पदार्थ की ओर से कहने पर नय का लक्षण यह बना कि प्रमाण से ग्रहण किए गए पदार्थ में भी अभिप्रायवश एकदेश धर्म का ग्रहण करना सो नय है और जब ज्ञाता के ज्ञान की ओर से बात कही गई तो कहे गए ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं। नय ऐसे अभिप्राय कई प्रकार के हो सकते हैं जिन्हें किसी संख्या में नहीं बाँधा जा सकता। लेकिन जाति अपेक्षा से उन अभिप्रायों की संख्या नहीं बनाई गई है, तो वे जातियाँ भी अनेक ढंगों से बनी। जैसे मनुष्यों की वर्ण की अपेक्षा से चार जातियाँ हैं- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र। धर्म की अपेक्षा, सिद्धांत की अपेक्षा इनकी 5-7 जातियाँ है। नैयायिक, मीमांसक, सांख्य, जैन, बौद्ध, चार्वाक आदिक। आखिर इनमें से किसी न किसी सिद्धांत के अनुयायी तो सभी लोग हैं, चाहे वे इस बात को समझ पाये हों या नहीं। देश की अपेक्षा से भी कई जातियाँ है, भाषा की अपेक्षा अन्य प्रकार की जातियाँ हैं। तो इसी तरह नयों की भी भिन्न-भिन्न ढंग से अनेक जातियाँ बनती हैं।

नयों के सैद्धान्तिक मूल व उत्तर प्रकार–नयों की अनेक जातियों में से एक सैद्धान्तिक विधि से इनकी जातियाँ कहें तो 7 होती हैं- नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढ़नय और एवंभूतनय। और इनका मूल उत्पादक है द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनय। देखिये- सब नयों का अपना-अपना अलग-अलग प्रभाव है। द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय, एक ऐसा विस्तृत रूप है कि जितने प्रकार की नय की जातियाँ बताई गई हैं सबमें इनका उपयोग है। द्रव्यार्थिकनय अभेद और सामान्य को ग्रहण करता है। पर्यायार्थिक नय भेद और विशेष को ग्रहण करता है। हम आप जो कुछ भी शब्द कहेंगे वे या तो सामान्य रूप से होंगे या विशेष रूप से होंगे। इसका उल्लंघन करके हम आपका ज्ञान नहीं बनता है। तो जो सामान्य और अभेद का

विषय करे वह है द्रव्यार्थिकनय और जो विशेष और भेद का ग्रहण करे वह है पर्यायार्थिकनय। इन 7 नयों में द्रव्यार्थिकनय हैं तीन- नैगमनय, संग्रहनय और व्यवहारनय और पर्यायार्थिकनय हैं चार- ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढ़नय और एवंभूतनय। इनका लक्षण बतायेंगे, और इनका जानना बहुत आवश्यक है। जो कुछ कठिन बात जँचती है उसके जानने के लिए लोग उत्सुक नहीं होते और कायर बन जाते हैं और उसके समझने में अपना उपयोग भी नहीं लगाते, लेकिन जैनशासन का सारा रहस्य तो नयपरिज्ञान पर निर्भर है। यदि नयों का वास्तविक परिज्ञान नहीं है तो वे वस्तुस्वरूप के विवरण में बढ़ ही नहीं सकते। बढ़ना तो क्या ज्ञान में आ ही नहीं सकते। इसलिए नयों का परिज्ञान कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। अगर उस ओर अपना उपयोग लगाया और समझना चाहा कि समझें तो सही कि वास्तविकता क्या है, तो सब ज्ञान में आ सकता है। इन नयों का लक्षण जब बतायेंगे तब बहुत स्पष्ट समझ में आयेगा कि अभी तो जातियों की छाँट कर रहे हैं कि नयों की जातियाँ कितनी तरह से कायम की जायें? जैसे यहाँ मनुष्यों की जातियाँ देश, धर्म, मजहब, भाषा वर्ण आदिक से अनेक प्रकार छाँट दी जाती हैं इसी प्रकार नयों की जातियाँ भी कितनी प्रकार से हो सकती हैं। यह छँटनी की जा रही है।

बुद्धिनय, शब्दनय और अर्थनय की पद्धति–देखिये- एक पद्धति होती है बुद्धि शब्दार्थ पद्धति। जानेंगे तो एक तो जानना हुआ और उस जानने में जो शब्द अन्तर में डाला जायेगा या स्पष्टरूप से बोला जायेगा वह हुआ शब्द और एक जाना गया किसी पदार्थ को तो जानने के प्रसंग में हम आपको तीन से सम्बंध रहता हैं- बुद्धि, शब्द और ज्ञान से। बल्कि देखो तो लोक व्यवहार का भी समस्त परिचय इन तीन से सम्बन्धित हैं- बुद्धि, शब्द और अर्थ। जैसे कहा घर, तो बतलाओ घर मायने क्या है? वह घर तीन बातों से सम्बंध रखता है। बुद्धिघर, शब्दघर और अर्थघर। अर्थघर तो वह है जो ईटों से उठा हुआ जैसा का तैसा खड़ा हुआ है। और घर ऐसे दो अक्षर बोले जायें अथवा कागज पर लिख दिए जायें तो वह हुआ शब्दघर। लेकिन उस घर के सम्बन्ध में जो कुछ परिचय किया जाय वह हुआ बुद्धिघर। तो आप यहाँ यह बतायें कि आप किस घर से प्रेम करते हैं? क्या अर्थघर से प्रेम करते हैं? अर्थघर तो अत्यंत भिन्न चीज है, और प्रेम आपका चारित्रगुण का उपयोग है। वह राग पर्याय है। तो प्रेमपर्याय आत्मा का आत्मा में ही रह सकेगा परपदार्थ में न पहुँचेगा। तो अर्थघर से कोई प्रेम कर नहीं सकता। करना चाहे तो भी कर नहीं सकते क्योंकि वस्तुस्वरूप का कभी भी उल्लंघन नहीं होता। तो अर्थघर से तो कोई प्रेम कर ही नहीं सकता। शब्दघर से भी कौन प्रेम करे? केवल घ और र इन अक्षरों से किसे प्रीति है? खैर, अब रहा बुद्धिघर। बुद्धिघर के मायने ज्ञान में, विकल्प में जो कुछ बात समाई हुई है, वस्तुत: इस बुद्धिघर से ही लोग प्रीति करते है। अपने आपके विकल्पों में ही राग उत्पन्न होता है पर वस्तु में हम आपकी परिणति नहीं पहुँचती। तो हर बात में, हर एक परिचय में इन 3 बातों का सम्बंध है। बुद्धि, शब्द और अर्थ। इस दृष्टि से नय के तीन भेद है- ज्ञाननय, शब्दनय और अर्थनय। बुद्धि में

जो बात आये उसका नाम है ज्ञाननय, शब्द में जो बात दिखाये उसका नाम है शब्दनय और जिस अर्थ का प्रकाश हुआ है वह है अर्थनय।

नयों के मुख्य सैद्धान्तिक प्रकार–अन्य प्रकार से भी नयों की जातियाँ बना करती हैं। लेकिन इसे विस्तार में न बढ़ाकर अब मूल बात पर आयें। हम आपके जितने भी परिचय चलते हैं वे सब परिचय भेद और अभेद के आधार पर चलते हैं। जहाँ अभेद दृष्टि में है और जो ज्ञान किया जा रहा है वह तो है द्रव्यार्थिकनय और जहाँ भेद अभिप्राय में है और फिर जो ज्ञान किया जा रहा है वह है पर्यायार्थिकनय। इसको शब्दों की ओर से कहा जाय तो द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है उसे कहते हैं द्रव्यार्थिकनय और पर्याय ही जिसका प्रयोजन है उसे कहते हैं पर्यायार्थिकनय। जैसे- जाना घी, यह द्रव्यार्थिकनय की बात है और जाना मनुष्य, देव, नारकी, तिर्यंच तो यह पर्यायार्थिकनय की बात है। अब इनके भेद जो 7 कहे गए थे उन 7 भेदों को क्रम से परखिये और ये 7 जिस क्रम से कहे गए हैं यह अंदाज करते जाइये कि पहिले नय में जो कुछ कहा उस उसमें भी और अंश करके संग्रहनय में कहा। संग्रहनय में जो कुछ कहा उसके भी कुछ और अंश करके व्यवहारनय में कहा। इस तरह उत्तरोत्तर अंश हो होकर, भेद डाल-डालकर इनका वर्णन चलेगा। इस पद्धति से इन नयों का स्वरूप जानेंगे तो यह स्वरूप बहुत सुगमता से समझ में आयगा।

नैगमनय–पहिले कहते हैं नैगमनय। नैगमनय का अर्थ है कि कोई भेद न करके द्रव्य-पर्याय, भेद-अभेद, सत् असत् सबका ज्ञान हो एक रूप में तो वह नैगमनय है, सबसे बड़ा नय है। इसके विस्तार वाला कोई नहीं है। यद्यपि समझ में ऐसा आता कि संग्रहनय सबसे बड़ा है क्योंकि वह सबका संग्रह करता है। जो जीव हैं सबका संग्रह होगा। संग्रहनय बना लेकिन नैगमनय संग्रहनय से भी बड़ा है। सत् कह दिया तो जितने भी पदार्थ सत् हैं उन सबका ग्रहण हो गया लेकिन नैगमनय इससे भी बड़ा है। क्या वे सत् और असत् दोनों को समझते हैं? इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण देते हैं कि जैसे कोई रसोईघर में लकडियाँ ही धर रहा है, अथवा कोयला ही जला रहा है। उससे कोई पूछता है कि भाई ! क्या कर रहे हो? तो वह कहता है कि चावल पका रहे हैं। तो अब देखिये कि असत् और सत् दोनों ज्ञान में आ गए। जो कर रहा है वह तो ज्ञान में है ही और जो नहीं कर रहा वह भी उसके ज्ञान में है। तो संग्रहनय ने केवल सत् को ग्रहण किया किन्तु नैगमनय ने सत् और असत् दोनों को ग्रहण किया। तो नैगमनय का विषय सबसे बड़ा है। कोई पुरुष एक पाषाण लाया, मानों उसमें कोई प्रतिमा बनानी थी। कोई पूछता है कि भाई ! क्या लायें? तो वह कहता है कि अजी ! मैं बाहुबली की प्रतिमा लाया हूँ। प्रतिमा कहाँ है? वह तो अभी बनानी है। लेकिन जिस पाषाण को लाया है उसमें उसने यह संकल्प किया है कि इसमें बाहुबली स्वामी की मूर्ति बनेगी तो बाहुबली की मूर्ति असत् है और पाषाण सत् है लेकिन उस पाषाण को बाहुबली की मूर्ति कह देना यह सत् और असत् दोनों में शामिल कर दिया, तो संग्रहनय ज्यादह से ज्यादह सत् को ही विषय करता है लेकिन नैगमनय ने सत् और असत् दोनों को विषय किया। इस कारण नैगमनय का लक्षण यों कहा करते हैं कि संकल्प में होने वाले ज्ञान को नैगमनय कहते

हैं। चूँकि पाषाण लाने वाले के संकल्प में यह ज्ञान आया कि यह मूर्ति है तो वह ज्ञान नैगमनय बन गया। अब इन वाक्यों के बोध से आप यह परखते जायेंगे कि हम कौनसा ज्ञान किस नय से करते हैं? और इसे कोई कहे कि तुम बड़ा झूठ बोलते, लाये तो पत्थर हो और कहते हो कि हम मूर्ति लायें हैं तो उसका उत्तर दिया जा सकता है कि नैगमनय की दृष्टि से हम सत्य कह रहे हैं और आपको नय का परिज्ञान नहीं है तो आप उसके दबाव को सह लेंगे, हाँ भाई मालूम हो गया। और जिसे नय का परिचय है वह स्पष्ट बोल देगा कि हम गलत नहीं बोल रहे हैं, यह नैगमनय की दृष्टि से सही है। तो नैगमनय द्रव्य-पर्याय, सत् असत्-भेद-अभेद दोनों को विषय करता है, इसलिए सब नयों से इसका विषय महान है।

नैगमनय के प्रकार–नैगमनय के तीन भेद हैं--भूत नैगमनय, भावी नैगमनय और वर्तमान नैगमनय। भूतकाल की बात को इससमय के सम्बंध से कहना भूत नैगमनय है। जैसे किसी ने कहा आज दीवाली के दिन महावीर स्वामी मोक्ष गए। अब महावीर स्वामी तो मोक्ष गए थे करीब ढाई हजार वर्ष पहिले, मगर दीवाली की सदृशता से आज दीवाली के दिन उस घटना का प्रयोग करना भूत नैगमनय है। भावी नैगमनय- भावी काल में जो अवस्था होने को हो उसे वर्तमान में जोड़ना। जैसे, अरहंत सिद्ध भगवान ही हैं। जो आज अरहंत हैं वे सिद्ध अवश्य होंगे। तो सिद्ध भगवान का अरहंत भगवान की अवस्था में ही कहना सो भावी नैगमनय है। वर्तमान नैगम- वर्तमान की ही बात को वर्तमान में कहना, अरहंत भगवान को वर्तमान अवस्था में सिद्ध भगवान् कहना। केवल वर्तमान में थोड़े ही समय का पर्याय का अन्तर है। जैसे कहा कि भात पकता है तो जब पक रहा है तब तो भात है नहीं, भात तो पकी हुई अवस्था का नाम है, लेकिन उसके सिलसिले में अभी कुछ देर में ही तो उसकी पक्व अवस्था होने को है तो उसका यहाँ भेद है। इन तीन नैगमों में यह बात विचारने की है कि उसमें सत् और असत् का समन्वय किया गया है। पहिले की दीवाली आज तो नहीं है, आज की दीवाली आज है तो इसमें सत् असत् का समन्वय है। अरहंत भगवान भी सिद्ध नहीं हैं पर कह दिया गया कि अरहंत ही सिद्ध है, तो सत् और असत् का यह समन्वय हुआ। जैसे भात पकता है यह कहा गया तो भात पक चुके उसका नाम है भात। वह भात तो अभी है नहीं, इसलिये असत् है, लेकिन यहाँ सत् और असत् का समन्वय किया गया है।

संग्रहनय का वर्णन–अब संग्रहनय की बात बतलाते हैं। जो सत् का, द्रव्य का, अभेद का ग्रहण करे उसे संग्रहनय कहते हैं। नैगमनय सत् असत्, भेद अभेद, द्रव्य पर्याय का समन्वय किया था एक संकल्प में, लेकिन उसमें भी छँटनी करके असत् भेद और पर्याय को छोड़ दिया। जो सत् अभेद और द्रव्य का ग्रहण करे उसे संग्रहनय कहते हैं। संग्रहनय में स्थूलरूप से यह बात समझ लेना है कि यह बहुत का संग्रह करता है। संग्रहनय के दो भेद हैं- परसंग्रहनय और अपरसंग्रहनय। जो ऐसा संग्रह हो, सर्वस्व हो, जिसका और आगे संग्रह न हो, सम्पूर्ण का संग्रहरूप ज्ञान हो वह परसंग्रहनय है। और परसंग्रहनय से जो ग्रहण किया था उसे व्यवहारनय से भेद कर दें तो उन

भेदों में से किसी एक भेद को कहा, जिसमें उसके प्रभेदों का संग्रह किया जाय, इस तरह से संग्रह जानने को अपरसंग्रह नय कहते हैं। जैसे सत् कहा तो यह परसंग्रह का उदाहरण है। सत् में सम्पूर्ण विश्व आ गया। अब सत् के व्यवहारनय से भेद किया। सत् 6 प्रकार के हैं- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। अब व्यवहारनय से भेद होने के बाद उनमें से एक पदार्थ का ग्रहण कर लिया जावे और उस जीव का संग्रह बनावें, मायने कितने प्रकार के जीव हैं, संसारी मुक्त सभी जीवों का संग्रह हो जाय, इस तरह संग्रह की बात करने को अपरसंग्रह कहते हैं। नयों का जब वर्णन किया जाता है तो वर्णन करने वाला किस दृष्टि से, क्या वर्णन कर रहा है, इसका परिचय पाना आवश्यक है? उसी के लिए नयों का लक्षण कहा जा रहा है।

व्यवहारनय का वर्णन–तीसरा नय है व्यवहारनय। संग्रहनय से ग्रहण किये गए पदार्थ को भेद रूप से जानने वाले ज्ञान को व्यहारनय कहते हैं। जैसे द्रव्य कहा था तो वह तो संग्रहनय का विषय है, क्योंकि उसमें सभी द्रव्यों की बात आ गई। अब उस द्रव्य में से भेद करना कि ये 6 द्रव्य हैं- जीव, पुद्गल आदिक तो यह व्यहारनय का विषय है। इस व्यवहारनय में और अपरसंग्रहनय में यह फर्क है कि अपरसंग्रह तो संग्रह की दृष्टि रखकर बोलते हैं और व्यवहारनय भेद करके भेदों को बोलते हैं। अब संग्रहनय की तरह व्यवहारनय के भी दो भेद हैं- एक परसंग्रहभेदक व्यवहारनय और दूसरा- अपरसंग्रहकभेदक व्यवहारनय। परसंग्रह में जिस एक विशाल संग्रह को किया था उसमें भी भेद डाल दिया तो वह परसंग्रहभेदक व्यवहार है। जैसे द्रव्य के 6 भेद हैं- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। तो यह हुआ परसंग्रहभेदक व्यवहारनय। अब इनमें से एक जीव का ग्रहण किया और उसके भेद बताये कि जीव दो प्रकार के हैं- संसारी और मुक्त। तो यह हुआ अपरसंग्रहभेदक व्यवहार।

ऋजुसूत्रनय का वर्णन–चौथे नय का नाम है ऋजुसूत्रनय। वर्तमानपर्याय को ग्रहण करने वाले नय का नाम है ऋजुसूत्रनय। ऋजु नाम है सरल का। सरल होता है वर्तमान। वर्तमान को जो ग्रहण करे वह ऋजुसूत्रनय है। इन सबका वर्णन सुनते समय यह भी दृष्टि चलती जाय की पूर्वनय से इस नय का अंश करके एक अंश को जाना। जिस नैगमनय में सत् असत् का समन्वय किया था वह सबसे बड़ा विस्तार का विषय है। अब संग्रहनय ने सत् असत् को छोड़कर सत् को ही ग्रहण किया। तो नैगमनय से संग्रहनय सूक्ष्म विषय है। अब उस संग्रह में से भेद करें तो व्यवहारनय है। तो संग्रहनय से इसका विषय सूक्ष्म हुआ। अब व्यवहारनय से तो भेद करके उसे अभेदरूप से ही जाना गया था। अब उस समस्त में से एक पर्याय मात्र का ही ग्रहण करे सो ऋजुसूत्रनय है। व्यवहारनय में पर्यायदृष्टि न थी, द्रव्य पर्याय सबका ही समन्वय था। एक दृष्टि यह थी कि संग्रहनय से ग्रहण किए गए को अभेद करना। अब ऋजुसूत्रनय में एक पर्याय को ही ग्रहण किया गया। अत: ऋजुसूत्रनय व्यवहारनय से सूक्ष्म विषय है। ऋजुसूत्रनय इसी कारण पर्यायार्थिकनय कहलाता है। इसने पर्याय का विषय किया। इससे पहिले जो तीन नय थे- नैगम, संग्रह और व्यवहार, वे द्रव्यार्थिकनय कहलाते थे। पर्याय का भेद न करके सामान्यतया वस्तु का ही ग्रहण

करता था। और अब ऋजुसूत्रनय से आगे जितने भी नय आयेंगे वे अब पर्यायार्थिकनय होते हैं। ऋजुसूत्रनय के कितने भेद हैं? दो भेद हैं- स्थूल और सूक्ष्म। ऋजुसूत्रनय पर्याय को ही ग्रहण करता है, अगर इस तरह से पर्याय को ग्रहण करे, जो अनेक समय रहता है, अगर उस सदृश आकार के कारण जब तक रहे तब तक उसका वर्तमानरूप कहते हैं। याने जो व्यंजनपर्याय को ग्रहण करे अथवा साधारणतया एक परिणमन को ग्रहण करे उसे स्थूल ऋजुसूत्रनय कहते है। जैसे नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव। मनुष्य रहते हैं 100 वर्ष, देव रहते हैं हजार वर्ष। यह सब एक वर्तमान पर्याय है ऐसे स्थूलतया वर्तमान पर्याय को जानने वाला नय स्थूल ऋजुसूत्रनय कहलाता है। सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय वर्तमान समयमात्र गुणपर्याय को ग्रहण करता है। व्यंजनपर्याय वर्तमान समयमात्र से ग्रहण में नहीं आता, वह तो एक आकार है, अनेक समय रहे। पर गुणपर्याय एक समय की होती इसलिए सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय में गुणपर्याय का ग्रहण होता है। जैसे एक समय की रागपरिणति को अथवा एक समय की ज्ञानपरिणति को जानें। यहाँ एक बात विशेषतया समझना है कि एक समय की रागपरिणति होती तो है मगर उससे राग-परिणाम नहीं बन पाता। वह अन्तर्मुहूर्त के रागपरिणमनों में जीव का राग बनता है, जिस राग से व्यवहार होता है, पालन पोषण, प्रेम आदिक व्यवहार हो, ऐसा राग अनेक समयों का मिलकर हो पाता है। लेकिन हो फिर भी जो परिणमन अर्न्तमुर्हूत तक बराबर चलता रहता है वह एक-एक समय का हो होकर ही तो चलता है। एक समय की ज्ञानपरिणति का समाचार यह है कि एकसमय के ज्ञान के द्वारा भी पदार्थ जाना जा सकता है और एकसमय के ज्ञानोंपयोग से जानन का व्यवहार नहीं भी होता है। छद्मस्थ जीवों के एकसमय के ज्ञानपरिणमन से जितना व्यवहार नहीं बन पाता, उनके अर्न्तमुर्हूत का उपयोग हो उससे जानन व्यवहार बनता है। परन्तु एक ज्ञानी जीव के एक-एक समय के केवलज्ञान परिणमन से समस्त विश्व जानने में आता रहता है। तो जो वर्तमान समयमात्र गुणपर्याय को ग्रहण करे ऐसे आशय का नाम है सूक्ष्मऋजुसूत्रनय।

शब्दनय का वर्णन–अब 5 वाँ नय है शब्दनय। ऋजुसूत्रनय ने वर्तमान पर्याय को ग्रहण किए था। अब उसमें से ही कुछ छाँट करके कोई अंश ग्रहण करे वह शब्दनय। तो वर्तमान पर्याय को ऋजुसूत्रनय ने जाना था, मगर लिंगादिक के भेद से उसमें भेद नहीं किया जा रहा था। अब यह शब्दनय लिंगादिक के भेद से उस पर्याय का भेदरूप ग्रहण करता है। जैसे स्त्री के तीन शब्द हैं- दार, कलत्र और भार्या। ऋजुसूत्रनय में उस स्त्रीभव को बतायेंगे तो किसी भी शब्द से बता दें, उसमें कोई भेद न आयगा, लेकिन शब्दनय दार शब्द से स्त्रीभव का अर्थ दूसरा करेगा, कलत्र शब्द का दूसरा अर्थ होगा, और भार्या शब्द का अन्य अर्थ होगा। दार उसे कहते है जो भाई भाई का झगड़ा कराकर उसे अलग करा दे। तो दार शब्द से कुछ विशिष्ट अर्थ वाली स्त्री का बोध हुआ। कलत्र उसे कहते है जो पति अथवा पुत्र के शरीर की रक्षा करे। कल मायने शरीर के है और त्र मायने त्राण अर्थात रक्षा करने के है। तो कलत्र शब्द कहकर किसी विशिष्ट प्रकार की स्त्री का बोध हुआ। भार्या का अर्थ है तो गृहभार को स्वयं चलाये। तो वर्तमान ऋजुसूत्रनय ने उस स्त्री को

किसी शब्द से कहा, वहाँ अन्तर नहीं पड़ा, पर्याय सामान्य बताया गया, लेकिन शब्दनय ने ऋजुसूत्रनय के विषय में भी भेद कर दिया। एक भिन्न-भिन्न रूप से ग्रहण किया। यहाँ यह बात जानना आवश्यक है कि ऋजुसूत्रनय वर्तमान समयमात्र को ग्रहण करता है। तो अब उससे और कालभेद तो बन नहीं सकता था। काल का भेद तो ऋजुसूत्रनय में आया, तो उसके आगे जो भेद चल सकेंगे वे शब्द की दृष्टि से चल सकेंगे, काल की दृष्टि से नहीं। क्योंकि ऋजुसूत्रनय ने स्वयं ही एक समय की पर्याय को ग्रहण किया। अर्थात् शब्दनय को और इसके आगे कहे जाने वाले समभिरूढ़नय और एवंभूतनय को शब्दनय में ही गर्भित किया है।

समभिरूढ़नय का वर्णन–अब छठा है समभिरूढ़नय। शब्दनय ने एक शब्द से अर्थ का ग्रहण किया था, अब उसमें और भी भेद करना है तो कैसे भेद होगा? वह भेद होगा कि एक शब्द के अनेक अर्थ हुए और उनमें से जो रूढ़ अर्थ हुआ उसी को उस शब्द से ग्रहण करना समभिरूढ़नय है। वहाँ जितने भी शब्द बोले जाते हैं उन शब्दों के अर्थ अनेक होते ही हैं। जैसे घट बोला- तो घट का शब्दार्थ यह है- जो घड़ा जाय सो घट। तो क्या घड़ा ही घड़ा जाता है? अनेक चीजें घड़ी जाती हैं। गहनें भी घड़े जाते हैं और भी मसाले के खिलौने वगैरह घड़े जाते हैं, लेकिन घड़ा शब्द का अर्थ मिट्टी के घड़े में रूढ़ हो गया। तो प्राय: सभी शब्द अनेक अर्थ के बोधक होते हैं लेकिन उन अर्थों में से किसी रूढ़ अर्थ को ही ग्रहण करे उसे कहते हैं समभिरूढ़नय। सम् का अर्थ है भली प्रकार, अभि का प्रकार है सर्व ओर से और रूढ़ का अर्थ है प्रसिद्ध होना। तो जो अर्थ प्रसिद्ध हो उस प्रसिद्ध अर्थ में ही शब्दों को लगायें तो समभिरूढ़नय होता है। जैसे गौ शब्द के अनेक अर्थ हैं-गाय, पशु, किरण, पृथ्वी आदिक लेकिन रूढ़ अर्थ है गाय पशु का। तो गाय पशु का ही ज्ञान होगा गौ शब्द कहकर तो यह समभिरूढ़नय का विषय हुआ।

एवंभूतनय का वर्णन–अंतिम नय है एवंभूतनय। यह समभिरूढ़नय से भी अधिक सूक्ष्म विषय वाला है। समभिरूढ़नय ने यह किया था कि एक शब्द के अनेक अर्थ हैं, उनमें से बाकी अर्थ को छोड़कर जो एक प्रसिद्ध अर्थ है उस ही अर्थ में उस शब्द को लगाया था। अब उसके भी और अंश करते हैं तो एवंभूतनय से करेंगे। समभिरूढ़नय से जान तो गए थे उस शब्द के द्वारा प्रसिद्ध अर्थ और बाकी अर्थों को छोड़ दिया, लेकिन अब एवंभूतनय उस शब्द से उस रूढ़ अर्थ को भी तब कहेगा जब शब्द से काम बताया गया है उस काम को कर रहा हुआ अर्थ हो। जैसे गो का अर्थ है जाने वाला तो अब जा रही हुई गाय में उस समय एवंभूतनय से गो प्रयुक्त हो सकता है, अन्य क्रिया करती हुई गाय में नहीं। अथवा जैसे पुजारी कहा तो जिस समय वह मंदिर में हो, पूजा करने में हो उसी समय पुजारी कहा जाय तो वह एवंभूतनय का विषय है। अन्य कार्य करते हुए अगर उसे पुजारी कह दें तो वह एवंभूतनय का विषय नहीं रहा। अब यहाँ यह बात परखिये- पूर्व पूर्व नय से उत्तर नय सूक्ष्म विषय वाले होते जाते हैं। पर्यायार्थिकनय के भेदों में ऋजुसूत्रनय ने एक वर्तमान पर्याय को ग्रहण किया, फिर शब्दनय ने शब्दभेद से उसमें भेद डाला, फिर

समभिरूढ़नय ने उसमें भेद डाला, उस भेदक शब्द के अनेक अर्थों में से एक अर्थ को ग्रहण कराया और एवंभूतनय ने उस क्रिया करते हुए की हालत में ही उस शब्द का, उस अर्थ का ज्ञान कराया।

नयों के सम्बंध में स्फूटप्रकाश—यहाँ सैद्धान्तिक दृष्टि से 7 भेद कहे गए हैं- इनमें 3 तो द्रव्यार्थिकनय हैं और 4 पर्यायार्थिकनय हैं। इनकी छँटनी इस तरह भी की जा सकती है कि इन 7 नयों में एक तो ज्ञाननय है, क्योंकि वहाँ केवल संकल्प और ज्ञान तक ही संकेत है। संकल्प में आया, ज्ञान में आया, उस बात को कहा, क्योंकि वहाँ सत् और असत् समन्वय का किया गया था। अब संग्रहनय, व्यवहारनय और ऋजुसूत्रनय इन तीन नयों का केवल अर्थ की मुख्यता से वर्णन किया। संग्रह और व्यवहारनय ने द्रव्य को विषय किया, वह भी अर्थ है और ऋजुसूत्रनय ने पर्याय को ग्रहण किया, वह भी अर्थ है। अब शेष बचे तीन नयों का शब्द की मुख्यता से वर्णन किया। अत: यह शब्दनय कहलाता है। जिस आशय में शब्द की मुख्यता से ग्रहण हो उसे शब्दनय कहते हैं। यह शब्दनय एक सामान्य शब्द है।
7 नयों में जो शब्दनय कहा गया है उसका ग्रहण न करना, यह शब्दनय एक अलग चीज है। शब्दनय में तीन नय गर्भित होते हैं- शब्दनय, समभिरूढ़नय और एवंभूतनय। इस प्रकार ज्ञान, अर्थ और शब्द की दृष्टि से 7 नयों के तीन भेद हैं। इसे पहिले बताया था कि बुद्धि शब्दार्थपद्धति से नय के तीन प्रकार हैं। उसका इस कथन में समन्वय है। वह यद्यपि एक सामान्यतया बताया था, इन 7 नयों में घटित करके न था और यह 7 नयों में घटित करते हुए हो रहा है। पर होता ही है ऐसी विधि से ज्ञान के जिस ज्ञान में शब्द की भी योजना होती है, ज्ञान तो हो ही रहा है। पदार्थ की बात कही ही जाती है, तो यो तीन प्रकार के नय हुए- ज्ञाननय, शब्दनय और अर्थनय। नय शब्द का अर्थ यह है कि जो ले जाये उसे नय कहते हैं। किसी ज्ञान की ओर ले जाये उसे नय कहते हैं। तो ले जाने वाली बात कोई एक ढंग से होती है। किसी स्थान से उठाकर किसी स्थान पर ले जाया गया तो वह एकदेशज्ञान है। यद्यपि नयों में यह बात पायी ही जाती है कि प्रमाण से जाने हुए पदार्थ में से ही एक अंश को ग्रहण करे उसे ही नय कहते हैं। लेकिन इसने साक्षात् एकदेश ही तो ग्रहण किया और एकदेश ग्रहण करने की बात ले जाने में प्रयुक्त होती है। इसलिए नय शब्द में जो अर्थ भरा है कि जो ले जावे उस अर्थ की दृष्टि से भी नय शब्द का यह सब लक्षण किया जाना युक्त बैठता है।

अध्यात्मपद्धति से नयों के वर्णन में निश्चयनय के प्रसिद्ध प्रकार–अब अध्यात्मपद्धति से नयों का वर्णन करते हैं। नय के मूल भेद दो हैं- निश्चयनय और व्यवहारनय। निश्चयनय कहते हैं वस्तु के अभेद अथवा अन्तरंग विषय की मुख्यता से अथवा एक वस्तु की दृष्टि से जो अभिप्राय बनता है उसका नाम निश्चयनय है। निश्चयनय का मतलब समझना चाहिए अभेद की ओर दृष्टि में होना| और व्यवहारनय का मतलब है भेद की ओर दृष्टि का होना। इस जीव ने अब तक भेद की दृष्टि तो की और वह भी भेद की दृष्टि है ऐसा समझकर नहीं, किन्तु यही सब कुछ है, इतना ही है, पूरा है आदिक मिथ्या धारणा की। इसने अभेद का अब तक कोई भाव ही नहीं बनाया। मैं अपने

आपमें अभेद से कैसा हूँ इस ओर इसकी दृष्टि भी नहीं गयी। निश्चयनय का जब विशेष रूप से वर्णन होगा तब अभेद दृष्टि की बात ग्रहण कर जाय, इसमें भी अभेद बताया गया है। निश्चयनय भी यद्यपि अनेक प्रकारों में कहा जायगा, मगर उसमें जो भेद अंश है उसे छोड़ना और अभेद की ओर जो ढलाव है उसे ग्रहण करना। निश्चयनय के मुख्यतया 3 भेद हैं- परमशुद्ध निश्चयनय, शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय। निश्चयनय की पद्धति यह है कि एक वस्तु का एक ही बात में वर्णन होना, यह निश्चयनय की पद्धति है। तो जब कभी हम आत्मा को रागी निरखते हैं अथवा आत्मा रागी है, राग परिणति है आदिक जब हम निरखते है तो वह अशुद्ध निश्चयनय है क्योंकि अशुद्ध को देखा, अतएव अशुद्ध है और एक को ही देखा अत: निश्चय है। अगर इस ही राग को हम इस विधि से जानें कि कर्मों के उदय का निमित्त पाकर आत्मा में यह राग हुआ है तो यह व्यवहारनय में तकिये अथवा कर्मोदय से यह राग हुआ है व्यवहारनय हो गया। जहाँ दो वस्तुओं का जिक्र आया, दो पर दृष्टि जाय, वहाँ व्यवहारनय होता है। एक को ही देखकर अशुद्ध देखे इस ही नाम है अशुद्ध निश्चयनय। एक को ही देखे किन्तु शुद्ध दशा में देखे तो उसका नाम है शुद्ध निश्चयनय। जैसे भगवान केवली अरहंत सिद्ध वीतराग प्रभु केवलज्ञानी हैं, वे अपने ही स्वभाव की परिणति से केवली हुए हैं। यह है शुद्ध निश्चयनय। इसी बात को यदि इस तरह कहा जाय कि केवलज्ञानावरण का क्षय होने से प्रभु के केवलज्ञान हुआ है तो यह व्यवहारनय बन गया, क्योंकि यहाँ दो की दृष्टि की गई, दो का जिक्र हुआ। तो शुद्ध निश्चयनय में देखना शुद्ध दशा से, लेकिन एक को ही देखना, एक से ही देखना, वह होता है शुद्ध निश्चयनय। परम शुद्ध निश्चयनय है एक को ही देखना, यह तो निश्चय की बात है, किन्तु परम देखना, जो शाश्वत तत्त्व है, सहज सिद्ध है उस तत्त्व को ही देखना, क्योंकि परम चीज वही है। सर्वोत्कृष्ट तत्त्व, जिसको कि दृष्टि में लेने से हमारा भला हो जायगा वह तत्त्व है, यही शाश्वत सहज सिद्ध स्वत: शुद्ध ज्ञायकस्वरूप। तो इन गुण पर्याय के भेद से रहित केवल अनादि अनन्त स्वभाव को ही देखना यह है परम शुद्ध निश्चयनय। अब ऐसा कुछ थोड़ा जब कभी देखेंगे तो इसका प्रभाव तुरन्त विदित होगा कि यह परम शुद्ध निश्चयनय का दर्शन कितने विकल्पों से हटाकर, कितने अनर्थ से दूर करके आत्मा को आनन्द में स्थापित करता है। तो निश्चयनय के इस प्रकार के तीन भेद हमारे बहुत-बहुत काम में आयेंगे।

गल्पवाद छोड़कर नयवाद के परिज्ञान के लिये अनुरोध–लोग तो कुछ धर्म की धुन में जब आते हैं तो जब चाहे यह पूछने लगते हैं कि भाई ! सोनगढ़ का सिद्धान्त क्या है? पंडितों का सिद्धान्त क्या है? आपकी उसमें धारणा क्या है? फलाने स्वामी कैसे हैं? फलाने का अध्यात्म सिद्धान्त कैसा है? उनकी यह पूछताछ केवल इतना जानने के लिए है कि इसमें किसकी जीत है और किसकी हार है? इससे आगे मतलब नहीं है, क्योंकि इसके आगे यदि कुछ हित की दृष्टि का भाव हो तो नय के स्वरूप जानने में उन्हें रूचि रखनी चाहिए। यह विषय कठिन है, यह तो दूसरों के लिए है, इसकी धारणा करके इस विषय से तो दूर रहना चाहते, कुछ भी अपने आपमें पौरूष नहीं जगाना

चाहते। कुछ अपना ज्ञान बढ़े, कुछ भीतर में ज्ञान के लिए श्रम भी बढ़े, इससे तो दूर रहते हैं, इसकी ओर से सुकुमाल बनते हैं और बाहरी बातों में, बड़ी-बड़ी समस्यायें सुलझाने में और अन्य व्यवहारिक कार्यो में वे बड़े शूर बनते हैं, फिर पूछते कि अमुक का सिद्धान्त क्या है, अमुक कैसे है? यह पूछना अनर्थ है और यदि कोई इसके उत्तर में पड़ता है तो वह भी अनर्थ है। जो मार्ग है, जो तत्त्व है, जो स्वरूप है उसकी ओर लगना चाहिए ना, उसकी ओर लगकर स्वयं यह निर्णय करे कि वस्तु का स्वरूप क्या है? तो यह नयों का प्रकरण चल रहा है यह बहुत उपकारी प्रकरण है। इसकी समझ बन जाने पर जीवनभर कृतार्थ हो जायगा। वह तत्त्व नजर आयगा जिस तत्त्व के आये बिना तीन लोक का वैभव पाना भी बेकार है। बतलाओ वैभव की प्राप्ति से इस जीव को मिलना क्या है? केवल विकल्प बनाता है, विकल्पों में मौज मानता है और अपने को बहुत बड़ा मानकर ऐंठ में बना रहता है। तो बाहरी वैभव मिला तो क्या मिला? बल्कि वैभव तो तृष्णा तथा क्रोधादिक के बढ़ जाने में कारण होने से अनर्थरूप ही हैं और उन वैभवों से तो प्रीति है। तो ऐसी दृष्टिवाले जन अपना हित क्या कर सकेंगे? ऐसे श्रेष्ठ नररत्न को पाकर दो बातों की प्रधानता होनी चाहिए-एक तो वैभव में तृष्णा न हो और दूसरे ज्ञानसम्पादन में रूचि जगे। कोई कहे कि बस महाराज, इन दो बातों की हमें छुट्टी दे दो, बाकी और धर्म के लिए बताओ हम क्या करें? तो भाई ! यदि ये दो कार्य नहीं कर सकते तो फिर मन में जो आये सो करो। वे सब बातें तो केवल दिल बहलाने मात्र के लिए हैं। ज्ञान और वैराग्य ये दो ही आत्मा की उन्नति के कारण हैं। जरा नयों के प्रकरण में जिनकी रूचि हो वे सुनें और जानें कि ओह ! आचार्य संतों का हम लोगों पर कितना बड़ा उपकार है, जिसका ऋण चुकाने का हम आपके पास कोई साधन ही नहीं है। ऐसा प्रकाश दिया, ऐसा मार्ग दिया कि जिस मार्ग से चलकर हम सदा के लिए संसार-संकटों से मुक्त हो जायेंगे। यहाँ निश्चयनय के वर्णन में तीन प्रकार के नय बताये जा रहे हैं- परम शुद्ध निश्चयनय, शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय।

अब निश्चयनय को दो प्रकारों में निरखिये–द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय, पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय। जो निश्चयनय द्रव्यार्थिक के विषय की ओर ले जा रहा, पर पद्धति है निश्चयनय की वह है द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय। एक वस्तु को देखना यह है निश्चयनय की पद्धति। दूसरा है पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय। पद्धति तो निश्चयनय की है, मगर पर्याय के विषय को देख रहा है। मूल बात इसमें भी यही दो आयीं- जो एक को ही देखे सो तो निश्चयनय है और जो दो को देखे, एक का दूसरे पर प्रभाव है, निमित्त है, संबंध है इस तरह से जो द्वैत की बात करे सो वह है व्यवहारनय। यह निश्चयनय कितना उपयोगी है, इसकी उपयोगिता का थोड़ा परिचय पाया कुछ अन्य दार्शनिकों ने तो वे इस निश्चयनय के भी इतने एक हठी बन गए कि वहाँ अद्वैतवाद उत्पन्न हो गया और यहाँ तक निर्णय कर लिया कि बस तत्त्व यही है और अपरिणामी है। जिसमें रंच भी परिणमन न हो ऐसा यह अद्वैत तत्त्व है। तो यहाँ यह जानना चाहिए कि वस्तु का जो स्वरूप है वह न केवल निश्चयनय का विषयभूत है, न केवल व्यवहारनय का विषयभूत है, वरन सापेक्ष दोनों नयों का विषयभूत है और परमार्थत: अवक्तव्य है, दोनों नयों से परे है।

ॐ शब्द के आकार में नयवाद की प्रथम उपयोगिता का परिज्ञान–संतजन ॐ शब्द लिखते हैं, ॐ का ध्यान करते हैं ना, तो इस ॐ शब्द का आकार यों है- पहिले 3 का अंक बना और 3 के केन्द्र से एक डंडा निकला, फिर उस डंडे के ऊपर एक बिन्दु रखा, उसके ऊपर अर्द्धचन्द्र बनाया, उसके भीतर शून्य रखा, इस तरह ॐ को बनाते हैं। तो इस ॐ के आकार में भी यह बात विदित होती है कि 3 का अंक बताता है व्यवहारनय को। 3 मायने बहुत। जिसमें बहुत मोड़ हो वह तो है व्यवहारनय की बात, और यह डंडा के बाद का शून्य बताता है निश्चयनय। जैसे निश्चय में आदि, मध्य, अन्त नहीं होता है, केवल एक अखण्ड दृष्टि में है, इसी प्रकार शून्य में भी आदि, मध्य और अन्त नहीं होता है, एक सम होता है, यों निश्चय व्यवहार ये दोनों ही अलग-अलग हो गए। डंडा को जोड़ा तो वह है प्रमाण की चीज। अर्थात निश्चयनय अलग पड़ा रहे तो वह भी एकान्त, व्यवहारनय अलग पड़ा रहे तो वह भी एकान्त, किन्तु इन दोनों को प्रमाण से जोड़ा जाय तो निश्चयनय की भी उपयोगिता है और व्यवहारनय की भी उपयोगिता है। यह नीचे का आकार बताता है परिज्ञान का उपाय। प्रमाण, निश्चयनय, व्यवहारनय इनसे वस्तु के स्वरूप का परिचय होता है। अब आत्मतत्त्व, अनात्मतत्त्व सबका इन नयों से निर्णय करने के बाद निर्णय कर चुकने वाले ज्ञानी पुरुष आगे के लिए जिज्ञासु बनते हैं, जान गए, जितना जो कुछ जाना गया और जितना श्रम करके जानते हैं उतना जानने में भी संतुष्ट नहीं होता। जानकर फिर आगे जानने की इच्छा करते हैं। ऐसा कौनसा जानना जिस जानने में संतोष पड़ा हुआ है? फिर उससे आगे जानने की इच्छा न हो। ऐसा जानना केवल दो प्रकार से समझाया जा सकता है-एक तो है स्वानुभव, दूसरा है केवलज्ञान। ये दो जानने के साधन ऐसे है कि जिस जानने में इतना संतोष है कि एक भी आकुलता नहीं रहती और अन्य जिज्ञासा भी नहीं होती। केवलज्ञान परिपूर्ण ज्ञान है इस कारण उनमें आकुलता नहीं, न आगे जानने की इच्छा है। स्वानुभव ही एक निर्विकल्प ज्ञान है और एक आनन्द का अनुभव कराता हुआ ज्ञान है। वहाँ भी आकुलता नहीं और उससे आगे जानने की भी जिज्ञासा नहीं होती है। जब व्यवहारनय, निश्चयनय और प्रमाण से वस्तुस्वरूप को जान लिया तो अब यह ज्ञानी जीव ऐसे ज्ञान में जानना चाहता है जहाँ कि इसे संतोष मिले और वहाँ से बढ़ने-घटने का विकल्प न हो। ऐसा ज्ञान अभी तो मिला नहीं। वह ज्ञान है केवलज्ञान। लेकिन स्वानुभव ही तो अभी हो सकता है। तो यह जीव स्वानुभव के काल में पहुँचता है। तो ॐ, जिसमें एक अर्द्धचन्द्र की कला दिखाई गई है वह स्वानुभव कला का प्रतीक है यह कला नीचे लिखे गए ॐ को छू नहीं रही तब-तक स्वानुभव की कला व्यवहार, निश्चय और प्रमाण के विकल्प से परे है। उस स्वानुभव की कला में यह ज्ञानी जीव पहुंचा। वहाँ पहुंचकर क्या अनुभव हुआ और उस स्वानुभव का क्या फल मिला? यह बात बताता है वह शून्य। जहाँ शून्य है, विधि में क्या है, वह तो अनुभव में है, पर है कैसा वह? जहाँ रागादिक विकार नहीं, कोई कर्म, शरीर आदिक परपदार्थ का संयोग नहीं, केवल एक अनादि अनन्त शुद्ध चैतन्यस्वभाव का प्रकाश है और ऐसा स्वानुभव यही है उस निर्विकार शुद्ध सिद्ध पद की प्राप्ति का उपाय। तो इस ॐ शब्द से भी हमें मार्ग

दृष्टगत होता है। ॐ शब्द का प्राय: सभी दार्शनिकों ने बहुत महत्त्व माना है। ॐ का शाब्दिक अर्थ ॐ का ध्यान भी करना है। जब ॐ कोई कहे तो उस पर ॐ शब्द रखकर दृष्टि लगाना है। ॐ शब्द को यदि एक मोटी और हल्की ध्वनि में बोला जाय तो उससे शरीर में रोमांच होता है, बाह्य विकल्प भी दूर होते हैं। ॐ शब्द की बड़ी महिमा बतायी गई है। ॐ शब्द में सभी ने अपने इष्ट तत्त्व का समावेश किया है। ऐसे अब ॐ शब्द से भी हमें यह मार्ग विदित होता है। तो पहिले नयों का स्वरूप परखें, प्रमाण से पूर्णतया निर्णय करें, इसके बाद प्रमाण और नय के विकल्पों से परे होकर स्वानुभव में आयें और उस स्वानुभव के बल से अनुभव करें शरीररहित, विकाररहित, कषायरहित एक शुद्ध चैतन्यस्वभाव का। यही उपाय है उस शुद्ध चैतन्य की प्राप्ति का।

परमभाव ग्राहक द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय-यहाँ निश्चयनय के भेदों में द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय की बात चल रही है। प्रथम इसके 10 भेदों में बताया गया है परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय। इसका अर्थ है कि वस्तु का जो परमभाव पारिणामिक सहज स्वभाव है, जो वस्तु में अनादि से अनन्त काल तक एकसमानस्वरूप रहता है ऐसे शुद्ध निज सत्त्व को ग्रहण करने वाले नय को परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। जैसा कहा कि आत्मा चैतन्यभावी है। चैतन्य ही है स्वभाव सर्वस्व जिसका, ऐसा है यह आत्मा। आत्मा को एक चैतन्यस्वभवमात्र निरखने में आत्मा का परमभाव ग्रहण में आया। अपने-अपने बारे में लोग अपना सत्त्व निर्णय किए हुए ही हैं। मैं फलाने चंद हूँ, फलाने लाल हूँ, मोटा हूँ, दुर्बल हूँ, सबल हूँ, निर्बल हूँ, धनिक हूँ, निर्धन हूँ, पंडित हूँ, मूर्ख हूँ, इतने परिवार वाला हूँ, ऐसी इज्जत वाला हूँ आदिक। पर सभी का यह एक कूड़े-कचरे का जैसा अनुभव है, ये कोई सारभूत बातें नहीं हैं। लोग व्यर्थ ही अपने को बड़ा समझकर अहंकार में बने रहते हैं, मगर यह तो सब संसार में भ्रमण करते रहने की ही निशानी है। इस जीव ने अपने आपके चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व का अनुभव नहीं किया। अनुभव की बात तो जाने दो, इसकी चर्चा करने तक की भी रूचि नहीं की। होनी चाहिए ऐसी बात कि जो बड़ी दिलचस्प हो, सभी लोग समझ जायें, बहुत से लोग तो समझ जायें, पर खुद की समझ से क्या मतलब? बहुत से लोग समझ गए, जान गए, बहुतों ने कह दिया बहुत अच्छा। बस उससे ही निर्णय किया कि हाँ व्याख्यान तो यह ठीक है, पर अपने आपके बारे में कुछ भी निर्णय नहीं किया जा सका कि मेरा हित किसमें है, मैंने क्या ग्रहण किया, मुझे क्या मिला? जो मिला सो मिला ही। लेकिन कभी इस बात की प्राप्ति की ओर दृष्टि भी नहीं की कि मुझे ऐसी चीज मिले जो कभी मेरे से अलग न हो। वह परमतत्त्व है अपना ही शुद्ध चैतन्यस्वभाव। उसकी प्राप्ति के लिए यदि तन, मन, धन, वचन सर्वस्व भी न्यौछावर करना पड़े तब भी समझो कि मेरा गया कुछ नहीं है, मैंने पाया ही सब कुछ है। वह तो एक ऐसी चीज प्राप्त कर ली कि जिस चीज की कोई उपमा ही नहीं दी जा सकती। लेकिन खेद है कि उस चैतन्यस्वभाव की प्राप्ति के लिए किसी को कुछ जिज्ञासा तक भी

नहीं है। तो यह है परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय। निश्चयनय के इन भेदों में सर्वप्रथम यह भेद रखा गया है।

भेदकल्पना-निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय–दूसरा द्रव्यार्थिकनय निश्चयनय है भेदकल्पना निरपेक्ष शुद्धद्रव्ययार्थिकनय। जिस ज्ञान में भेद-कल्पना नहीं होती है और अभेद वस्तु के ग्रहण करने की बात आती है ऐसे आश्रय को भेदकल्पना-निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय कहते हैं। जैसे द्रव्य अपने गुण पर्यायों से अभिन्न है, देख लो, मैं क्या हूँ , इसका सही निर्णय इस नय से हो रहा है। मैं अपने गुणपर्यायों से अभिन्न हूँ। जो मुझमें शक्ति है वह कभी मुझसे अलग नहीं होती। उस शक्ति से, उस गुण से मैं अभिन्न हूँ, और जो मेरी परिणति है, परिणमन है, जो कुछ भी मेरा वर्तन हो रहा है उससे भी मैं अभिन्न हूँ। इसके अतिरिक्त अन्य मैं कुछ नहीं हूँ। मैं अपने गुणपर्यायों से अभिन्न हूँ। यदि यह निर्णय हो जाय तो इस जीव की बहुत सी आकुलताएँ दूर हो जायें, घर वैभव से मैं अभिन्न नहीं, इनसे तो मैं अत्यन्त निराला हूँ। धन वैभव से भी मैं अभिन्न नहीं, इन सबमें मैं अत्यन्त निराला हूँ। मैं तो अपने ही गुणपर्यायों से अभिन्न हूँ। इस 'मैं' की परख में यह जीव भिन्न पदार्थों की ममता से दूर होता है और अपने आपमें शाश्वत रहने वाला जो परमभाव है उसका ग्रहण करने में उद्यमी हो जाता है। यों शुद्ध द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय के भेदों में इन भेदों का वर्णन किया।

स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय–द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय के भेदों में तीसरा भेद कहा गया है स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय। जो अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मुख्यता से वस्तुधर्म को ग्रहण करे ऐसे नय का नाम है स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय। देखिये- प्रयोग में बहुत से लोग कहा ही करते हैं कि वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल की अपेक्षा से है, पर यह किस जाति का आशय है इसका पता बहुत कम है। यह कहलाता है स्वद्रव्ययादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय। इसने अपने ही स्वरूप से अस्तित्व बताया और अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदिक को ग्रहण कर बताया है, इस कारण यह निश्चयनय है और द्रव्यार्थिकनय है।

परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय–अब चौथा नय है परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय। परवस्तु के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से जो वस्तुधर्म को ग्रहण करे उस नय को परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। जैसे प्राय: लोग कहते ही हैं नयों के जानकार कि वस्तु अपने स्वरूप-चतुष्टय से है और पररूप-चतुष्टय से नहीं है। जैसे बैंच अपने स्वरूप से है, चटाई के स्वरूप से नहीं है। यदि बैंच चटाई के स्वरूप से हो जाय तो यह बैंच ही न रही। और बैंच अपने स्वरूप से न रहे तो कुछ रहा ही नहीं। तो इस वस्तु में यह स्वभाव है कि वह अपने आपसे सहित है, पर से सहित नहीं है। तो परपदार्थ की अपेक्षा से वस्तु सद्भूत नहीं है यह कौनसा नय है? उस नय की बात यहाँ कह रहे हैं। बैंच में चटाई वगैरह परपदार्थों का अस्तितत्व नहीं है तो कोई यहाँ एक शंका कर सकता है कि यह तो पराश्रित कथन है, याने पररूप का नास्तितत्व तो पर में है,

उस बैंच में कैसे कह दिया? तो बात ऐसी नहीं है, उन परपदार्थों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का नास्तितत्व उनमें नहीं है, किन्तु इस बैंच में है। इस बैंच में अन्य पदार्थों का नास्तित्व है तो इस नास्तित्व का आधारभूत पदार्थ बैंच कहलाया। जैसे बैंच में अपने स्वरूप का अस्तित्वरूप धर्म है ऐसे ही इनमें परपदार्थों का नास्तित्व रूप धर्म है। तो परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से वस्तु में धर्म का ग्रहण कराये ऐसे नय का नाम है परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय। सप्तभंगी के भंगों का प्रारम्भ यहीं से होता है। जैसे कोई धर्म बताये तो वह अपने स्वरूप से है, पररूप से नहीं है। मूल बात यहाँ से चलती है फिर इसके पश्चात क्रम से अगर देखा जाय तो दो बातें हैं- अपने स्वरूप से है और परस्वरूप से नहीं। इन दो बातों से एक साथ जाना जाय तो अवक्तव्य है। अब यों 4 भंग हो गए। इन चार भंगों में पहिला, दूसरा और चौथा यह तो एकाकी स्वरूप भंग है। किसी का किसी से मिलाव नहीं है, पर तीसरा भंग स्यात् अस्ति-नास्ति यह मिलाजुला है, अब मिले-जुले भंग में जो अंश मिला है वह दुबारा न मिलाया जायगा। कोई कहे कि 5 वाँ भंग ऐसा भी बना लो कि स्यात् अस्ति: स्यात् अस्ति नास्ति, क्योंकि अस्तिपना एक बार मिल गया तो दुबारा न मिलाया जायगा। 5 वाँ भंग बनेगा स्याद अस्ति अवक्तव्य। इसमें कोई पुनरूक्त नहीं हुआ। छठा भंग बन गया स्याद नास्ति अवक्तव्य और 7 वाँ भंग बन गया स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य। तो इन 7 भंगों में जो पहिले दो भंग कहे है वह स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय से परखा गया। दूसरे भंग की बात परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय से परखा गया।

अन्वयद्रव्यार्थिकनय–अब इस निश्चयनय के 10 भेदों में से 5 वाँ भेद कहते हैं। इसका नाम है अन्वयद्रव्यार्थिकनय। गुण और पर्यायों में अन्वयरूप से रहने वाले याने एक धारा में तन्मयता से रहने वाले, द्रव्य के ग्रहण करने वाले नय को अन्वयद्रव्यार्थिकनय कहते हैं। इसका भी लोग प्रयोग बहुत करते हैं। जैसे कहते हैं कि द्रव्य, गुण, पर्याय स्वभाव वाले हैं। कह तो दिया और समझाते हैं कि गुण और पर्याय का स्वभाव प्रत्येक द्रव्य में है। कोई पदार्थ है तो उसकी कोई न कोई तो परिणति भी अवश्य है और परिणति है तो उस परिणमन की शक्ति भी उसमें अवश्य है। अब इन दो बातों में से किसको मना करोगे? क्या यह मना किया जा सकता है कि पदार्थ का कोई परिणमन नहीं होता अथवा क्या यह मना किया जा सकता कि पदार्थ में परिणमन की शक्ति नहीं है। कुछ भी मना नहीं किया जा सकता। तब यह कहना ही होगा कि पदार्थ गुणपर्याय स्वभाव वाला है। कह दिया पर इस आशय का नाम क्या है? उसका यहाँ वर्णन किया जा रहा है कि इस प्रकार के गुणपर्यायों में अन्वयरूप से रहने वाले द्रव्य की ओर जो ले जाय ऐसी दृष्टि का नाम है अन्वयद्रव्यार्थिकनय।

उत्पादव्ययध्रौव्यताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय–अब द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय में छठे नय की बात कह रहे हैं, इसका नाम है द्रव्यादि व्ययध्रौव्यसत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय। इस आशय में क्या ग्रहण किया गया? केवल सत्ता की दृष्टि से वस्तु का अर्थ धर्म ग्रहण किया गया। याने उत्पाद और व्यय की दृष्टि गौण करके केवल सत्त्व को ही निरखना। देखिये- पदार्थ में उत्पादव्ययधौव्य

तीनों अंश हैं। पदार्थ प्रतिसमय उत्पन्न होता रहता है अर्थात अपनी नवीन अवस्था बनाता है और पुरानी अवस्था को विलीन करता है, फिर भी वह ध्रुव रहता ही है। तो यह सत्त्व का स्वभाव है। उत्पाद, व्यय, धौव्य के बिना सत्ता का स्वरूप नहीं बनता। कोई सत्त्व तो माने और उस पदार्थ का उत्पाद व्यय न माने तो सत् तो नहीं ठहर सकता। कोई उत्पाद व्यय तो माने पर धौव्य न माने तो भी सत्त्व न रहेगा। देखने में स्पष्ट आ रहा है कि जो भी पदार्थ है उसका स्वरूप हर समय रहता है। हाँ उसकी पर्याय बदलती रहती है। देखिये- ये बातें जैनशासन में बड़ी मुख्यता से और प्राथमिकता से कही गई हैं। भगवान की दिव्य ध्वनि में प्रथम वर्णन इस उत्पादव्यय धौव्य से होता है, ऐसा कुछ शास्त्रकारों का अभिप्राय है। और इस दिव्य ध्वनि में अथवा जो अंगपूर्व की रचना होती है उसमें जगह-जगह अनेक स्थलों पर उत्पादव्ययधौव्य का पुट दिया गया है। समयसार में जहाँ कुन्दकुन्द स्वामी ने शुरू में यह कहा कि अपने वैभव के द्वारा मैं आत्म तत्त्व को दिखाऊँगा परन्तु यदि दिखा सकूँ तो मान लेना और न दिखा सकूँ तो छल ग्रहण न करना। इस गाथा की व्याख्या में श्री अमृतचन्द्र सूरि ने जब श्री कुन्दकुन्द स्वामी के वैभव का वर्णन किया तो सबसे पहिले यह बताया कि स्यात् पद करके चिह्न जिन आगम का, सकल आगम का उनका बड़ा अभ्यास है। इस पद में उन्होंने दर्शाया है कि यदि स्यात् पद की मुद्रा लगी है तब तो वह कथन प्रमाणभूत है और यदि स्यात् पद की मुद्रा नहीं लगी है तो वह प्रमाणभूत नहीं है। जैसे कुछ व्यापारी लोग अपना ट्रेडमार्क रखते हैं। वे ग्राहकों से बता देते है कि देखो- जिस चीज पर हमारी यह मुद्रा लगी हो वह चीज तो असली है और जिस पर यह मुद्रा न लगी हो उस चीज की हम ग्यारंटी नहीं ले सकते। इसी प्रकार समस्त कथनों में स्यात् की मुद्रा लगी हो तो वह कथन प्रमाणभूत है। तो पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय है, लेकिन नयों का काम यह है कि किसी समय, किसी धर्म का प्रधानता से निहारना। नयों में हठ नहीं होती। यद्यपि एक धर्म को नय बताता है फिर भी हठ नहीं है। अगर बतावे तो वह नय नहीं, वह कुनय है। जैन धर्म की पद्धति का एक मार्मिक वर्णन नयों से चलता है और इन नयों के परिज्ञान में हम यदि थोड़ा भी उपयोग लगायें तो हम सब समझ सकते हैं। बोलते तो रहते हैं कि द्रव्य नित्य है। यह एक द्रव्यार्थिकनय का प्रयोग है। जीव नित्य है, सदा रहने वाला है। पदार्थ अविनाशी है, नित्य है, किन्तु यहाँ यह पता नहीं होता सब लोगों को कि ये यहाँ किस नय से बात कर रहे हैं? जिस नय से यह कहा जाता है कि द्रव्य नित्य है उस नय का नाम है- उत्पादव्ययध्रौव्य सत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय याने द्रव्य में शुद्धता को ग्रहण किया है और ऐसी शुद्धता को ग्रहण किया कि यद्यपि द्रव्य में उत्पाद, व्यय प्रति समय चलता है, किन्तु वह है विनाशीक धर्म, वह है परिवर्तनीय। तो उनको गौण करके केवल शुद्ध सत्ता को यहाँ ग्रहण किया है। परिवर्तन होता रहता है इससे यह अर्थ न लेना कि उत्पाद, व्यय भी कभी मिट जायगा। उत्पाद और व्यय सामान्य तो पदार्थ में निरन्तर रहते हैं किन्तु उसको गौण करके शुद्ध सत्त्व को दृष्टि में लेकर जो वर्णन किया गया वह है इस नय का विषय।

कर्मोपाधिनिरपेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय–अब द्रव्यार्थिकहेतुकनिश्चयनय का 7 वाँ भेद बतलाते है। इसका नाम है- कर्मोपाधि-निरपेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय। इस नय का भी प्रयोग हम बहुत बार करते है। पर यह जाने बिना कि यह किस नय का प्रयोग है, किसी प्रकार के मर्म को और उसके वास्तविक लाभ को नहीं उठा पाते। यहाँ कर्मोपाधि की अपेक्षा न रखकर अशुद्ध द्रव्य को देखने की बात कही गई है। देखिये- जब कर्म उपाधि की अपेक्षा न रखे और उस समय जो कुछ कहा गया वह शुद्ध ही होना चाहिए। लेकिन यहाँ शुद्ध अशुद्ध से मतलब परिणतियों से नहीं है किन्तु उस परिणति में रहने वाले द्रव्य को दृष्टि में रखकर जिसे कहते हैं संसारी जीव सिद्ध समान शुद्ध आत्मा है। तो यहाँ कह रहे हैं संसारी जीव को, मगर संसार, संसार पर्याय, इसकी मुख्यता करके बात नहीं है। संसारी जीव ऐसा कहकर एक जीव द्रव्य को मुख्यता से लिया और उसे कहते हैं कि यह सिद्धसमान शुद्ध आत्मा है। मैं वह हूँ जो हैं भगवान। यह किस नय का विषय है? यह इसी नय का विषय है, मैं हूँ संसारी जीव। तो मैं अपने आपको यद्यपि संसारी पर्याय में हूँ तो भी उस पर्यायरूप अपने को न निरखकर एक जीव द्रव्य के नाते से देख रहा हूँ। तब कह सकता हूँ ना कि मैं वह हूँ जो हैं भगवान अथवा ममस्वरूप है सिद्ध समान। यह सब कर्मोपाधिनिरपेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है अथवा इसमें न अशुद्ध बोलो, न शुद्ध, कर्मोपाधिनिरपेक्ष द्रव्यार्थिकनय ही कह दीजिए। पर इतना कह देने से सिद्ध के जीव का भी उदाहरण लिया जा सकता है। पर लेना है यहाँ संसारी जीव को, अतएव यहाँ अशुद्ध शब्द बोला गया है। हम आप ऐसा ध्यान भी करते हैं, दूसरों को समझाते भी हैं कि देखो हम आप सिद्ध के समान शुद्ध आत्मा हैं, पर ऐसा जिनको नय का पता हो कि किस नय से यह बात कही जा रही है तो एक करेन्ट की तरह एकदम अवाधगति से हम अंत: प्रवेश कर जायेंगे। यहाँ कर्मों की उपाधि की अपेक्षा न रखकर अपने को तक रहे हैं। जब उपाधि की अपेक्षा न रखे तो तका क्या? द्रव्य तका। उस दृष्टि से यह वर्णन है कि संसारी जीव सिद्ध समान शुद्ध आत्मा है।

कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय–अब इस प्रकरण में 8 वाँ भेद बतलाते हैं- कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय। इसका अर्थ है कि कर्मोपाधि की अपेक्षा रखकर अशुद्ध द्रव्य भी दिखता। कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय- देखिये- प्रत्येक नयों के जो कोई स्वाध्याय में रूचि रखने वाले हैं, करते रहते हैं। जैसे कहा कि कर्म के निमित्त से उत्पन्न होने वाले क्रोधादिक भावरूप आत्मा है। आत्मा ने जब क्रोध किया तो वह आत्मा उस समय क्रोध वाला तो है और वह क्रोध हुआ है कर्मों के उदय के निमित्त से। इतनी दृष्टि रख करके जो यह कथन किया गया है उसमें भी बताया तो द्रव्य को है, बताया तो आत्मा को है, प्रधानता से कथन तो द्रव्य का किया गया है मगर कर्मोपाधि की अपेक्षा रखकर अशुद्ध द्रव्य का वर्णन किया है। देखिये निश्चयनय में सामान्यतया द्रव्य की और झुकाव है, प्रधानता उसकी है। कथन में एक बात प्रधान होती है और एक गौण। जहाँ द्रव्य की बात प्रधान होती है वह द्रव्यार्थिकनय है और जहाँ पर्याय की बात प्रधान होती है वह पर्यायार्थिकनय है। जैन शासन में स्याद्वाद को सिद्ध करने पर इसका मर्म विदित

होता है और कितनी दृष्टियाँ इसके सामने आ जाती हैं। देखो- मेंढक के चोटी तो नहीं होती, लेकिन कोई यह कह बैठे कि मेंढक की चोटी। तो यह बात असत् है, अभावरूप है, इसका अस्तित्व नहीं है। वह जबान पर उठ ही नहीं सकता। लो, अब इस दृष्टि से निर्णय करें कि मेंढक की चोटी कैसे? तो सुनो, मेंढक की चोटी बतायें कैसे होती है? कोई जीव पूर्वभव में मेंढक पर्याय में था, तो मेंढक पर्याय में तो चोटी न थी, लेकिन वही मेंढक का जीव मरकर मान लो कोई स्त्री हो गया वही जीव। तो स्त्री के तो चोटी पाई जाती है। आशय की बात है कि मेंढक शब्द कहकर तो लिया उस भव में रहने वाला जीव और उस जीव को तो उस निगाह में पकड़े आया और यहाँ तक लम्बा पकड़कर आया कि स्त्री के भव तक भी मेंढक की सुध रही। और वहाँ चोटी है, तो मेंढक की चोटी कहा जा सकता है। दृष्टान्त दिया जाता है नास्तित्व बताने में, असत् बताने में कि जैसे खरगोश के सींग कहीं होते तो नहीं। अगर खरगोश के सींग सर्वथा ही असत्‌रूप से होवें तो मुख पर यह बात आ ही नहीं सकती थी। तो किस रूप से यह बात बनी? बात उस रूप से बनी कि सींग तो होते ही हैं दुनिया में। खरगोश भी होते ही हैं। अब जो सींग गाय, भैंस आदिक के मस्तक में तो सम्बंधी रूप से हैं, वही सींग खरगोश के मस्तक में तो असम्बंधी रूप हैं। स्याद् वाद में ऐसी सूक्ष्मता से वर्णन चलता है कि जिससे पद के वाच्य का बहुत मर्म के साथ परिज्ञान होता है। यहाँ क्रोधादिक भावमय आत्मा का उदाहरण लिया। क्रोध परप्रधान है किन्तु आत्मा स्वप्रधान है, इस कारण यह द्रव्यार्थिकनय है लेकिन कर्मोपाधि की अपेक्षा से वर्णन है सो कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है।

भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय—अब भेद-कल्पना-सापेक्ष द्रव्यार्थिकनय का स्वरूप कहते हैं। भेदरूप कल्पना करके वस्तुधर्म के ग्रहण करने वाले नय को भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। प्रयोग तो बहुत करते हैं धर्मचर्चा करने वाले, पर वह प्रयोग है नय की अपेक्षा से। इसका भी परिज्ञान हो तो उस प्रयोग के प्रकाश, प्रयोग के प्रयोजन, प्रयोग के फल सबका कितना विशिष्ट ज्ञान मिलेगा और उससे अधिक लाभ है। कहा करते हैं कि आत्मा के ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदिक गुण हैं, बात ठीक भी है कि ज्ञान, दर्शन, आनन्द, गुण आत्मा को छोड़कर अन्यत्र नहीं होते। ये गुण आत्मा के हैं, पर यहाँ यह निरखिये कि यह किस दृष्टि से ज्ञान किया गया? सर्वथा ऐसा ही तो नहीं कह सकते कि आत्मा के ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदिक गुण हैं, क्योंकि एक दृष्टि ऐसी है कि जो यह कहते हैं कि आत्मा के ज्ञान, दर्शन, आदिक गुण नहीं हैं। यह सब समझाने के लिए कहा जाता है। आत्मा तो स्वयं जैसा है सो अपने स्वरूप रूप है। वह भी सत्य है, यह भी सत्य है, अर्थात् आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदिक गुण है यह किस दृष्टि से कथन है? वह दृष्टि यही है कि भेद की कल्पना की अपेक्षा रखकर द्रव्यादि वर्णन हो वह है एक दृष्टि। देखिये—इसे अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय कहा है तो क्या आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदिक जो सहज गुण हैं वे अशुद्ध हैं? अशुद्ध नहीं हैं, किन्तु आत्मा के कह दिए गए। अभिन्न अखण्ड आत्मा

में भेद की बात कह देने में भी अशुद्ध कहते हैं। इस शुद्ध अशुद्ध का कहाँ किस प्रकरण में क्या अर्थ है, ऐसा ज्ञान जिनको स्पष्ट नहीं है उनकी अध्यात्मवाद में गति नहीं हो सकती। शुद्धता, अशुद्धता इन शब्दों का ठीक पर्यायवाची शब्द है केवलपना, यही है पवित्रता। कहीं किसी चीज को लगाकर साफ कर देना, धो देना यह अर्थ पवित्रता का नहीं है, किन्तु उसमें कुछ न जोड़ना यह पवित्रता है। कुछ जोड़ देने से पवित्रता खतम हो जाती है। तो एक यहाँ नई बात बतला रहे हैं कि कुछ तोड़ लेने से भी पवित्रता खतम हो जाती है। लोग प्राय: ऐसा तो समझते हैं कि कोई चीज जोड़ देने से उसकी शुद्धता खतम हो जाती है, मगर यह पता नहीं कि कुछ तोड़ देने से भी शुद्धता खतम हो जाती है। जैसे दूध में पानी मिला दिया तो अब उसमें पवित्रता न रही, केवल न रहा, शुद्ध न रहा, उसमें दूसरी चीज मिल गई, चाहे बहुत शुद्ध अठपहरा पानी भी मिल जाय तो भी वह दूध अशुद्ध है। यह द्रव्यार्थिकनय का वर्णन है पर्यायार्थिक का नहीं। एक द्रव्य में दूसरा द्रव्य मिल जाने को अशुद्ध कहते हैं।

जैसे दूध में पानी मिला दिया तो वह दूध अशुद्ध हो गया। और क्यों जी, दूध में से मक्खन निकाल लिया गया हो, जैसे कि आजकल मशीनों से उसका मक्खन निकाल लिया जाता है, तो मक्खन निकाल लेने से दूध सपरेटा रह जाता हैं, क्या उस दूध को आप पवित्र कहेंगे? तो यहाँ बतला रहे है कि किसी चीज में कुछ जोड़ दो तो भी वह चीज अशुद्ध और तोड़ दो तो भी अशुद्ध। यों ही समझिये कि आत्मा में कषाय, कर्म, शरीर कुछ भी जोड़ दो। आत्मा का शुद्ध स्वरूप है सहजचैतन्य मात्र, उसमें कुछ जोड़ने की बात लगाया तो भी अशुद्ध है। आत्मा है चैतन्यमात्र। अब उसमें से तोड़ रहे हैं-आत्मा में ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, यह कथन आत्मा के स्वरूप को तोड़ने वाला ही तो कथन है—क्योंकि जो कहा गया उसे पूरा आत्मा नहीं कहा जाता, और यही तोड़ कहलाया कि जिसमें पूरी चीज न हो। तो आत्मा के ज्ञानादिक गुणों को अलग बताये यही उसकी तोड़ है और इसी कारण यह अशुद्ध द्रव्यार्थिक है और भेद कल्पना इसमें की ही गई है। तो यों भेद-कल्पना-सापेक्ष अशुद्ध द्रव्य कुनय हुआ।

उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय—अब 10 वाँ प्रकार है उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय। यह सब वर्णन चल रहा है निश्चयनय का। निश्चयनय की मुख्य मर्यादा यह है कि एक वस्तु की ही बात करना, दो वस्तु की बात न करना। एक वस्तु के कथन में जितने प्रकार हो सकते है उन प्रकारों का वर्णन इस निश्चयनय के 10 भेदों में किया है। उत्पाद व्यय की अपेक्षा रखकर द्रव्य को देखने का नाम उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है। जैसे द्रव्य एक ही काल में उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। देखिये- इसमें कोई मिलान की बात नहीं कही गई, फिर भी इसे अशुद्ध द्रव्यार्थिक कहा है। इसका कारण है तोड़। तोड़ और जोड़ दोनों अशुद्ध हैं। जोड़ से अशुद्ध तो व्यवहारनय होता है और तोड़ से अशुद्ध निश्चयनय में भी चलता है और व्यवहारनय में भी चलता

है। जहाँ द्रव्यार्थिकनय दृष्टि ही है, द्रव्य ही प्रयोजन है, पर्याय को नहीं निरखा और फिर भी तोड़रूप कथन है तो भी अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है। बात क्या यह सत्य नहीं है कि प्रत्येक द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है? बिल्कुल सत्य है, कोई पदार्थ ऐसा नहीं कि जिसमें उत्पादव्ययध्रौव्य इन तीनों में से एक ही अंश हो, दो न हो अथवा दो हो, एक न हो। तीनों होंगे तब सत्ता का स्वरूप बनेगा। तब वह पदार्थ सत् है। इस मर्म की जिन्होंने उपेक्षा की वे दार्शनिक किसी एक संतोषप्रद तत्त्व में नहीं ठहर पाये। वस्तु प्रति समय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य वाली है। ऐसा भी नहीं है कि अभी यह वस्तु उत्पन्न हो रही तो नष्ट नहीं हो रही। नष्ट होगी बाद में ऐसा नहीं है। उस ही काल में उत्पन्न है, उस ही काल में विनष्ट है, उस ही काल में ध्रुव है। जैसे एक घड़ा फूटकर खपरिया रूप में बन गया तो जिस काल में खपरिया बनी उसी काल में घट फूटा और उसी काल में मिट्टी भी बराबर है। एक ही काल में उत्पादव्ययध्रौव्य ये तीनों पाये जाते हैं। खपरिया होने का नाम उत्पाद, घड़ा न होने का नाम व्यय और मिट्टीरूप में रहने का नाम ध्रौव्य है। यों एक ही काल में पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होता है। बात यद्यपि सत्य है पर जैसा है वैसा निहारते जावो। उसे कहो मत। उसमें विकल्प न करो। तब हुआ सच्चा ज्ञान याने ज्ञान का जो प्रयोजन है उसको सार्थक बना रहे हो और जहाँ कुछ कहा, विकल्प किया, भेद किया वहाँ हो गया अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय। बहुत स्वादिष्ट कोई चीज है, उसका पूरा आनन्द को बिना बोले चाले बस खाते रहने में है। जहाँ खा भी रहे हैं और कुछ बातें भी कर रहे हैं, चाहे उसी चीज की बात क्यों न कर रहे हों कि इसमें खूब हलवा, शक्कर, घी आदिक है, तो आप उस आनन्द में कमी कर रहे हैं। बोलो मत और खूब निश्चिंत होकर खाते जावो तो वहाँ मौज भी मिलेगा। यह लौकिक जनों की दृष्टि से बात कह रहे हैं पर परमार्थ में भी यही पद्धति देखो कि वस्तु का जो हमनें स्वरूप समझा है, बस जाननहार रहें, विकल्प न करें, निरूपण न करें, केवल ज्ञाता-दृष्टा रहें तब तो हमने सच्चे ज्ञान का प्रयोजन निभाया, और जहाँ विकल्प किया, निरूपण किया, वहाँ कमी आयी, वही अशुद्धता है। तो इन 10 भेदों में यह कह रहे हैं कि द्रव्य उत्पादव्ययधौव्यात्मक है। इस कथन में उत्पादव्यय की अपेक्षा लेकर तोड़ की बात कही है, पर कही है द्रव्य को ही प्रयोजन में रखकर, परिणति को नहीं, अतएव यह उत्पादव्ययध्रौव्य सापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय है। यहाँ तक निश्चयनय में द्रव्यार्थिक हेतुक निश्चयनय के प्रकार बताये।

अनादि नित्य पर्यायार्थिक नामक पर्यायार्थिकहेतुकनिश्चयनय—अब इस ही निश्चयनय का दूसरा भेद है पर्यायार्थिक हेतुक निश्चयनय याने जिस दृष्टि में पर्याय आयी है, पर्याय प्रयोजन में है और फिर एक ही वस्तु की ही बात कही जा रही है। इस सीमा का उल्लंघन नहीं, ऐसे अभिप्राय का नाम है पर्यायार्थिक हेतुक निश्चयनय। इसके 6 भेद हैं। देखो, यद्यपि नयों का प्रकरण कठिन है लेकिन अत्यन्त उपकारी है। प्रकरण सुना भी न जाय, केवल सरल-सरल सुनकर निकाल दिया करते थे, उस स्थिति से ज्यादा हानि में तो रहोगे नहीं। और कुछ उपयोग लगाकर सुनोगे तो

इसकी बात समझ में आएगी। बतला यह रहे हैं कि इस पद्धति से जानकारी करने कि बात की जिसमें वस्तु की अवस्था तो निगाह में हो, लेकिन एक वस्तु के सम्बन्ध में ही सब कुछ बात देखी जा रही हो उस आशय से कैसा ज्ञान बनता है? पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय का प्रथम भेद है अनादिनित्य पर्यायार्थिक नय। इसमें पर्याय को अनादि और अनित्य नहीं बताया गया है क्योंकि कोई भी पर्याय अनादि से नहीं होती है। वह तो समय-समय में एक पर्याय होती है। इसी प्रकार पर्याय कोई नित्य नहीं होती। फिर भी हम पर्यायों को स्थूल दृष्टि से अनादि नित्य भी देख सकते हैं। जैसे- चन्द्र, सूर्य अनादि से हैं अनन्त काल तक रहेंगे। अब यह बतलाओ कि चन्द्र और सूर्य द्रव्य है कि पर्यायें? द्रव्य तो परमाणु है। चन्द्र और सूर्य जो ये विमान हैं ये द्रव्य नहीं है। यह उन परमाणुवों का एक प्रकार बना, आकार बना, अवस्था बनी, ऐसा स्कंध हुआ वह है चन्द्र सूर्य। लेकिन यह बात क्या गलत है कि ये चन्द्र सूर्य अनादि से हैं और अनन्त काल तक रहेंगे? गलत तो नहीं है। भला कल्पना में यह बात ला सकते हो कि किस दिन से ये सूर्य चन्द्र बने होंगे? यह बात कुछ समझ में तो नहीं आती। तो ये सूर्य और चन्द्र सदा से चले आये हैं और सदा रहेंगे, यह बात सत्य है। पर्याय की बात कह रहे हैं और ये नित्य भी दिख रहे हैं। तो स्थूल दृष्टि से पर्यायों का अनादि और नित्य देखने में आया कि नहीं? अब इनके प्रतिसमय में जो परिणमन चल रहे हैं वे अगर दृष्टि में न लिए गए तो स्थूल दृष्टि से पर्याय को अनादि नित्य देखकर फिर एक वस्तु का निर्धारण करने का नाम है अनादि नित्य पर्यायार्थिकनय।

सादिनित्य पर्यायार्थिक नामक पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय—पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय का दूसरा भेद है- सादिनित्यपर्यायार्थिकनय। देखिये- पर्याय को सादि देखा जा रहा और उस ही पर्याय को नित्य समझा जा रहा याने ऐसी दृष्टि किसी पर्याय के सम्बन्ध में कि जिसमें यह बोध पड़ा हुआ है कि यह पर्याय किसी समय से हुई है लेकिन अनन्तकाल तक रहेगी। इस तरह की निगरानी से देखने को सादिनित्य कहते हैं। जैसे प्रयोग किया कि सिद्ध पर्याय नित्य है। देखो- नयों का निर्णय आशय से होता है। वे ही शब्द यदि पर्याय के आशय में ढलकर चल रहे हैं तो पर्यायार्थिकनय है, और वे ही शब्द यदि द्रव्य के आशय में ढलकर चल रहे हैं तो वह द्रव्यार्थिकनय है। इस कारण शब्दों को सुनकर नयों का पूरा विवेचन नहीं किया जा सकता। शब्दों को देखना और शब्दों के आशय को भी समझना- इन दो बातों पर दृष्टि दी जाती है। अभी कह रहे हैं सादि पर्याय की बात। क्या कोई भी जीव सिद्ध अनादि से है? जो भी सिद्ध हुए हैं वे पहिले संसारी थे। कर्मों से मुक्त होने का नाम ही तो सिद्ध है। तो आप मन में बात ला सकते हैं कि जो सबसे पहिले सिद्ध हुए होंगे वे भी संसारी थे, तब तो कोई जमाना ऐसा भी रहा होगा जिस समय कोई भी सिद्ध भगवान न रहे हों? यह बात नहीं कह सकते। यह बात भी नहीं कह सकते कि ऐसा भी कोई समय नहीं जिस समय कोई भी सिद्ध न था और सारे ही सिद्ध पहिले संसारी थे। बात तो अचम्भे जैसी लगती होगी, पर कुछ और विवेकपूर्वक सोचने से समस्या हल हो जायगी। अच्छा,

आप यह बतलाओ कि सिद्ध अनादि से हो रहे है या किसी दिन से? तो उत्तर यह होगा कि सिद्ध अनादि से ही हो रहे हैं। और प्रत्येक सिद्ध संसारी था तो इसका अर्थ यह हुआ कि अनादि से ही संसार चला आ रहा है और अनादि से ही सिद्ध होते चले आ रहे हैं।

एक बात। यह तो एक व्यक्तित—बात कही गई। पर एक मोटेरूप में अगर यह निर्णय रखें कि दुनिया में दो ही चीजें है- संसार और मोक्ष। जीवों पर ध्यान न दें, तो यह व्यक्तितः कह सकते कि संसार मोक्ष से 8 वर्ष जेठा है, क्योंकि कोई भी जीव मुक्त हो तो मनुष्य होना ही पड़ेगा और 8 वर्ष से पहिले उसकी मुक्ति हो ही नहीं सकती। जल्दी-जल्दी ही सम्यक्त्व हो, संयम हो तो कुछ अधिक 8 वर्ष होता है। मोटे रूप से ऐसा कह देते है, पर उसके विवरण में जायेंगे कि क्या पहिले कोई सिद्ध ऐसा था जिससे पहिले और कोई न था? यदि कहो कि संसारी जीव था, तब तो यह बात न बन पाएगी, क्योंकि सिद्ध अनादि से हो रहे हैं। लोग तो इतनी सी बात को बहुत अचम्भे में कहते हैं कि भाई, ईश्वर की माया किसी ने नहीं परखी। कोई कैसे बन गया, कोई कैसे। मगर यह अचम्भा देखो कि संसार का स्वरूप, मोक्ष का स्वरूप, सिद्ध होना अनादि से होना, और फिर भी संसारपूर्वक होना, इस माया को कौन सुलझायगा? तो वस्तुस्वरूप की माया किसी ने नहीं पहचानी। यहाँ प्रयोग करके समझाया जा रहा है कि सिद्ध पर्याय नित्य है। यह कथन सादिनित्यपर्यायार्थिकनय नाम का पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय की दृष्टि में किया गया है। लिया गया पर्याय को, मगर इस ढंग से लिया गया कि जिसको एक वस्तु में ही निरखा और वह भी शाश्वत रूप से निरखा। इस प्रकार पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय के भेदों में सादिनित्यपर्यायार्थिकनय का विवरण किया गया।

सत्तागौण उत्पादव्ययग्राहक अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिकनय—अब पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय के तृतीय भेद का वर्णन करते हैं। इसका नाम हैं सत्तागौण उत्पादव्ययग्राहक अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिकनय। जहाँ सत्ता के ध्रौव्य की दृष्टि तो गौण की जाय और उत्पाद व्यय की मुख्यता की जाय ऐसे आशय में क्षणवर्ती पर्याय को देखना सो सत्तागौण उत्पादव्ययग्राहक अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिकनय है। जैसे कहना कि द्रव्य की पर्यायें समय-समय में नष्ट होती रहती हैं। यहाँ निरंश पर दृष्टि गई है। निरंशता का दर्शन या तो महा विस्तार में होता है या अति संक्षेप में होता है। जहाँ द्रव्य को देखा तो द्रव्य तो सर्व गुण-पर्यायों का पिण्ड है उस दृष्टि से द्रव्य की अखण्डता बहुत विस्तृत समझी गई है। यह है द्रव्य के नाते से द्रव्य की अखण्डता। अब द्रव्य में जो प्रति समय परिणमन होते हैं उन परिणमनों पर प्रधानतया दृष्टि दी जाय तो प्रत्येक परिणमन क्षणवर्ती है और एक परिणमन का दूसरे परिणमन में अन्वय नहीं है, अतएव सभी परिणमन परस्पर अन्वयव्यतिरेकी हैं। इस निगाह से देखा गया तो प्रत्येक समय का एक-एक परिणमन निरंश है और उस परिणमन को दृष्टि में लेकर इस नय की बात कही जा रही है कि इसमें ध्रौव्य का तो गौण किया गया और उत्पादव्यय की अपेक्षा रखी गई ऐसा दृष्टि में अनित्य, किन्तु शुद्ध पर्याय

पर दृष्टि दी गई है। अनित्य तो यों है कि वे पर्यायें अगले समय में नहीं रहतीं। उनको शुद्ध यों कहा है कि यहाँ पर्यायार्थिकनय में केवल वर्तमान समय की पर्याय पर ही दृष्टि है, अन्य पर दृष्टि ही नहीं है। तब अशुद्धता का कथन न होगा।

सत्ता सापेक्ष अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय-अब सत्तासापेक्ष अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय का स्वरूप कहते हैं। यह इस पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय का चतुर्थ प्रकार है। सत्ता की अपेक्षा से पर्याय के देखने को सत्तासापेक्ष अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय कहते है। जैसे कहना कि पर्याय उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। यहाँ एक पर्याय सामान्य को देखा गया। किसी व्यक्ति की पर्याय पर दृष्टि नहीं है। अतएव यह किसी अंश में निश्चयनय की सीमा में ही है। पर यहाँ सत्तासापेक्ष का दर्शन किया जा रहा है। तब यह कथन हुआ कि उत्पादव्ययधौव्यात्मक पर्याय है। पर्याय उत्पादरूप है, यह तो सर्वजन विदित है। व्ययरूप है यह भी विदित है, किन्तु वह ध्रौव्यरूप कैसे है, यह एक शंका जग सकती है। उत्तर में इतनी दृष्टि देनी है कि यहाँ पर्याय सामान्य की बात है। क्या कभी कोई पदार्थ पर्याय रहित होता है? नहीं होता। तो पर्याय सदा ही तो रही, इस कारण पर्याय भी ध्रौव्य है। यों पर्याय का उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य दिखाना यह है सत्तासापेक्ष अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय। चूँकि इसमें कोई अपेक्षा रखकर यह निरखा गया है इस कारण इसमें अशुद्धता है और पर्याय को ही देखा है अतएव पर्यायार्थिकनय है। और किसी दूसरे को या प्रभाव को नहीं देखा जा रहा है अतएव यह निश्चयनय की सीमा में है।

कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिकनय— अब कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिकनय का स्वरूप कहते हैं। ऐसा आशय कि जहाँ कर्म-उपाधि की अपेक्षा नहीं रखी जाती, केवल परिणमन को ग्रहण किया जा रहा है ऐसे आशय को कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिकनय कहते हैं। जैसे कहना कि सिद्ध पर्याय के समान शुद्ध संसारी पर्याय है। यहाँ केवल परिणमन पर दृष्टि दी गई है। संसारी जीव के भी परिणमन चल रहे हैं। उन परिणमनों को हम विशेष रूप से भी देख सकते हैं और वहाँ हम सामान्य परिणमन रूप से भी देख सकते हैं। पदार्थ के नाते से परिणमन का होना प्रत्येक पदार्थ का धर्म है। संसारी जीव भी एक पदार्थ है और उस पदार्थ के नाते से उसमें भी परिणमन चलते हैं। तो इस नाते से जो परिणमन होना है वह शाश्वत है और परिणमन का कोई परिवर्तन नहीं होता कि आज तो परिणमन है और कल नहीं है, इस निगाह से संसारी जीव को परिणमन-सामान्य से देखा गया है और परिणमन-सामान्य समस्त पदार्थों में होता है, सब जीवों में होता है, सिद्धभगवन्तों में भी होता है। तो ऐसे शुद्ध परिणमन को निगाह में रखकर यह कहना कि सिद्ध पर्याय के समान शुद्ध संसारी पर्याय है। यहाँ शुद्ध परिणमन का अर्थ निर्विकार परिणमन न लेना, तथा परिणमन की अवस्था विशेष न लेना। क्या परिणमन है, किस रूप परिणमन है, ये सब जरा भी ग्रहण न करना, किन्तु पदार्थ के नाते से चूँकि परिणमन होता ही है

इसलिए परिणमन-सामान्य को लेना है। अब निरखिये- यह परिणमन-सामान्य कर्मोपाधि की अपेक्षा नहीं रखता। परिणमन भी अनित्य है। परिणमन-विशेष जैसे अन्य समय में नहीं रहता। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो यह परिणमन-सामान्य भी है जो कि द्रव्यत्व गुण के कारण निरन्तर रहता है ऐसा परिणमन भी समय-समयवर्ती है यों यह अनित्य हो गया। और किसी की अपेक्षा न रखकर मात्र परिणमन की बात कही गई है इस कारण यह शुद्ध हुआ। यों कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य शुद्ध पर्याय का वर्णन करने वाला यह 5 वाँ पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय हुआ।

कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय—अब कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय का स्वरूप कहते हैं। जहाँ कर्म की उपाधि की अपेक्षा हो और अनित्य अशुद्ध पर्याय का ग्रहण हो, उस आशय को कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय कहते हैं। जैसे कहना कि संसारी जीवों के जन्म मरण होता है। यहाँ कर्मोपाधि की अपेक्षा तो स्पष्ट ही है। जन्म और मरण कर्मोपाधि की अपेक्षा बिना नहीं होते। जब आयु कर्म का उदय होता है उसको जन्म कहते हैं और जब आयु कर्म का क्षय होता है तो उसको मरण कहते हैं। ऐसे जन्म मरण कर्मोपाधि की अपेक्षा रखते हैं तथा ये अनित्य हैं। जन्म सदा नहीं रह सकता। इसका विनाश होता है। भले ही जन्म की परम्परा अनेक जीवों में अनन्त काल तक रहेगी लेकिन वस्तुत: जन्म अनित्य ही है और मरण भी अनित्य है। तथा ये सब अशुद्ध परिणमन हैं। उनका परिज्ञान, वर्णन करने को कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय कहते हैं। इस तरह इस एक सिद्धान्त पद्धति में द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय और पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय का वर्णन किया।

उक्त सोलह प्रकारों को निश्चयनय संज्ञा दिये जाने का कारण-यहाँ पर एक शंका हो सकती है कि पर्यायायर्थिकहेतुक निश्चयनय का जो यह वर्णन किया अथवा अन्तर भी समझा कि भेद का जो वर्णन किया उनमें अनेक वर्णन विशेष और पर्याय दृष्टि से भी हैं, फिर उनका नाम निश्चयनय क्यों दिया गया है? समाधान में यह समझना चाहिए कि हाँ, यद्यपि निश्चयनय का विषय एक अखण्ड है और निश्चयनय का यह सब विशेष भी अखण्ड है, लेकिन जहाँ एक वस्तु का वर्णन हो तो वह भी निश्चयनय कहलाता है और भावरूप पयार्य पर दृष्टि हो जाय तो वह व्यवहार हो जाता है। तो अभी जितने भी वर्णन किए हैं, 10 प्रकार के द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय, इन सभी नयों में भेदरूप अभिप्राय की दृष्टि नहीं रखी गई है, इस कारण ये सब प्रकार निश्चयनय के माने गए हैं।

अध्यात्मपद्धति में कथित व्यवहारनय का वर्णन—अब अध्यात्म-पद्धति में जो व्यवहार कहा गया था उस व्यवहारनय का वर्णन करते हैं। व्यवहारनय कहते किसे हैं? जो वस्तु के भेद विशेष अथवा बहिरंग विषय की मुख्यता से अथवा अनेक वस्तुओं के सम्बंधरूप दृष्टि से जो अभिप्राय बनता है

उसे व्यवहारनय कहते हैं। व्यवहारनय का अर्थ भेद करना है- वि, अवहरण, जहाँ विशेष हरण है, टुकड़े करना है, किसी अखण्ड धाम से कुछ हरण करना है वह सब व्यवहार कहलाता है। सिद्धान्तपद्धति में भी व्यवहारनय आया था और उसे द्रव्ययार्थिकनय में गर्भित किया था, वहाँ उसका केवल भेद करना ही अभिप्राय है और यहाँ भेद पर, विशेष पर, बहिरंग विशेष पर, अनेक वस्तुओं के सम्बंध पर, अन्य वस्तु के निमित्त से होने वाले प्रभाव पर दृष्टि दी गई है, इसी कारण यह व्यवहारनय अध्यात्म पद्धति का व्यवहार है। व्यवहारनय के चार भेद हैं- पहिले तो यों दो भेद समझना कि कोई व्यवहारनय तो सद्भूत होता है, जैसा है, जो वास्तविकता है उसका कथन करता है, पर करता है, पर्याय और भेद का। अतएव वह सद्भूत व्यवहारनय कहलाता है। कोई व्यवहारनय असत् का वर्णन करता है, मिथ्या, जो उस वस्तु में स्वयं नहीं होते उनका वर्णन करने वाला असद्भूत व्यवहारनय है। ये दोनों प्रकार के व्यवहारनय मोटे रूप को जब रखते है तब ये उपचरित हो जाते है। जब ये निरपेक्ष रूप से वर्णन में या निरूपण में आते है तो ये अनुपचरित में हो आते हैं। तब व्यवहारनय 4 प्रकार के तो हुए- उपचरित असद्भूतव्यवहारनय, अनुचरित असद्भूतव्यवहारनय, उपचरित सद्भूतव्यवहारनय, अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय।

उपचरित असद्भूतव्यवहारनय—उपचरित असद्भूतव्यवहारनय का स्वरूप है कि किसी द्रव्य के निमित्त से हुआ परिणमन विशेष किसी अन्य द्रव्य को कहे सो असद्भूतव्यवहारनय है। और यही असद्भूत व्यवहार जब पर की अपेक्षा से व्यवहार में आता है तब इसे उपचरित असद्भूतव्यवहारनय कहते हैं। जैसे जो क्रोध स्थूल है, समझ में आता है, नाक, भौं, मुख की मुद्रा निरखकर स्पष्ट विदित हो जाते हैं, ऐसे क्रोध के सम्बन्ध में कहना कि यह क्रोध आत्मा का है। अब यहाँ देखिये कि यह क्रोध आत्मा का असली भाव नहीं है, आत्मा का स्वरूप भी नहीं है किन्तु कर्मोदय के निमित्त से यह क्रोध भाव उत्पन्न होता है, इस कारण यह असद्भूतव्यवहार है। अब इस असद्भूतव्यवहार का चिह्न विशेष निरखकर वर्णन किया गया, अतएव उपचरित असद्भूतव्यवहार है। इसे पौद्गलिक कर्मविपाक कह सकते हैं। ये आत्मा के सत्त्व में, आत्मा के स्वभाव से प्रकट नहीं हुए हैं। यदि कर्मोदय का निमित्त न होता तो ये क्रोधादिक भाव उत्पन्न न हो सकते थे। इस कारण यह सब विपाक पौद्गलिक कर्म का है। केवल जीव में क्रोधादिक विभाव नहीं होते। इस कारण क्रोधादिक को जीव के बताना असत्य है अर्थात् सद्भूत आत्मा के निष्पन्न नहीं होता है, फिर भी जीव के कहना यह तो असद्भूत है और उसे आत्मा में जोड़ा गया यह व्यवहार है। और क्रोधादिक को क्रोधादिक समझकर स्थूलरूप से उनको ग्रहण करना, फिर उन्हें जीव के बतलाना यह उपचरित है। यों उपचरित असद्भूतव्यवहारनय हुआ। देखिये- भावों का, विभावों का, तथ्य का, अतथ्य का सबका वर्णन आत्मा के हित के लिए होता है। इस नय से हम आत्महित के लिए क्या शिक्षा ग्रहण करें? इससे हमें यह शिक्षा मिलती है कि ये क्रोधादिक विभाव

आत्मा के स्वरूप नहीं हैं। क्रोध जीव का है ऐसा कथन उपचरित असद्भूतव्यवहारनय से है, इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि क्रोध जीव का नहीं है। जैसे कोई कहे कि घर इस पुरूष का है, यह कथन मिथ्या अभिप्राय से है। तो इसका अर्थ क्या हुआ कि घर उसका है, यह बात बिल्कुल झूठ है। यह पद्धति तो नय के द्वारा वर्णन करने की है, पर निष्कर्ष कुछ और निकलता है तो यहाँ उपचरित असद्भूतव्यवहारनय से क्या ग्रहण करना कि ये विभाव आत्मा के नहीं है, तो ये क्रोधादिक कषायें असद्भूत है।

अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय—अब देखिये- कुछ कषायें तो विदित हो जाती हैं और कुछ कषायें विदित नहीं होतीं। जैसे कोई मनुष्य सो रहा है तो उससे क्या कषायें नहीं चल रही हैं? देखने वाले लोग तो स्थूलरूप से यह कहते हैं कि यह तो सो रहा है, यह तो कुछ भी कषाय नहीं कर रहा, और सोता हुआ मनुष्य भी अपने आप में यह नहीं जान पा रहा है कि मैं कषाय कर रहा हूँ लेकिन क्या वह कषाय नहीं कर रहा? नहीं कर रहा तब तो उसे सिद्ध भगवान कहो, कारण कि कषायरहित भगवान होते हैं और सोते हुए में भी कषायरहित कहा जा रहा है, पर ऐसा तो नहीं है। उसमें भी निरन्तर कषायें चल रही हैं, किन्तु कषायों का उपचार नहीं बन पा रहा है। तो यह एक स्थूल दृष्टि की बात कही, लेकिन अनुपचरित में ऐसी कषाय का दृष्टान्त न लेना, यह भी उपचरित है, किन्तु जो योगी है, उच्च पुरूष है, ध्यानमग्न है अथवा कोई आत्मचिन्तन में है ऐसे पुरूष के अन्दर भी कषायें चल रही हैं। वे कषायें बुद्धिगत नहीं हैं। उन कषायों को आत्मा की कहना सो यह है अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय। चूंकि कषायें ही बताई गई हैं अतएव कषायें असद्भूत हैं और उनको आत्मा में जोड़ा गया है अतएव यह असद्भूतव्यवहार है, किन्तु इनका स्थूलरूप से ग्रहण नहीं हो पा रहा। आगम के बल पर अथवा बुद्धि के बल पर इन कषायों को कहा जा रहा है इस कारण यह अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय है। इससे भी हमको यह शिक्षा लेना चाहिए कि चाहे कषाय स्थूल हो अथवा सूक्ष्म हो, कषायभाव ही असद्भूत हैं, वे जीव का स्वरूप नहीं हैं। जो जीव का स्वरूप नहीं है उसे जीव का स्वरूप मानने पर तो कषायों का परिहार कभी नहीं हो सकता। जो पुरूष जिस चीज को अपनी मान लेता है वह उस चीज को हटाने का भाव भी नहीं करेगा और जो समझता है कि यह मेरा नहीं है, वह मुझे छोड़ना ही पड़ेगा, उस पदार्थ में यह मेरा है, यह भाव नहीं बनता।

जैसे जब कोई लोग किसी बड़े समारोह में पहुँचने के लिए किसी से उत्तम वस्त्र या कोई गहना उधार ले लेता है और उसे पहनकर चलता है तो उसकी श्रद्धा में यह बना हुआ है कि ये वस्त्र, ये गहने तो हमें देना ही पड़ेगा, उसके चित्त में निरन्तर यह भाव रहता है कि ये मेरे नहीं हैं। और जो मांगा हुआ नहीं है, लोकव्यवहारनय में खुदका वस्त्र, खुद का गहना है, उसे पहनने में उसे ममता है और यह बुद्धि है कि इसे कोई ले ही नहीं सकता। यह तो मेरा ही है। तो वह उसमें

भेद न डाल सकेगा। तो जिसके निर्णय में यह बात बनी हुई है कि ये कषायभाव कर्म के उदय के विपाक हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं, मेरे में तो ये कलंक हैं, मुझसे विपरीत है, ऐसा भाव जो रखेगा वह श्रद्धा से इन कषायों से ही अलग रहकर इन कषायों के परिहार का उद्यम करेगा। तो यों उपचरित असद्भूतव्यवहारनय और अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय के नाम के दो व्यवहारनयों का वर्णन किया।

उपचरित सद्भूतव्यवहारनय—अब व्यवहारनय के उपचरित सद्भूतव्यवहारनय और अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय इन दो प्रकारों के विषय की बात कह रहे हैं। उसी वस्तु का गुण उसी वस्तु में बताना यह सद्भूतव्यवहार है। सद्भूत का अर्थ है मौजूदरूप। जो जिस वस्तु में है उसी वस्तु में बताने को सद्भूत का व्यवहार कहते हैं। परन्तु यह सद्भूत का व्यवहार जब पर की अपेक्षा से होता है तब इसे उपचरित सद्भूतव्यवहारनय कहते हैं, जैसे कहा आत्मा स्व-पर का ज्ञाता है, तो स्व-पर का ज्ञाता होना आत्मा का धर्म है, गुण है और उस गुण को आत्मा में ही बताया है, पर स्व-पर का नाम लेकर बताने में बहुत स्पष्ट समझ आयी है और आत्मा का वह ज्ञातृत्वगुण गुणीआत्मा से भेद करता हुआ कहा गया है। और साथ ही पदार्थों का आलम्बन लेकर उपचार किया है। आत्मा का ज्ञातृत्व गुण आत्मा का ही है और उसे आत्मा का ही बताया गया है। यह तो हुआ सद्भूतपना। जिसका जो धर्म है उसको उसमें ही बताना सो सद्भूतपना है, और ज्ञातृत्व गुण का गुणी आत्मा से भेद किया, अतएव व्यवहारनय है। और स्व एवं परपदार्थ का आलम्बन बताकर उपचार किया इसलिए उपचरित है।

उपचरित सद्भूतव्यवहारनय के लक्षण के परिज्ञान से शिक्षा—यहाँ यह शिक्षा लेना चाहिए कि आत्मा में ज्ञातापन तो स्वयं ही है, क्योंकि यह सद्भूत गुण है, किसी परपदार्थ के कारण नहीं है क्योंकि ज्ञातृत्व परपदार्थ का धर्म नहीं है। पदार्थ तो उसका विषयभूत है, स्व और पर आत्मा के ज्ञान में विषयभूत हुए हैं। तो पदार्थ के कारण ज्ञातृत्वपना नहीं है लेकिन उनका नाम लेकर, आलम्बन लेकर उपचार किया गया है। तो उपचरित तत्त्व का लक्ष्य न करना चाहिए। जिन पदार्थों का उपचार करके आत्मा का ज्ञातृत्वधर्म बताया है उन पदार्थों का लक्ष्य नहीं करना है, किन्तु जिसका सद्भूत गुण है उस पदार्थ का लक्ष्य करना है। नय का प्रयोग भी किसी न किसी शिक्षा के लिए होता है। चाहे वह किसी प्रकार का नय हो। यों तो अब आगे एक प्रसंग में उपचरितोपचारनय भी बताया जायगा याने अत्यन्त भिन्न बात का जिसका कि कुछ प्रसंग ही नहीं उसका सम्बंध जोड़ना, यह उपचरितोपचार है। जिससे यह शिक्षा ली जायगी कि ऐसा जोड़ करना, ऐसा बताना यह मिथ्या है। यह उसका भाव है। तो नयों के प्रयोग में कोई न कोई शिक्षा अवश्य ही बसी हुई है। तो यहाँ शिक्षा यह लेना है कि ज्ञातापन तो स्वयं ही है, पदार्थों के कारण नहीं।

पदार्थ तो मात्र विषयभूत है और उनका इसी कारण उपचार किया गया है। तो उपचरित तत्त्व का लक्ष्य न करना, किन्तु जिस आत्मा का सद्भूत गुण है ज्ञातृत्व उस आत्मा का लक्ष्य करना है।

अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय—अब अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय की बात सुनो। इसमें भी बताया गया है सद्भूत गुण। जिस पदार्थ में जो गुण है वह गुण उस ही पदार्थ में बताया गया है। यह तो है सद्भूत भूतपना और उसका व्यवहार किया गया है। व्यवहार जितने होते है वे भेदपूर्वक ही हो पाते है। वह व्यवहारनय तो कहलाता है, परन्तु इसमें किसी पर का या पदार्थ का आलम्बन लेकर उपचार नहीं किया गया है अतएव अनुपचरित सद्भूतव्यवहार है। जैसे कहा कि ज्ञान जीव का गुण है। यद्यपि ज्ञान में अनेक ज्ञेय प्रतिभास होते हैं, और यहाँ उन ज्ञेयों का नाम लेकर स्पष्ट कहा जा सकता था कि परपदार्थों का ज्ञान करना या स्वपर का ज्ञान करना, लेकिन यहाँ आलम्बन और विशेष दोनों की अपेक्षा नहीं रखी गई। किसी पदार्थ का ज्ञान यहाँ भी नहीं कहा गया तो यह प्रयोग आलम्बन रहित है और किसी प्रकार का ज्ञान ऐसा विशेष भी नहीं कहा गया, इस कारण यह प्रयोग विशेष की अपेक्षा से रहित है, इसी कारण यह अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय है। यहाँ यह जिज्ञासा हो रही होगी कि इस अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय में और निश्चयनय में, इन दोनों में अन्तर क्या हुआ? ज्ञान जीव का गुण है, यह भी तो निश्चयनय का कथन है और ज्ञान जीव का गुण है यह उदाहरण दिया जा रहा है यहाँ अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय के लिए। तो क्या अन्तर रहा? बात सत्य है, अन्तर कुछ नहीं है। परन्तु तत्त्व का प्ररूपण व्यवहारनय से ही होता है। तो प्ररूपण की अपेक्षा इसे व्यवहारनय में शामिल किया है। विषय तो निश्चयनय के समान है। ज्ञान जीव का गुण है। इसमें दो पदार्थों का आलम्बन नहीं और न किसी का प्रभाव दिखाया गया है। अतएव निश्चयनय है, परन्तु प्ररूपण करने वाला व्यवहारनय ही होता है।

प्रकारान्तर से व्यवहारनय के भेदों में शुद्ध सद्भूतव्यवहार—उक्त प्रकार से व्यवहारनय के चार भेद बताये गए हैं-उपचरित असद्भूतव्यवहारनय, अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय, उपचरित सद्भूतव्यवहारनय, अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय। अब व्यवहारनय के 5 प्रकार भी किए जा सकते हैं, उनका वर्णन करेंगे। वे 5 प्रकार हो सकते हैं ये- शुद्ध सद्भूतव्यवहारनय, अशुद्ध सद्भूतव्यवहारनय, स्वजात्यसद्भूतव्यवहारनय, विजात्यसद्भूतव्यवहारनय एवं स्वजाति-विजात्यसद्भूतव्यवहारनय। शुद्ध-सद्भूतव्यवहारनय का यह तात्पर्य है कि शुद्ध-गुण शुद्ध-गुणी में या शुद्ध-पर्याय शुद्ध-पर्यायी में भेद कहना, यह शुद्ध सद्भूतव्यवहारनय है। शुद्ध सद्भूत ही यहाँ बताया गया है।

जैसे कहना कि चेतन द्रव्य में चैतन्य है तो यहाँ चेतन द्रव्य भी शुद्ध गुणी है और चैतन्य शुद्ध गुण है। शुद्ध गुण को शुद्ध गुणी में ही कहा गया है, मगर भेद कहकर बताया है ना, चेतन में चैतन्य है। कोई पृथक् चीज तो नहीं है। जैसे घड़े में चना है। तो घड़ा पृथक् है, चने पृथक् हैं। तो ऐसे पृथकभूत दो आधार नहीं हैं, दो पदार्थ नहीं हैं, लेकिन फिर भी उनका आधार-आधेय रूप में वर्णन करना यह एक भेदपद्धति का व्यवहार है। इस कारण इसको व्यवहारनय में कहा गया है। वहाँ चेतन द्रव्य में चैतन्य है। इस तरह की निरख निश्चयनय जैसी ही है। एक वस्तु का गुण उस ही वस्तु में कहना यही तो निश्चयनय की सीमा है। उस सीमा में यह उदाहरण भी शुद्ध निश्चयनय का है। लेकिन कथन की पद्धति पर दृष्टि देकर कहा जा रहा है यह कि यह शुद्ध सद् भूतव्यवहारनय है। यह तो हुआ शुद्ध-गुण शुद्ध-गुणी में भेद बताने का दृष्टान्त। अब सुनो शुद्ध-पर्याय और शुद्ध-पर्यायी में भेद कहने का दृष्टान्त। जैसे कहा आत्मा की स्वाभाविक पर्याय शुद्ध पर्याय है, देखिये- कितना शुद्ध ढंग से वर्णन है। आत्मा भी शुद्ध, उसकी स्वाभाविक पर्याय जो कही जा रही है वह भी शुद्ध और स्वाभाविक पर्याय शुद्ध दशा में ही प्रकट होती है। उस शुद्ध पर्याय का भी स्मरण किया जा रहा है। तो यों यह सब शुद्ध का ही कथन है। पर आत्मा की स्वाभाविक पर्याय, यों सम्बन्ध जोड़कर भेद पद्धति का कथन कर दिया गया है। सम्बन्ध वहाँ ही जोड़ा जाता है जहाँ भेद प्रदर्शित है। जैसे देवदत्त का घर। देवदत्त की आत्मा का शरीर आदिक जो भी उदाहरण हैं, प्रयोग है वे भेद को सिद्ध करते हैं। मैं जुदा हूँ, शरीर जुदा है। तभी तो कहा गया- उसका शरीर। देवदत्त जुदा है, घर जुदा है। फिर सम्बन्ध बताया है देवदत्त का घर। तो जहाँ भेद होता है वहाँ ही सम्बन्ध का कथन होता है। भेद में तो तादात्म्यरूप का वर्णन होगा। तो यद्यपि यहाँ शुद्ध पर्याय की बात कह रहे हैं और शुद्ध-पर्यायी में ही बता रहे हैं लेकिन भेदपद्धतिसूचक सम्बन्ध वाक्य में कहा जा रहा है, सो वह शुद्ध सद्भूतव्यवहारनय है।

अशुद्ध सद्भूतव्यवहारनय—अब अशुद्ध-सद्भूतव्यवहारनय का स्वरूप बताते हैं। अशुद्ध गुण, अशुद्ध गुणी की, अशुद्ध पर्याय अशुद्ध पर्यायी का भेद बताना अशुद्ध सद्भूतव्यवहारनय है। इस आशय में जो जिसका बताया जायगा वह उसका गुण है। इस कारण से तो यह सद्भूतव्यवहारनय है, लेकिन उस गुण को अशुद्ध रूप में कहा जायगा, इस कारण अशुद्ध सद्भूतव्यवहार है। जैसे यह कहना कि अज्ञानी जीव के भाव अज्ञानरूप हैं, ऐसा देखा जाता है। भाव भी अज्ञान रूप है, और जिस आत्मा में ये अज्ञानरूप भाव उठ रहे हैं वह आत्मा अज्ञानी ही तो कहा जायगा। यह बात सत्य है। अज्ञानी जीव के भाव अज्ञानरूप हैं, लेकिन अशुद्ध गुण-गुणी का यहाँ भेद कथन किया गया है, या अशुद्ध पर्याय में भेद पद्धति से वर्णन किया है। इस कारण यह अशुद्ध सद्भूतव्यवहार है। यों अशुद्ध व शुद्ध दो प्रकार होते हैं सद्भूतव्यवहार के।

स्वजात्यसद्भूतव्यवहार—अब असद्भूतव्यवहार का वर्णन सुनिये- चूँकि असद्भूत है किसी उपचार को लेकर सम्बन्ध को लेकर कथन करना अथवा जो वास्तव में सद्भूत नहीं है, उस पदार्थ में नहीं है, उसमें बताना सो सब असद्भूतव्यवहार है। इस व्यवहार में जिनका सम्बंध किसी पदार्थ से कहा जाता है, वे पदार्थ होते हैं ३ प्रकार के। एक तो अपनी जाति का, दूसरा अन्य जाति का और तीसरा मिले हुए स्वजाति में और विजाति में पाया गया। यों ३ आधार होने से, तीन प्रकार के अवलम्बन होने से असद्भूतव्यवहार तीन प्रकार के हो जाया करते हैं। जिनमें प्रथम है स्वजातित्यसद्भूतव्यवहार। असद्भूत व्यवहार का अर्थ यह है कि वैसी बात तो नहीं है, जैसाकि कह रहे हैं, पर प्रयोजनवश किसी सम्बंध के कारण कह रहे हैं, इस कारण वह असद्भूतव्यवहार है। जैसे प्रयोग किया कि परमाणु बहुप्रदेशी है तो यद्यपि परमाणु बहुप्रदेशी नहीं होता, परमाणु के एक ही प्रदेश है। अविभागी निरंश परमाणु होते हैं, अथवा कहिये ऐसा द्रव्य, ऐसा पुद्गल, जिसका कि और भाग होता ही नहीं है, और वस्तुत: किसी भी सत् पुद्गल के भाग नहीं होते। प्रत्येक द्रव्य अखण्ड होता है, जीव भी अखण्ड है, लेकिन अखण्ड एक जीव में प्रदेश बहुत हैं। ऐसे जीव को बहुप्रदेशी कहना यह असद्भूत बात नहीं है, लेकिन परमाणु जो कि अखण्ड ही होता है वह एकप्रदेशी ही है। अब परमार्थत: एकप्रदेशी परमाणु का स्कंध चूंकि बहुप्रदेशी होता है और स्कंधों में परमाणु ही तो हैं तो परमाणु को बहुप्रदेशी कहना यह स्वजात्यसद्भूतव्यवहारनय है।

विजात्यसद्भूतव्यवहारनय—जब किसी असद्भूत तत्त्व का व्यवहार अन्य जाति में किया जाता है तब वह विजात्यसद्भूतव्यवहारनय कहलाता है। विजातीय परद्रव्य के सम्बंध से उपचरित धर्म को कहना विजात्यसद्भूतव्यवहारनय है। जैसे- प्रयोग किया- मतिज्ञान मूर्त है तो यहाँ चूँकि मतिज्ञान बहिरंग मूर्तद्रव्य के कारण से उत्पन्न होता है। मूर्त द्रव्य है कर्म। ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हो, जिसमें कि कुछ तो अनुदय है, कुछ उदय है, ऐसे मूर्तद्रव्य के कारण ही तो मतिज्ञान उत्पन्न होता है तथा मूर्त इन्द्रियों के निमित्त से उत्पन्न होता है तो इस मतिज्ञान को मूर्त कह देना यह विजात्यसद्भूतव्यवहार है। मतिज्ञान मूर्त कर्मद्रव्य के क्षयोपशम के निमित्त से उत्पन्न होता है, मूर्तद्रव्य का विषय लेकर उत्पन्न होता है अथवा मूर्त इन्द्रिय के द्वारा मन के अवलम्बन से उत्पन्न होता है, इतना मूर्त द्रव्य का सम्बंध है मतिज्ञान की निष्पत्ति के प्रसंग में, इस कारण मतिज्ञान को मूर्त कह देना, यह है विजात्यसद्भूतव्यवहारनय। इससे यह शिक्षा लेना है, यह अपनी मान्यता बनाना है कि मतिज्ञान वस्तुत: मूर्त नहीं है, किन्तु आत्मा के ज्ञानगुण का एक इस तरीके में विकास है। ज्ञान तो ज्ञान है, मतिज्ञान में भी जितना ज्ञानत्व है वह ज्ञान है। तो वस्तुत: मतिज्ञान मूर्त नहीं है, लेकिन यहाँ सम्बंध से उपचरित कथन किया है कि मतिज्ञान मूर्त है। सो यह कथन विजात्यसद्भूतव्यवहारनय से होता है।

स्वजातिविजात्यसद्भूतव्यवहारनय—अब स्वजातिविजात्यसद्भूतव्यवहारनय का स्वरूप कहते हैं। स्वजाति और विजाति दोनों में असद्भूत के कथन करने को स्वजाति-विजात्यसद्भूतव्यवहार कहते हैं। जैसे कहा कि जीव और अजीव दोनों ज्ञान हैं, ज्ञान के विषय होने से, तो यहाँ जीव और अजीव ये दोनों ज्ञान तो नहीं हैं फिर भी इन्हें ज्ञान कहना असद्भूत कहलाया, लेकिन ज्ञान के विषयभूत होने से उपचार करके यह कथन किया है, इस कारण यह स्वजातिविजात्यसद्भूतव्यवहार कहलाया। अब इस प्रसंग में यह कोई जिज्ञासा कर सकता है कि फिर पुत्र, पैसा, देश, नगर आदिक ये मेरे है यह भी तो व्यवहार होता है। यह व्यवहार किसमें गर्भित किया जायगा? उसका उत्तर यह है कि यह व्यवहार तो है, परन्तु उपचार मात्र है, मिथ्या है इसमें सम्बंध रंच भी नहीं है। यहाँ तो ज्ञान-विज्ञान की चर्चा चल रही है, इस चर्चा में ऐसे झूठे उपचार की प्रतिष्ठा नहीं है, ये असत्य कल्पनायें हैं। तो असत्य कल्पनाओं का वर्णन करना इस ज्ञान के वातावरण में निरर्थक समझा जाता है। फिर भी यदि कोई हठ करे कि हमको तो बताओ ही। चाहे असत्य कल्पना है फिर भी आखिर आशय तो है कुछ। वह कौनसा आशय है? तो उस आशय को अगर किसी शब्द-भाषा में कहना चाहोगे तो उसका नाम पड़ेगा उपचरित असद्भूतव्यवहार। असद्भूत है और साथ में उपचरित है जैसे यहाँ वस्त्र, देश आदि मेरे हैं ऐसा कोई कहे तो यह झूठा कथन है, किसी प्रकार का सम्बंध नहीं है, फिर भी व्यवहार किया गया है। तो इसको उपचरित असद्भूतव्यवहार कहेंगे। तो स्वजाति, विजाति और स्वजातिविजाति इन तीनों को साथ लगायें याने अभी जो तीनों का वर्णन किया है, उपचरित संज्ञा से युक्त होकर यह व्यवहार भी बताया जा सकता है, इस तरह उपचरित असद्भूतव्यवहार के भी ये तीन प्रकार माने जायेंगे- स्वजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार, विजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार और स्वजातिविजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार। जैसे कहा कि पुत्र, स्त्री, बंधु मेरे हैं तो पुत्र, स्त्री आदिक सजातीय हैं। यह कहने वाला चेतन है, जिनको अपना माना जा रहा है वे भी चेतन हैं। इस चैतन्यता के नाते से सब स्वजातीय हैं। तो स्वजातीय परवस्तुओं में अपना सम्बंध बताना सो स्वजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार है। असत्य है अतएव असद्भूत है और बिल्कुल भिन्न है, कोई सम्बंध ही नहीं है, फिर भी मोहवश कल्पना की गई है, इस कारण यह उपचरित है। जब अचेतन पदार्थों से अपना सम्बंध बताया गया तो यह विजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार होगा। जो परवस्तु विजातीय है, अचेतन है उनमें अपना सम्बंध बताया। तो विजातीय का उपचार करके असद्भूत का व्यवहार किया गया है। जैसे वस्त्र, मकान आदि मेरे हैं, तो ये मकान, वस्त्र आदि अचेतन हैं और कल्पना करने वाला पुरूष चेतन है तो जिनसे सम्बंध जोड़ा है इस मोही पुरूष ने, वे पदार्थ विजातीय हैं। उन विजातीय परवस्तुओं को अपना मानने की कल्पना की है, इस कारण यह विजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार है। अब जो पदार्थ स्वजाति और विजाति से मिले हुए हैं उनमें कोई स्वजाति है, कोई विजाति है और उनके समूह का नाम उससे प्रकट किया गया है ऐसे समूह में अपना सम्बंध बताने को स्वजातिविजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार

कहते हैं। जैसे कहना कि देश, नगर मेरा है तो देश क्या चीज है? बहुत से परिजनों का, बन्धुओं का (चेतन का), मकान आदिक अचेतन गाँवों का जो समूह है सो देश है। नगर भी मकान, मनुष्य, पशु आदिक सभी के समूह का नाम है। तो नगर कहने में स्वजाति और विजाति दोनों पदार्थ आ गए। अब उसे कहना कि मेरा है, यह स्वजाति और विजाति पदार्थों में उपचार से असद् भूत का व्यवहार किया गया है।

नयों के प्रकारों की निष्पत्ति का मूल आधार भेदनय और अभेदनय—यहाँ तक सभी पद्धतियों से नयों का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया है। इसका वर्णन करने के बाद एक जिज्ञासा यह होती है कि नयों का विस्तार जो पहिले किया, संक्षेप में उसे मूलत: समझना चाहें तो ये सभी नय किसमें गर्भित होंगे? ऐसी संक्षिप्त दृष्टियाँ कितनी हो सकती हैं? इस जिज्ञासा का समाधान यह है कि सब नय भेद और अभेद इन दो प्रकारों में गर्भित होते हैं। किसी भी पद्धति से, किसी भी प्रकार से कोई भी नय बोला जाय, या तो वह भेद की प्रधानता से कथन करने वाला होगा या अभेद की प्रधानता से कथन करने वाला होगा। तो वे नय या तो अभेदनय होंगे या भेदनय। वैसे तो नयों के विस्तार की बात यह है कि जितना कुछ अब तक बताया गया उतना ही नय का विस्तार नहीं है किन्तु जितने वचन हो सकते हैं, जितने अभिप्राय हो सकते हैं उतने ही नय जानना चाहिए। यों प्रयोजनवश और और प्रकार से भी नय समझ लेना चाहिए। तो नय कितने हैं? जितनी दृष्टियाँ हैं, लेकिन कितने ही नय हों, उन सब नयों में यह कला अवश्य है कि कोई नय तो भेद की प्रधानता से कथन करने वाला है और कोई नय अभेद की प्रधानता से कथन करने वाला है।

अब यह जिज्ञासा होती है कि इन नयों को किसी ने भेदनय में और किसी ने अभेदनय में गर्भित किया, लेकिन जो उपचरित असद्भूतव्यवहार है यह भी किसी नय में शामिल हो सकता है। यह भेदनय कहलायेगा अथवा अभेदनय? वैसे तो अभेदनय जैसे लगता है कि है बिल्कुल भिन्न चीजें और उनको अपने से अभेद कर डाला तो यह तो बहुत बढ़िया निश्चयनय होगा। तो यह उपचरित व्यवहार क्या ऐसे शुद्ध नयों में भी जा सकेगा या किसी अन्य नय में? समाधान इसका यह है कि ये तो सब उपचरितनय हैं। ये नय न तो भेदनय में आते हैं, न अभेदनय में। या यों कह लीजिये कि ये तो कोई नय ही नहीं हैं। निश्चयनय में तो क्या, अभेदनय में तो क्या? ये तो व्यवहारनय भी नहीं हैं। ये तो झूठे नय, मिथ्या कल्पनायें, उपचार आदिक नामों से कहे जा सकते हैं। इसलिए न तो ये भेदनय हैं और न अभेदनय हैं। नयों में जिनका कि कोई सम्बंध है, निमित्तनैमित्तिक, आधार-आधेय भाव हो अथवा गुणपर्याय का कथन हो, अभेद में भेद किया जा रहा हो, ऐसी बातें हों तो वहाँ नय की खोज करना चाहिए कि यह किस नय में गर्भित होता है? लेकिन जो मिथ्या है, मोह की उद्दण्डता है, जिनसे कुछ सम्बंध नहीं है, जबरदस्ती की मान्यता है कि मकान मेरा है, स्त्री, पुत्रादिक मेरे हैं तो यह तो मोहमयी कल्पना है। यह किस नय में कहा

जायगा? अगर नाम ही रखना है तो रख लीजिए मिथ्यानय, कुनय, मोहनय आदिक, इन शब्दों से कह लीजिए अथवा कह लीजिए यह उपचरितोपचरित असद्‌भूतव्यवहार है, यह वस्तुत: नय नहीं है। नय तो मूल में दो हैं- अभेदनय और भेदनय अथवा निश्चयनय और व्यवहारनय अथवा द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय। कभी किसी तत्त्व का वर्णन संक्षेप रूप से किया जाय और कभी उस तत्त्व का वर्णन विशेष रूप में किया जाय तो संक्षेप रूप में किए गए वर्णन को द्रव्यार्थिकनय के आशय की बात कही जायगी। विस्तार में कहे गए वर्णन को पर्यायार्थिकनय की बात कही जायगी, वहाँ इन शब्दों का अर्थ भिन्न हो जायगा। द्रव्य जैसे अभेद होता है तो संक्षेप भी एक दृष्टि में अभेद होता है। पर्याय जैसे भिन्न-भिन्न हो गए तो विस्तार का कथन भी भिन्न-भिन्न रूप से किया जाता है। इस समानता के कारण संक्षेप कथन को द्रव्यार्थिकनय का कथन कहा गया है और विस्तार कथन को पर्यायार्थिकनय के आशय से कथन किया गया है। तो यहाँ भी अभेद और भेद की बात आयी इसलिए यह सिद्धान्त जानना चाहिए कि नयों की निष्पत्ति भेद और अभेद की प्रधानता पर निर्भर है।

नयों के परिज्ञान का लाभ—नयों का वर्णन करने के बाद अब यह जिज्ञासा की जा रही है कि नयों के परिज्ञान से लाभ क्या है? किसलिए नयों की बात जानना चाहिए? क्योंकि नयवाद का ज्ञान एक गहन वन की तरह दुरूह है, कठिनता से विचार करने योग्य है, इसीलिए संतों ने यह बताया है कि यह नयचक्र है। जो इसको सँभालकर प्रयोग करना जानता है वह तो पार पा जायगा और जो इसकी सँभाल नहीं जानता तो जैसे किसी चक्र से अपना सिर ही कट जाय इसी तरह की बात यह होगी कि मेरे इस भ्रमरूप नय के प्रयोग से मेरी स्वयं बरबादी हो जायगी। इसलिए इस नयचक्र का बड़ा कठिन परिचय बताया गया है। जो पार पा लेगा वह संकटों से पार हो जायगा और जो पार न पा सका, किसी भ्रम में अटक गया वह स्वयं अपने आपको बरबाद कर लेगा। तो नय के परिज्ञान का कितना विशिष्ट प्रयोजन है? इसी प्रयोजन को बताते हैं कि नय के परिज्ञान से लाभ यह है कि ज्ञानी ने भेदनय से और अभेदनय से वस्तु के तथ्यों को जान लिया है, गुण पर्याय क्या है, वस्तु स्वयं अपने आपमें क्या है? उसकी अखण्डता उसके विस्तार, सब कुछ ज्ञान में आ गए हैं। अब यह ज्ञानी भेदनय को गौण कर देता है, जिसमें विकल्प बहुत हैं, जिसमें बहुत ढोपे हैं, ऐसे भेदनय को गौण करते हैं और अभेदनय को मुख्य बताते हैं। नयों के परिज्ञान से सबसे पहिले प्रगति में कदम यह उठाया जाता है। वस्तु का परिज्ञान किया भेदनय से और अभेदनय से। अब उसका यह कदम है कि भेदनय को गौण करके अभेदनय की मुख्यता करेंगे। तो अभेदनय से जैसा कि निश्चयनय का विषय बताया गया है उस विषय के परिचय में लगेगा। अब नय से वस्तु के ध्रुव अचल स्वभाव को निरखेगा, भेद की बात गौण करेगा। गुणभेद, पर्यायभेद इन सबको गौण करके अब यह अभेदनय में आया है। अब इसके बाद उसका अगला कदम यह होता है कि अभेदनय को भी गौण कर देता है और इस अभेदनय से भी परे जो एक अनुभव मात्र

की स्थिति होती है उस स्थिति में पहुंचता है। हित के लिए करना क्या है? पहिले वस्तुओं का नाना प्रकार से परिज्ञान करना है, फिर वस्तु के अखण्ड सद्भूत स्वरूप में पहुँचना है, फिर अपने निर्विकल्प स्व में आना है। इन तीन बातों का प्रयोजन है। सो भेदनय से पहिले वस्तुओं को भिन्न-भिन्न रूप से बड़े विस्तार से जाना है, फिर इसके पश्चात् अभेदनय की मुख्यता से वस्तु के अखण्ड स्वरूप को जाना है। अब इस अभेदनय और निश्चयनय के विकल्पों को भी तोड़कर केवल निर्विकल्प ज्ञानस्वभावमात्र निज के अनुभव में आना है। तो इस अनुभव तक पहुंचने पर जीव का कल्याण है, कर्मों से, जन्ममरण से, संकटों से छुटकारा मिलेगा उसे। यही आत्मा का सर्वोच्च वैभव है, यही मंगलमय समाधि है। इसके लाभ का उपाय बनाने में कोई चलेगा तो सर्वप्रथम यह उपाय बनाना होगा कि नयों के द्वारा वस्तु का सही-सही परिज्ञान कर लें। सो इन नयों के परिज्ञान का लाभ यह है कि यह अन्त में नयों के विकल्प से परे होकर शाश्वत, आनन्दमय, मंगलमय समाधि को प्राप्त होता है, याने ऐसे अपने अनुभव में आ जाता है कि जिसमें सर्व संकट समाप्त हो जाते हैं, और जो आत्मा का सर्वोच्च वैभव है, सर्वोच्च पुरूषार्थ है, उसे प्राप्त कर लेता है। तब यह समझिये कि नयों का परिज्ञान करना इस जीव को कितना लाभकारी है? इसी कारण आत्मतत्त्व का और आनन्द का यथार्थ स्वरूप समझने के लिए लक्षण, प्रमाण का वर्णन करने के बाद नयों का कुछ विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

वस्तुपरिचय के उपायभूत निक्षेप का वर्णन—आनन्द के लाभ के लिए आनन्द और आनन्द जिसे पाना है उसके स्वरूप को जानना आवश्यक है। तो यहाँ मुख्य बात चल रही थी कि आत्मा का स्वरूप जानना है। तो स्वरूप जानने का तरीका क्या है? उनका तरीका लक्षण, प्रमाण, नय, निक्षेप तथा निर्देश आदिक अनुयोग है। जिनमें से लक्षण, प्रमाण और नय इन तीन तरीकों का वर्णन किया, अब चौथा उपाय जो निक्षेप है उसका वर्णन करते हैं। पदार्थ का ज्ञान निक्षेप द्वारा होता है। निक्षेप किसे कहते हैं, यह बात निक्षेप शब्द में जो उपसर्ग लगा है और धातु है उससे ही बोध हो जाता है। तो निक्षेप में दो शब्द हैं- नि और क्षेप। नी का अर्थ है भली प्रकार, न्याय नीति अनुसार, लोक व्यवहार के अनुसार। क्षेप का अर्थ है रख देना अर्थात् दूसरे के चित्त की बात जमा देना, जिसका भावार्थ हुआ लोकव्यवहार करना। लोकव्यवहार करने को निक्षेप कहते हैं। यहाँ यह जिज्ञासा की जा सकती है कि यदि व्यवहार का नाम ही निक्षेप है तो यह जानने का उपाय कैसे बना? व्यवहार की बात है निक्षेप, जानने की बात कहाँ आयी? उसका समाधान यों करना चाहिए कि जानना भी तो व्यवहार की बात है। जानने के बिना व्यवहार बनता नहीं। तो जहाँ व्यवहार की बात कह दी जाय, लोकव्यवहार करने को निक्षेप कहते हैं, उसका अर्थ यही है कि निक्षेप जानने का उपाय है। निक्षेप का अर्थ है नि मायने निश्चय में, क्षेप मायने पहुँचा दे, जो किसी निश्चय में पहुँचा दे उसे निक्षेप कहते हैं।

नामनिक्षेप एवं स्थापनानिक्षेप—निक्षेप के चार भेद हैं- नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप, द्रव्यनिक्षेप और भावनिक्षेप। नामनिक्षेप का अर्थ यह है कि नाम के आधार से किसी निश्चय में पहुँचा देना, किसी वस्तु का कुछ भी नाम रख देना, बस यही है नामनिक्षेप। नामनिक्षेप में नाम की प्रधानता है और लोकव्यवहार चलाने के लिए नाम की सर्वप्रथम आवश्यकता होती है। मानो किसी मनुष्य का नाम ही न रखा जाय तो क्या काम चलेगा? न व्यापार, न व्यवहार, न बोलना, न रिश्ता सम्बंध, न एक दूसरे से कुछ कह सकना, कोई भी व्यवहार न बनेगा। तो व्यवहार करने के लिए नाम की सर्वप्रथम आवश्यकता होती है। स्थापनानिक्षेप कहते हैं किसी पदार्थ में अन्य पदार्थ के संकल्प करने को, अर्थात् स्थापना करने को। जैसे प्रतिमा में अरहंत की स्थापना करना, तीर्थंकर की स्थापना करना, अथवा शतरंज की गोटों में हाथी, घोड़ा आदि की स्थापना करना, यह सब स्थापनानिक्षेप हैं। स्थापना के विषयभूत पदार्थ दो प्रकार के होते हैं- तदाकार और अतदाकार। जिसकी स्थापना की जा रही है उसका आकार भी मिल जाय, जिसमें कि स्थापना करना है तो उसे तदाकार स्थापना कहते हैं और जिसकी स्थापना करना है उसका आकार न मिले, भिन्न आकार हो फिर भी उसमें स्थापना तो अतदाकार स्थापना है। जैसे प्रतिमा में तीर्थंकर की स्थापना करना यह तदाकार स्थापना है, क्योंकि हाथ, पैर, आसन, मुद्रा, मुख सब उन प्रभु की तरह बनाया जाता है। तो उस आकार की समानता होने से मूर्ति में प्रभु की स्थापना करना तदाकार स्थापना है, और जहाँ आकार तो नहीं बनाया, जैसे कोई पत्थर ही रख दिया और किसी देवता की स्थापना कर दी तो यह अतदाकार स्थापना है अथवा शतरंज की गोट, वे तो काठ आदिक की बनी हुई है, उनमें कोई मनुष्य का आकार तो नहीं हैं, फिर भी बादशाह, वजीर आदिक की स्थापना करना यह अतदाकार स्थापना है। अब यहाँ एक विशेष इस बात की चर्चा करते हैं कि नामनिक्षेप में भी नाम रखा गया और स्थापनानिक्षेप में भी नाम रखा गया। जैसे प्रतिमा में ये आदिनाथ हैं, ये शान्तिनाथ हैं, यों नाम रखा गया, अथवा शतरंज की गोटों में यह बादशाह है, यह वजीर है यों नाम रखा गया, तब इन दोनों निक्षेपों में अन्तर क्या है? सुनो- नाम निक्षेप में भी नाम बोला जाता है किन्तु वहाँ पूज्य-अपूज्य बुद्धि नहीं होती, सम्मान-अपमान की बुद्धि नहीं है। वहाँ केवल नाम को बताकर चीज का संकेत करते हैं कि यह है अमुक चीज, किन्तु स्थापनानिक्षेप में पूज्य-अपूज्यमान-अपमान की बुद्धि होती है। जैसे प्रतिबिम्ब में अरहंत की स्थापना की तो पूज्य बुद्धि हो गई। यह भगवंत हैं, इस तरह की उनमें स्थापना करने से एक सत्कार और पूज्यता की बुद्धि आ जाती है, और जो स्थाप्य पदार्थ है जैसे कि लोग रामलीलाओं में एक रावण की मूर्ति बनाते हैं, उसमें अपमान की बुद्धि होती है। तो स्थापना में पूज्य-अपूज्य सी बुद्धि चलती है, किन्तु नामनिक्षेप में पूज्यता अथवा अपूज्यता की बुद्धि नहीं होती। यह है नाम और स्थापनानिक्षेप में अन्तर।

द्रव्यनिक्षेप एवं भावनिक्षेप—अब तीसरा निक्षेप है द्रव्यनिक्षेप। भूत या भविष्य की पर्याय को वर्तमान में कहना यह द्रव्यनिक्षेप है। द्रव्य चूँकि शाश्वत होता है, उसकी समानता लेकर निक्षेप में यह लक्ष्य बनाया है कि आगे-पीछे की बात को वर्तमान में कह देना सो द्रव्यनिक्षेप है। जैसे कोई पुरूष पहिले कोतवाल था, अब कोतवाल नहीं रहा, पृथक् कर दिया गया या रिटायर हो गया, अब उस पद पर नहीं है, फिर भी उसे कोतवाल कहना यह द्रव्यनिक्षेप है। था, ऐसा निश्चय किया गया हो वह द्रव्यनिक्षेप है, जैसे राजपुत्र को युवराज पद दे दिया गया तो इसका अर्थ है कि अब वह राजा होगा, सो उसे नजर में लेकर अभी से राजा कह देना सो द्रव्यनिक्षेप है। व्यवहार जैसे नामनिक्षेप के आश्रय से होता है। नामनिक्षेप का अवलम्बन न हो तो कोई व्यवहार ही नहीं चल सकता। क्या नाम लेना है, किसे बुलाना है, कौनसा नाम लेकर चीज धरना-उठाना है, क्या खाना-पीना है, क्या स्मरण करना है? ये सब नाम रखे बिना लोकव्यवहार चल ही नहीं सकता। ऐसे ही स्थापना के बिना भी नहीं चलता और यहाँ समझिये- द्रव्यनिक्षेप के बिना भी व्यवहार न चल सकेगा। ये व्यवहार होते हैं और उन व्यवहारों में रहस्य बताया जाता है, यही व्यवहार का फल है। तो द्रव्यनिक्षेप का अर्थ यह है कि भूत अथवा भविष्य की पर्यायों को वर्तमान में कहना-यह है द्रव्यनिक्षेप। अब भावनिक्षेप का स्वरूप कहते हैं। वर्तमान समय की पर्याय को वर्तमान में कहना, जो हो रहा है, जो भवन है उस हो रहे को हो रहे के समय में कहना, यह है भावनिक्षेप। जैसे कोई पुरूष जब भी कोतवाल हो तब कहना कि यह कोतवाल है यह भावनिक्षेप की बात है। व्यवहार में यह परख लोगों को सुगम रीति से बनी ही रहती है कि यह वर्तमान की बात वर्तमान में कही जा रही है, यह भूत या भविष्य पर्याय की बात वर्तमानरूप से कही जा रही है। बोल में यद्यपि ऐसा ही कह दिया कि जो कोतवाल था अब नहीं है उसे भी कहते हैं कि कोतवाल साहब बैठिये, और जो इस समय कोतवाली पद पर है उसे भी यों ही कहते हैं। लेकिन कहने और सुनने वाले पुरूष, परखने वाले पुरूष द्रव्यनिक्षेप और भावनिक्षेप के अन्तर को जानते हैं। चाहे वे कोई इन शब्दों को न बोलें, पर इन शब्दों द्वारा जो वाच्य होते है उसे परख लेते हैं। यों भावनिक्षेप की बात कही है कि वर्तमान में जो है उसे वर्तमान में ही कहना। ये 4 निक्षेप जो अभी बतायें गए हैं और जिनका उपयोग व्यवहार कहा गया है वह सब एक लौकिक पद्धति में कहा गया है।

वस्तुपरिज्ञान में चारों निक्षेपों के योजन की अनिवार्य विधि—अब इन निक्षेपों का एक ही वस्तु में, वस्तुस्वरूप में या अध्यात्मविधि में किस प्रकार व्यवहार होता है, परिचय होता है यह बात अब बतलाते हैं। यों प्रत्येक ज्ञानों में कुछ भी ज्ञान किया गया हो, वहाँ ये चारों पद्धतियाँ आ ही जाती हैं। सर्व तत्त्वों का ज्ञाता अनुभवी जीव जब कुछ भी व्यवहार करने को होता है तो व्यवहार करने से उसकी चार पद्धतियाँ बन जाती हैं, जैसे जब व्यवहार करेगा तब कुछ भी शब्द प्रयोग तो होगा ही, अन्त: हो और बाहर हो, मुख से बोलकर हो मगर शब्द बोलने का प्रयास सबसे पहिले होता है, जो जाना उसके बारे में उसका कुछ नाम पहिले बोध में आता है। तो बोध में आने के बाद इस

नाम से जो कुछ कहा गया है वह यह पदार्थ है, यह भी भाव में पड़ा हुआ है। यहाँ अन्य में अन्य की स्थापना की बात नहीं कही जा रही है, किन्तु इस नाम के द्वारा यह पदार्थ समझना चाहिए, ऐसी स्थापना की बात कही जा रही है। जैसे चौकी कहा तो चौकी नाम हुआ और 'चौकी' इस नाम के द्वारा ऐसे पाये जाने वाले इस तख्त का ज्ञान कर लेना चाहिए, ऐसी बात आ जाती है। तो नामनिक्षेप के बाद स्थापनानिक्षेप हुआ। अब परख लीजिए। जिस काल में ज्ञान हुआ और ज्ञान होने के बाद जब व्यवहार करने लगा, दूसरे को समझाने लगा तब समझाना तो हुआ बाद में और ज्ञान हुआ उसको पहिले। किसी भी पदार्थ का परिज्ञान होना और दूसरों को समझाना, इन दोनों में समय भेद है। पहिले ज्ञान हुआ, पीछे समझाने का यत्न हुआ। तो अब देखिये- जिस चीज को समझाया और जो बात बताई गई वह बात उस काल में तो अब न रही। जैसे कि कुछ क्षणिकवादी लोग कहते हैं कि जब चीज उत्पन्न होती है तब तो वह कही नहीं जाती और जब कही जाती है तब वह वस्तु नहीं रहती। तब यों ही समझ लीजिए इस द्रव्यनिक्षेप में, जिस चीज का व्यवहार किया, जिसका वर्णन किया, उसका ज्ञान पहिले हो चुका था। तो भूत की बात को इसने वर्तमान में कहा अतएव यह द्रव्यनिक्षेप हुआ। अथवा जान लिया, अब जानने के बाद उसका व्यवहार आगे होगा। अब वह अर्थ प्रयोग में आने ही वाला होने को है तो यह द्रव्य निक्षेप हुआ और जब उस प्रयोग में लग रहें, वर्णन में अर्थ आ रहा तो उस समय का व्यवहार भावनिक्षेप हुआ।

पदार्थ-परिचय में चारों निक्षेपों की अनिवार्यता—निक्षेपों की विधि में पहिले तो लोकपद्धति की विधि से निक्षेप का वर्णन किया गया था कि किस प्रकार नाम, स्थापना, द्रव्य और भावनिक्षेप की योजना बनती है। यहाँ यह बतला रहे हैं कि ये चारों की चारों प्रत्येक परिचय में आवश्यक ही होते हैं। ऐसा वहाँ भंग नहीं है कि चलो नामनिक्षेप हो गया, द्रव्य या भावनिक्षेप और कर लें। स्थापनानिक्षेप तो कहीं जरूरी हुआ तो बनाया, न जरूरी हुआ तो न बनाया, तो ऐसा नहीं है। प्रत्येक परिचय में चारों ही निक्षेप आ जाया करते हैं। जब कुछ भी जानने को होता है तो अन्त: या बाहर में उस जाति का शब्द बनता है जिसका एकान्त करके शब्दाद्वैतवादियों ने एक सिद्धान्त ही अलग बना लिया कि सारा जगत शब्दमय है। चूँकि ज्ञान होता है ना, तो जिस पदार्थ का ज्ञान हुआ उसके नाम का शब्द तो साथ ही उठ बैठा। तो ज्ञान भी देखो शब्दमय हुआ और यहाँ पदार्थ भी शब्दमय दिख रहा। किन्तु जब भींत कहा तो यह भींत पदार्थ समझ में आया तो इसका अस्तित्व उस भींत शब्द में भर गया। तो यह भी शब्दमय है, ज्ञान भी शब्दमय है। सब कुछ शब्दमय बताया गया, लेकिन वह सिद्धान्त युक्त नहीं है। शब्द तो उसके परिज्ञान का एक साधन है। तो परिज्ञान में सर्वप्रथम नाम आता है। तो व्यवहार में नामनिक्षेप समाया हुआ है ना? नाम के साथ फिर यह बोध होता कि यह है यह चीज। जिसका नाम रखा गया वह यह है। इस नाम के द्वारा वाच्य यह है, इस तरह के नाम द्वारा उसकी स्थापना बनी। तो स्थापना भी

परिचय में आ ही गई है, स्थापना को भी आना ही पड़ा। उस स्थापना के बिना आगे का व्यवहार रूक जाता है। फिर स्थापना से वस्तु का परिचय हुआ तो इस परिचय के बाद अब यह प्रयोग में आने ही वाला है तो परिचय और प्रयोग इनमें अभी अन्तर हो गया। तो यहाँ कालभेद का अभेद करके बात कही गई। तो यह द्रव्यनिक्षेप की पद्धति हुई। फिर जब व्यवहार कर रहे हैं उस ही समय की बात, उस ही समय कहने का पौरूष कर रहे हैं, वहाँ भावनिक्षेप हुआ। तब देखो कि किसी भी पदार्थ को लाने की पद्धति में चार निक्षेप आ ही जाते हैं।

प्रयोग्य निक्षेपों के क्रम की प्राकृतिकता—निक्षेपों के सम्बंध में इतना और विचार कर लीजिए कि चार निक्षेपों का काल क्या क्रम से है अथवा एक साथ है अथवा व्यवहार क्रम से होता है या एक साथ होता है। तो जब इस पर विचार करेंगे तो वस्तुत: तो यह सिद्ध होगा किसी पदार्थ के व्यवहार में ये चार निक्षेप क्रम से आते हैं और इसी क्रम से आते हैं। पहिले नाम, फिर स्थापना, फिर द्रव्य, फिर भाव। लेकिन हम लोगों के जो ज्ञान चलते रहते हैं, वे इतना अभ्यस्त हैं, उनकी कला इतनी जल्दी है कि हम इन निक्षेपों की इतनी जल्दी होने वाली वृत्ति को हम नहीं जान पाते हैं। चौकी, चटाई आदिक ये सब व्यवहार बन गए लेकिन नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव के परिचयपूर्वक हुई है। यह ज्ञात नहीं होता लेकिन होता है विधि से ही ज्ञान। लेकिन विधि के निक्षेप की बात कुछ अलग है। यहाँ वह नियम नहीं कि चार ही निक्षेप कहे जायें। जिसका जिससे प्रयोजन है, लेकिन वह सब है केवल एक लौकिक लोकव्यवहार। यह वस्तुस्वरूप के परिचय वाले व्यवहार की बात कही जा रही है। यहाँ ये चार निक्षेप क्रम से आते हैं। यों निक्षेप के द्वारा वस्तु का परिचय होता है।

सत् और संख्या से वस्तु-परिचय—अब वस्तु के परिचय के लिए अन्य अनुयोगों का विचार करते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में प्रथम अध्याय में दो सूत्र आये हैं।

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च।

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानत:।

जिनका अर्थ यह है कि सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्प और बहुत्व से वस्तु का परिचय होता है। जैसे किसी तत्त्व की जानकारी करना है तो उस तत्त्व का पहिले अस्तित्व जानना होगा। क्या उसका स्वरूप है, असाधारण धर्म है, उस असाधारण धर्म में उसका सत्त्व परखा जाता है। जैसे मानो एक सम्यक्त्व का बोध करना है तो सम्यक्त्व तो भाव है वह अलग से सत् पदार्थ नहीं है, किन्तु सम्यक्त्वपर्याय में तन्मय जो जीव है वही इस प्रसंग का सत् है। अर्थात् सम्यक्त्व में जो विशेषतायें हैं, जो उसका स्वरूप है, उस स्वरूप का वर्णन करने से सम्यक्त्व के प्रसंग के सत् का बोध होता है। जहाँ यथार्थ वस्तु का श्रद्धान है, आत्मा के सहज स्वरूप का श्रद्धान है वह सम्यक्त्व कहलाता है। तो सम्यक्त्व कहो या सम्यग्दृष्टि कहो, दोनों में कोई भेद नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्व के बारे में जो कुछ वर्णन होगा या जो जानकारी बनेगी, वह कभी सम्यक्त्व के स्वरूप से, कभी सम्यक्त्व के स्वामी की विशेषता से दृष्टि बनेगी, इस कारण

इस परिचय के प्रसंग में गुण गुणी में भेद हो जाता है। तब सम्यक्त्व क्या हुआ? मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत अंतस्तत्त्व का श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। अब उसकी संख्या कितनी है? किसी भी पदार्थ का अस्तित्व जानने के बाद वह पदार्थ कितने प्रकारों में पाया जाता है, जब यों संख्या का निर्णय होता है अथवा उसकी वास्तविक संख्या का निर्णय होता है तो उसका परिचय स्पष्ट होता है। सम्यग्दर्शन तीन प्रकार के हैं- उपशम सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व। सम्यग्दृष्टि की संख्या कितनी है? यह संख्या गिनती में न आयगी, फिर भी संसार में सम्यग्दृष्टि उपशम सम्यक्त्व के स्वामी कम है, उससे अधिक क्षायिक सम्यक्त्व के स्वामी हैं, उससे अधिक क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि हैं। और वैसे संख्या इनकी अनगिनत है।

क्षेत्र और स्पर्शन से वस्तुपरिचय—जब समझ लिया कि सम्यक्त्व यह है और उनके अधिकारी जीवों की संख्या यह है तब यह जिज्ञासा होने लगती है कि उस सम्यक्त्व का क्षेत्र कितना है, याने सम्यग्दृष्टि जीव कितने क्षेत्र में पाये जाते हैं? सो व्यापक दृष्टि से तो यह उत्तर है कि समस्त लोकाकाश में पाये जाते हैं, लेकिन त्रस नाली से बाहर त्रस जीव नहीं रहतें तो वहाँ स्थावर मात्र रहते हैं और उनके सम्यक्त्व होता नहीं। यों केवल त्रस नाली में पाये जाते हैं। लेकिन किसी सम्यग्दृष्टि के कोई समुद्घात हो, उसके शासन में वह सारे लोक में भी प्राप्त होते हैं, इस दृष्टि से सम्यग्दर्शन की दृष्टि से सर्वलोक में हैं। क्षेत्र उनका अलग है। त्रस नाली के अन्दर ही पाये जाते हैं। फिर उनको सम्यग्दर्शनों के स्वामी का विवरण जानने से परिचय विशेष होता है। उपशम सम्यक्त्व के स्वामी कैसे जीव होते हैं- पहली बात, जब सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तो उसके लिए बताया है कि वह गर्भज हो, ज्ञानोपयोगी हो, उसको सम्यक्त्व होता है। वैसे सम्मूर्छन जन्म वालों को सम्यक्त्व हो जाता है, लेकिन वह क्षयोपशम सम्यक्त्व जैसा ही प्रकार हुआ करता है। तो सम्यग्दर्शन में उपशम सम्यक्त्व के स्वामी चारों गति में हैं। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के स्वामी चारों गतियों में हैं, पर क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति केवल मनुष्यभव में होती है। जब हम स्वामी का वर्णन समझते हैं तो क्षेत्र स्पर्शन का ज्ञान बड़ी सुगमता से होता है। भूत, भविष्य और वर्तमान में सम्यग्दृष्टि जीव समुद्घात आदिक किन्हीं भी परिस्थितियों में जहाँ तक फैल सकते हैं वह सब उनका स्पर्शन कहलाता है। यह वस्तु के विशेष परिचय में काम आता है।

काल और अन्तर से वस्तु का परिचय—सम्यग्दर्शन का काल कितना है? तो उपशम सम्यक्त्व का काल तो अन्तर्मुहूर्त है, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का काल अधिक से अधिक 66 सागर है। संसार में रहते हुए क्षायिक सम्यक्त्व कुछ अधिक ३३ सागर और यह क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होने के बाद अनन्त काल तक रहता है। सम्यग्दर्शन का परिचय अन्तर से भी जाना जाता है। किसी जीव को सम्यक्त्व हुआ और फिर मिट गया, बाद में फिर सम्यक्त्व हुआ तो ऐसा बीच का अन्नतरकाल कितना हो सकता है? उस अन्तर के समझने से भी सम्यक्त्व के बारे में काफी परिचय मिल जाता है। जैसे उपशमसम्यक्त्व एक बार उत्पन्न होने के बाद, प्रथमोपशम

सम्यक्त्व उत्पन्न होने के बाद दुबारा प्रथमोपशम सम्यक्त्व हुआ, इसमें अन्तर पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण पड़ता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तो कुछ कम अर्द्धपुद्गल परिवर्तन हो सकता है। ऐसे ही उपशम सम्यक्त्व भी उत्कृष्ट अन्नतर अर्द्धपुद्गल परिवर्तन हो सकता है। क्षायिक सम्यक्त्व में अन्तर नहीं हुआ करता, क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व होने के बाद फिर कभी मिटता नहीं है। तो यों अन्तर जानने से भी सम्यग्दर्शन का परिचय प्राप्त होता है।

भाव व अल्पबहुत्व से वस्तु का परिचय—अब इनके भाव को अगर देखें तो उपशम सम्यक्त्व में औपशमिक भाव है, क्योंकि यह सम्यक्त्व सम्यक्त्वघातक 7 प्रकृतियों के दबने से होता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व क्षायोपशमिक भाव है, जिसका उदय भी हो, उपशम भी हो, उदयाभावी क्षय भी हो वहाँ। क्षायिक सम्यक्त्व को क्षायिक भाव कहते हैं क्योंकि यह 7 प्रकृतियों के क्षय से होता है। अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति इन 7 प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है, अतएव यह क्षायिक भाव है। तो भावों के द्वार से भी हम सम्यक्त्व का परिचय कर लेते हैं। अब परिचय का इस प्रसंग में एक उपाय और है- अल्पबहुत्व। उपशम सम्यग्दृष्टि जीव थोड़े हैं। यद्यपि ये बहुत होते हैं लेकिन इनका संचय नहीं हो पाता, क्योंकि काल इनका थोड़ा है। तो संचय अधिक समय तक न हो सकने से ये जीव कम हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव हैं। तो ऐसे इस उपाय से भी किसी तत्त्व का परिचय प्राप्त होता है।

निर्देश, स्वामित्व व साधन अनुयोग से वस्तुपरिचय—अब दूसरे सूत्र में जो अनुयोग बताये हैं उनकी अपेक्षा से परिचय सुनो। निर्देश- किसी भी तत्त्व को जानने के लिए उसका नाम रखना और उसका स्वरूप समझना यह प्रथम आवश्यक है। जैसे किसी भी तत्त्व का नाम भी न जानें, जिसका लक्षण स्वरूप भी न जानें, जिस पर हम दृष्टि बना सकें कि जिसका वर्णन करना है तो हम परिचय ही क्या पायेंगे? इस कारण निर्देश प्रथम आवश्यक है। जैसे सम्यक्त्व के बारे में निर्देश किया-सम्यग्दर्शन। अब इसका परिचय पाने के लिए कुछ और भी तरीके हैं- जैसे स्वामी का जानना। उपशम सम्यक्त्व के स्वामी चारों गति के जीव है। लेकिन उसमें जो द्वितीयोपशम सम्यक्त्व होता है, उसके स्वामी केवल मनुष्य हैं। यद्यपि द्वितीयोपशम सम्यक्त्व पैदा होने के बाद वही मनुष्य अंतिम समय मरकर देव गति में जाय और उस उपशम का काल शेष हो तो देवों की अपर्याप्त अवस्था में भी सम्यक्त्व मिल गया, मगर बहुलता से द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के अधिकारी केवल मनुष्य ही होते हैं। क्षायिक सम्यक्त्व के स्वामी तो जितने भी अनन्त सिद्ध भगवन्त हैं, वे सब क्षायिक सम्यग्दृष्टि हैं और संसार में भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि पाये जाते हैं, इसलिए सबसे अधिक संख्या क्षायिक सम्यग्दृष्टियों की है। अब सम्यग्दर्शन उत्पन्न कैसे होता है, इसके साधन का परिज्ञान करें, उससे भी विशिष्ट परिचय होता है। सम्यक्त्व के साधन है मुख्य

तो अन्तरंग में, बाह्य साधन है सम्यक्त्वघातक प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम होना, और बाह्य आश्रय है- किसी को तीव्र वेदना हो, उससे भी सम्यक्त्व जग जाय, किसी को प्रभु मूर्ति के दर्शन से, किसी को जाति स्मरण से, किसी को उपदेश से, यों अनेक निमित्त पाकर जीव को सम्यक्त्व होता है, मगर ये सब बाह्य बातें विषय में आ जाती हैं। उपादान दृष्टि में जो आत्मा की सम्यग्दर्शन की ओर तैयारी होती है, बोध होता है वह उनकी योग्यता उनका उपादान कारण कहलाता है। तो साधनों के परिज्ञान से भी वस्तु का विशिष्ट परिचय होता है।

अधिकरण, स्थिति व विधान के परिचय से वस्तु का परिज्ञान—अधिकरण के ज्ञान से भी वस्तु का परिचय होता है। इन सम्यग्दर्शनों के अधिकरण क्या है? किस क्षेत्र में, किस आधार में यह सम्यग्दर्शन होता है, उन आधारों का, शरीर का, उस क्षेत्र का वर्णन करने से भी सम्यग्दर्शन का परिचय होता है। सम्यग्दर्शन की स्थितियाँ क्या हैं? उपशम सम्यक्त्व की स्थिति अन्र्तमुहूर्त है, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति याने लगातार बना रहे उसे स्थिति कहते है। वह 66 सागर है। क्षायिक सम्यक्त्व की स्थिति संसार की अवस्था में कुछ अधिक ३३ सागर है और मुक्त जीव की अपेक्षा से इसकी कोई सीमा नहीं है। यह अनन्तकाल तक सदा रहेगा। तो यों स्थिति के परिज्ञान से भी वस्तु का परिचय होता है।

अब परिचय का एक अंतिम उपाय है प्रकार। पदार्थ कितने प्रकार के होते हैं? उन सब प्रकारों के परिज्ञान से विवक्षित वस्तु के परिचय की स्पष्टता हो जाती है। जैसे सम्यक्त्व के बारे में प्रकार। सम्यक्त्व होते हैं तीन प्रकार से- उपशम सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व। उपशम सम्यक्त्व दो प्रकार के होते हैं। प्रथमोपशम सम्यक्त्व और द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। पूर्व और उत्तर परिस्थितियों के परिज्ञान से भले प्रकार हो जाता है। तो विधानों से भी वस्तु का परिचय होता है। लोकव्यवहार में भी हम किसी भी चीज को जानें तो वहाँ भी इतने अनुयोग जानने से उसका विशिष्ट परिचय होता है। जैसे एक घड़ी एक विचार के लिए ली, तो घड़ी यह तो निर्देश हो गया और जो समय बताती है वह घड़ी है। और उस घड़ी का स्वामी कौन है? तो निश्चय से घड़ी का कोई मालिक नहीं है। जिन धातुवों से घड़ी बनी है वह धातु ही उसका मालिक है, जो धातु उस घड़ी से अलग न होगी, पर व्यवहार से उस घड़ी का मालिक कोई पुरूष है तो मालिक का ज्ञान होने से घड़ी के सम्बंध में कुछ परिचय विशेष हुआ ना, तो स्वामित्व अनुयोग के लाने से भी वस्तु का परिचय विशेष मिलता है। यह घड़ी किन साधनों से बनी, किस धातु से बनी और इसमें किन-किन धातुवों का समावेश है? उन साधनों के ज्ञान से भी घड़ी का ज्ञान होता है, तब ही तो उस आधार से वस्तु का मूल्य आँका जाता है। यह घड़ी कहाँ रहती है, किस जगह रखी रहती है, उन अधिकरणों के परिज्ञान से भी घड़ी के बारे में परिचय स्पष्ट रहता है। फिर घड़ी कितने दिन की टिकाऊ है, लोग उसकी ग्यारन्टी भी देते है कि यह घड़ी इतने वर्ष तक चलेगी। तो घड़ी कितनी टिकाऊ है, कब तक चलेगी, ऐसा बोध होने से उस घड़ी के

सम्बंध में स्पष्ट परिचय हो जाता है। अब प्रकार से भी घड़ी का बहुत ज्ञान होता है। कितनी तरह की घड़ी होती है- टेबल पर रखी जाने वाली, भींत पर चिपका देने वाली, कलाई पर बाँधने वाली, जेब में रखी जाने वाली आदि। और वह घड़ी कहाँ की बनी है? यों अनेक दृष्टियों से इसके अनेक प्रकार होते हैं। तो निर्देश स्वामी, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान आदि इनसे भी वस्तु का परिचय होता है। यहाँ प्रकरण यह चल रहा था कि हमें चाहिए आनन्द। तो उसका उपाय क्या है? आनन्द का उपाय समझना और जिसे आनन्द चाहिए उसका स्वरूप समझ लेना। तो स्वरूप समझने के लिए यह उपाय बताया गया है- नय, प्रमाण, लक्षण, निक्षेप और ये अनेक स्फुट अनुयोग द्वार। इन सबके प्रयोग से हमें वस्तु का आत्मा का परिचय पा लेना चाहिए।

।।अध्यात्मसहस्री प्रवचन प्रथम भाग समाप्त:।।